बिहारी

मपादक
डॉ० ओम्प्रकाश
रीडर
दिल्ली विश्वविद्यालय

राधाकृष्ण प्रकाशन

मूल्य
६ रुपये ५० पैसे
पक्की जिल्द ८ रुपये ५० पैसे

प्रकाशक
ओम्प्रकाश
राधाकृष्ण प्रकाशन
२, अन्सारी रोड, दरियागंज, दिल्ली-६

मुद्रक
श्यामकुमार गर्ग
राष्ट्रभाषा प्रिंटर्स
शिवाश्रम, क्वींस रोड, दिल्ली-६

राधाकृष्ण मूल्याकन माला

क्रम

विहारी का जीवन-वृत्त	जगन्नाथदास रत्नाकर	९
विहारी-सतसई	विश्वम्भर मानव	१६
सतसई का परिचय	हरदयालुसिंह	२३
विहारी की भाषा	विश्वनाथप्रसाद मिश्र	३०
विहारी की निपुणता	रामसागर त्रिपाठी	४०
विहारी की शास्त्रीय दृष्टि	विजयेन्द्र स्नातक	४९
विहारी की भक्ति भावना	हरवशलाल शर्मा	५७
मुक्तक दोहा	वच्चनसिंह	६७
सतसई की परम्परा	रणधीर सिन्हा	७५
सतसई मे प्रेम-वर्णन	रामरत्न भटनागर	८४
सतसई मे नीति-वर्णन	भगवतस्वरूप मिश्र	९१
सतसई मे प्रकृति-चित्रण	किरणकुमारी गुप्ता	१०३
तिरुवल्लुवर और विहारीलाल विरह वर्णन की तुलना	सु० शकर राजू नायडू	११२
राधा-नागरी की कलावती शिष्याएँ	ओम्प्रकाश	१२१
चित्र क्यो न वन सका	पद्मसिंह शर्मा	१३३
विहारी सतसई के अध्ययन की नवीन दिशाएँ	भगीरथ मिश्र	१३९
विहारी सतसई की टीकाएँ	रमेश मिश्र	१४५
रीति काव्य मे रस रीति	गणपतिचन्द्र गुप्त	१५८
रीति काव्य मे श्रृगारिकता	नगेन्द्र	१६७
रीति काल मे कला की स्थिति	सावित्री सिन्हा	१७४
कतिपय सन्दर्भ ग्रन्थ		१८४
इस सकलन के लेखक		१८६

विहारी-काव्य के प्रथम सहपाठी

गौतना ग्रामवासी

श्री हरि नारायण वार्ष्णेय

को

सस्नेह

सम्पादकीय

विहारीलाल व्रजभाषा के प्रमुख कवियो मे से है और शृगारी कवियो मे उनका स्थान अन्यतम है। सामती कला की जितनी पच्चीकारी विहारी मे है उतनी अन्यत्र दुर्लभ है। केवल एक पुस्तक, और वह भी सात सौ दोहे की, लिखकर जितना यश तथा अर्थ विहारी ने प्राप्त किया उतना किसी अन्य कवि ने नही। अनुकरण, परम्परा, टीका तथा समीक्षा की दृष्टि से भी विहारीलाल औरो की अपेक्षा अधिक भाग्यशाली रहे है। सूर-तुलमी के पश्चात् साहित्यिको की दृष्टि पाण्डित्य के लिए केशवदास और रसिकता के लिए विहारीलाल पर ही टिकती थी।

एक ऐसा युग था जव विहारी आधुनिको की समीक्षा के भी केन्द्र थे। मिश्र-वन्धुओ से प्रारम्भ होकर भगवानदीन, कृष्णविहारी मिश्र, पद्मसिंह शर्मा और जगन्नाथ दास रत्नाकर तक की परम्परा विहारी-सतसई के माध्यम से व्रजभाषा-काव्य के मन्थन मे अनवरत रत रही। सतसई का प्रामाणिक सस्करण भी सभव हो सका और उसकी टीका-समीक्षा भी। आलोचना के शुक्ल-युग मे विहारी की कुछ उपेक्षा रही, उनके स्थान पर जायसी आ गये, स्वय शुक्ल जी ने विशेष प्रसगो मे विहारी से तुलना करते हुए जायसी की ओर पाठक का ध्यान आकृष्ट किया है।

तदनन्तर विहारी के सौन्दर्योद्घाटन मे एक प्रकार की अगति-सी दिखलाई देती है। शुक्लोत्तर आलोचको मे प० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र का नाम ही इस प्रसग मे उल्लेखनीय है। कतिपय अच्छे शोध-प्रवन्ध लिखे गये है, स्वान्त सुखाय समीक्षा नही। प्रस्तुत सकलन का कार्य प्रारम्भ करते हुए यह अभाव मुझको सवसे अधिक कचोटता रहा है। सभवत विहारी की उपेक्षा व्रजभाषा-काव्य की सामान्य उपेक्षा का विकासवादी अग-मात्र हो।

हिन्दी-भाषी-प्रदेशो से वाहर इस क्षेत्र मे जो कुछ भी हुआ है वह सकेतयोग्य है। कलकत्ता-निवासी प्रसिद्ध विद्वान् श्री कालीप्रसाद खेतान, वार-एट-लॉ, ने विहारी-सतसई का एक नवीन उद्देश्य से अध्ययन किया है, सहमत न होते हुए भी, जिसके महत्त्व को मै

स्वीकार करता हूँ । मद्रास निवासी बन्धु डॉ० सु० शकरराजू नायडू ने तमिल-वेद 'तिरुक्कुरल' के रचयिता कवि तिरुवल्लुवर के कामखण्ड (इन्वम) की तुलना बिहारी के समानान्तर प्रसगो से की है, जिसका कुछ अश प्रस्तुत सकलन मे भी समाविष्ट है। हिन्दी के प्रत्येक कवि के ऐसे अध्ययनो की आज महती आवश्यकता है ।

प्रस्तुत सकलन मे मेरा प्रयत्न यह रहा है कि केवल उन समीक्षाओ को सकलित किया जाय जो एक बार प्रकाशित होकर पाठक के सामने आ चुकी है और उनके दृष्टि-कोण से पाठक परिचित हो चुका है। 'नीति-वर्णन' 'प्रकृति-चित्रण' तथा 'टीकाएँ' विषयक निबन्ध इसका अपवाद है, परन्तु इनके लेखक इन विषयो से काफी सम्बद्ध रहे हैं। प्रकाशित रचना से एक बात और स्वय सिद्ध हो जाती है कि लेखक इस विषय का विशेषज्ञ है। एक आलोचक का केवल एक लेख ही यहाँ लिया गया है, जिससे पाठक वैचित्र्य से, सक्षेप मे ही, परिचित हो सके। सकलन को युग, कवि तथा रचना तीनो को दृष्टि मे रखकर पूर्ण बनाने का प्रयत्न किया गया है। सकलन को वैज्ञानिक बनाने के लिए अन्त मे सन्दर्भ-ग्रथ-सूची तथा लेखक-सूची को भी जोड दिया गया है। आशा है इस सकलन से पाठक के दृष्टिकोण को एक सतुलित मार्ग प्राप्त हो सकेगा और सामान्यत ब्रजभापा-काव्य एव विशेषत बिहारी के ध्वनिजीवी काव्य के प्रति उनके अनुराग मे स्थिरता आ सकेगी। मैं उन सभी विद्वानो का आभारी हूँ जिनके समीक्षात्मक लेखो का मैंने इस सकलन मे यथावश्यकता उपयोग किया है।

ओम्प्रकाश

तुलसी-जयन्ती
स० २०२४ वि०

बिहारी का जीवन-वृत्त

जगन्नाथदास रत्नाकर

बिहारी का जन्म सवत् १६५२ मे ग्वालियर मे हुआ था। उनके एक भाई तथा एक वहिन और भी थे। अनुमान यह होता है कि भाई उनसे बडे थे, और वहिन छोटी। उनकी वहिन के जन्म लेने के थोडे ही दिनो पश्चात् उनकी माँ का देहान्त हो गया, जिससे उदासीन हो उनके पिता ग्वालियर छोडकर सवत् १६५९-६० मे ओडछे चले आए। वहाँ उस समय रामशाह राजा थे। उन्होने राजकाज का सब भार अपने छोटे भाई इद्रजीत को दे रखा था। यह इद्रजीत साहित्य तथा सगीत-विद्या के बडे जानकार, प्रेमी तथा आश्रय-दाता थे। सुप्रसिद्ध कवि केशवदास तथा प्रवीणराय पातुरी, जो कि नृत्य, गान तथा साहित्य मे वडी निपुण थी, इन्ही की सभा को सुशोभित करते थे।

वहाँ से थोडी दूर पर सुप्रसिद्ध महात्मा श्री नरहरिदासजी रहते थे। वे श्री स्वामी हरिदासजी के सप्रदाय के वैष्णव थे।

सवत् १६६५ मे, श्री स्वामी हरिदासजी की निधिवन की गद्दी के महत, श्री सरसदेवजी ने वुदेलखड पधारकर श्री नरहरिदासजी को विधिवत् अपना शिष्य बनाया। उसके पश्चात् विहारी के पिता अपनी सतान-सहित श्री नरहरिदासजी के शिष्य हो गए। उस समय बिहारी की अवस्था बारह-तेरह वर्ष की थी। बिहारीदास नाम श्री नरहरिदास ही का रखा हुआ प्रतीत होता है, क्योकि उनके सप्रदाय के सेव्य ठाकुर का नाम 'बिहारीजी' है, और उक्त सप्रदाय के शिष्यो का नाम प्राय दासात होता है।

श्री नरहरिदासजी के पास इद्रजीत तथा केशवदासजी भी कभी-कभी आते-जाते रहते थे। किसी दिन उन्होने केशवदासजी को बिहारी का परिचय देकर कहा कि यह लडका वडा होनहार है, यदि आप इसको अपने पास रखकर कुछ पढाने की कृपा कर दे तो वडा उपकार हो, और यह कदाचित् वडा कवि हो जाए। केशवदासजी ने भी बिहारी की बुद्धि अच्छी देखकर इस वात को सहर्ष स्वीकृत कर लिया और उनको जी खोलकर पढाने लगे। अपने रसिकप्रियादि ग्रथो के अतिरिक्त उन्होने तीन-चार वर्षो मे विहारी

को भापा, सस्कृत तथा प्राकृत के अनेक काव्य-साहित्य तथा अन्यान्य उपयोगी ग्रन्थ पढा तथा गुना दिए, जिनका प्रभाव बिहारी के अनेक दोहो पर पडा है।

केशवदासजी के साथ बिहारी इद्रजीत की सभा मे भी आया-जाया करते थे, जिससे उनको प्रवीणराय पातुरी का नाच देखने का सयोग कभी-कभी मिल जाता था। उसकी नृत्य-निपुणता का प्रभाव बिहारी के सौन्दर्यग्राही हृदय पर स्थिर रूप से अकित हो गया था, जो सतसई के निम्नलिखित दोहे मे स्पष्ट झलकता है—

सब-अग करि राखी सुघर नाइक नेह सिखाइ।
रसजुत लेति अनत गति पुतरी पातुरराइ ॥ २८४॥

बिहारी को केशवदासजी से पढने का अवसर थोडे ही दिनो तक मिला। सवत् १६६४ के पूर्व ही इद्रजीत का रग-अखाडा सर्वथा भग और अस्तव्यस्त हो गया, और केशवदास को छोडकर उसके सब लोग नष्ट-भ्रष्ट हो गए। पश्चात् बिहारी के पिता ने ओडछे मे रहना व्यर्थ तथा अनुचित समझा, क्योकि एक तो वहाँ के रहने के निमित्त अब कोई विशेष कारण अथवा वृत्ति न रह गई थी, और दूसरे कदाचित् उस प्रात मे अनेक विप्लव भी हो रहे थे।

सवत् १६७० के आस-पास, नरहरिदासजी से आज्ञा लेकर, केशवदेवजी ने बिहारी इत्यादि के साथ ब्रज की ओर प्रस्थान किया। वृन्दावन मे उस समय श्री नरहरिदासजी के दीक्षागुरु श्री सरसदेवजी निधिवन की गद्दी पर थे। श्री सरसदेवजी के एक और शिष्य श्री नागरीदासजी थे। वे टट्टियो की कुटिया बनाकर कुछ और वैष्णवो के साथ यमुनाजी के तट पर रहते थे। केशवदेवजी ने कदाचित् उन्ही के स्थान मे डेरा किया। उस स्थान मे रहकर भी बिहारी ने कुछ दिनो श्रमपूर्वक विद्याध्ययन तथा काव्याभ्यास किया और सगीतविद्या मे भी निपुणता प्राप्त की। विवाह होने के पश्चात् बिहारी अपनी ससुराल मे रहने लगे, और उनके पिता वृन्दावन ही मे रहे। पर पठन-पाठन के निमित्त बिहारी भी प्राय वृन्दावन आया-जाया तथा रहा करते थे। श्री नरहरिदासजी ने बिहारी की प्रशसा शाहजहाँ से की और उनका गाना तथा काव्य भी उसको सुनवाया। बिहारी ने शाहजहाँ की प्रशसा की और कुछ कविता पढी। शाहजहाँ ने प्रसन्न होकर उनको आगरा आने की आज्ञा दी, और फिर बिहारी आगरा आकर रहने लगे। आगरा मे रहकर बिहारी ने कुछ फारसी (उर्दू) भी पढी और उस भापा की कविता का भी कुछ अभ्यास कर लिया।

सतसई के अतिरिक्त और कोई कविता बिहारी की प्राप्त नही होती। यदि बीस वर्प की अवस्था से उनका कविता करना माना जाय तो, सतसई आरम्भ करने के पूर्व १८-२० वर्प तक बिहारी ने क्या कविता की, इसका कुछ पता नही चलता। यदि इस अतराल की उनकी कविता हाथ आती, तो आशा थी कि, उससे उस समय का उनका कुछ जीवन-वृतात विदित होता। अनुमान होता है कि यद्यपि बिहारी मे काव्य-प्रतिभा तथा स्वाभाविक कवि के अन्यान्य गुण तो पूर्णतया विद्यमान थे तथापि उनकी रुचि कविता बनाने की अपेक्षा सुन्दर-सुन्दर प्राचीन काव्यो के आस्वादन तथा विद्योपार्जन मे अधिक थी।

बिहारी का सस्कृत-व्याकरण से पूर्णतया अभिज्ञ होना तथा व्याकरण के

अनुसरण करने का लडकपन ही से स्वभाव पड जाना, उनका अपनी भाषा के निमित्त एक परम सुश्रृखल, प्रयोगसाम्य-सपन्न तथा व्याकरण-नियमवद्ध ढाचा वनाकर तदनुसार कविता करने मे सफलीभूत होने से लक्षित होता है, और अनेकानेक प्रकार के छोटे-वडे समासो को वहुत सफलतापूर्वक प्रयुक्त करने से भी सिद्ध होता है । उनके उक्त ढाचे का 'वाक्य-सौष्ठव' स्पष्ट है, और उनके समासो का प्रयोगौचित्य उनके दस-वीस दोहो के पढने से ज्ञात हो सकता है, क्योकि सतसई के अधिकाश दोहो मे समासो का प्रयोग वडी सुन्दरता से हुआ है । समास-सौष्ठव के निमित्त १०४, १२७, १५२, १५३, १७३, १७५, ४०३ और ५२७ अको के दोहे विशेषत द्रष्टव्य है ।

विहारी को सस्कृत-कोष का गभीर ज्ञान होना उनके अनेक सस्कृत शब्दो को ऐसे रूपो तथा अर्थो मे प्रयुक्त करने से प्रतीत होता है, जिनमे भाषा के सामान्य कवियो ने उनको प्रयुक्त नही किया है, जैसे—

मन (१८,१५०), वारी (१६), वेसरि (२०), करवर (कर्वर, ५०), सुधा-दीधिति (६२), अनूप (१०२), सक्रोनु (सक्रमण, २७४), आधु (अर्घ्य, ३१६,३७६), कर्पूरमनि (कर्पूरमणि, ३६२), वृषादिन (वृषादित्य, ३६७), वास (४६४), नदित (४६६), वारद (वार्द, ४७५), कुसुम (५१२), आभार (५५१), परिपारि (परिपालि ६१६), पर (६४८) इत्यादि ।

इन शब्दो मे कितने शब्द तो ऐसे हे, जिनका प्रयोग सस्कृत के भी किसी ही कवि ने इन अर्थो मे किया है, जैसे—मन (मनस्, १८), वारद (वार्द, ४७५), परिपारि (परिपालि, ६१६) ।

सस्कृत के अच्छे-अच्छे काव्यो मे विहारी का पूर्ण प्रवेश होना, उनके अनेक सस्कृत ग्रथो के कठिन श्लोको को दोहे मे वहुत सफलतापूर्वक उद्धृत करने से प्रमाणित होता है । इन दोहो मे केवल विहारी का सस्कृत-पाडित्य ही नही, प्रत्युत उनकी काव्य-प्रतिभा का वैलक्षण्य तथा उत्कर्ष भी, लक्षित होता है । जिन भावो को उन्होने लिया हैं, उनको वैसा ही नही रहने दिया है, प्रत्युत उनमे कुछ न कुछ विशेष रग-ढग तथा काव्य-चमत्कार से नया प्राण फूंक दिया है ।

सस्कृत कोष तथा साहित्य के अतिरिक्त, विहारी के कितने ही दोहो से उनका ज्योतिष तथा वैद्यक शास्त्रो मे भी प्रवेश प्रतीत होता है । ज्योतिष के सम्वन्ध मे उनके ४२, १०५, ६६०, ७०७ अको के दोहे द्रष्टव्य है, और वैद्यक के सम्वन्ध मे १२०, ४७६ अको के दोहे ।

सस्कृत के यथेष्ट विषयो के पडित होने के अतिरिक्त, विहारी के कितने ही दोहो से प्रतीत होता है कि, वे प्राकृत तथा अपभ्रश के व्याकरणो तथा काव्यो के भी अच्छे ज्ञाता थे । उक्त भाषाओ के व्याकरणो का ज्ञान, गैन (गगन, गअन, गयन, गैन), केम (कदव, कदम, कअम, कयम, कइम, केम), नै (नदी, नई, नइ, नै), निय (निय, निज, निय) इत्यादि शब्दो के प्रयोग मे लक्षित होता है, क्योकि ये रूप साहित्यिक व्रजभाषा मे सामान्यत देखने मे नही आते, पर प्राकृत तथा अपभ्रश के व्याकरणो से सिद्ध होते है तथा ये अथवा इनके कई पूर्व रूप उक्त भाषाओ मे वरते भी जाते है । विहारी का प्राकृत

काव्यो का ज्ञान, उनके 'गाथासप्तशती' की कितनी ही गाथाओ के भावो को, अपनी प्रतिभा का विशेष चमत्कार देकर, दोहो मे निबद्ध करने से सिद्ध होता है।

बिहारी ने ७०० दोहे बनाकर अपने ग्रथ का नाम सतसई रखा, उससे भी उनका गाथा तथा आर्या-सप्तशतियो का पढना, तथा उन्ही की जोड पर अपनी सतसई बनाना, अनुमानित होता है।

यह अनुमान होता है कि उनको कविता करने की अपेक्षा विद्योपार्जन का व्यसन अधिक था, कविता वे आवश्यकतानुसार कभी-कभी किया करते थे। पर तो भी, सतसई के अतिरिक्त उनकी और स्फुट कविताओ अथवा किसी ग्रथ का प्राप्त न होना आश्चर्य-जनक अवश्य है। यदि और कुछ नही तो, समय-समय पर उन्होने शाहजहाँ तथा आगरा के सरदारो इत्यादि के सुनाने को कुछ कविताएँ अवश्य ही बनाई होगी।

यदि उन स्फुट कविताओ का भी कोई सग्रह होता, तो आशा है कि न्यून-से-न्यून सतसई के बराबर का उनका एक ग्रथ और भी होता। पर, 'बिहारी-रत्नाकर' मे स्वीकृत दोहो तथा कतिपय अन्य दोहो के अतिरिक्त, जो सतसई क भिन्न-भिन्न क्रमो तथा टीकाओ मे बिहारी के नाम से दृष्टिगोचर होते है, उनकी और कोई रचना प्राप्त नही होती। अत यह अनुमान युक्तियुक्त जान पडता है कि वे समय-समय पर कुछ स्फुट कविता तो अवश्य करते रहे, पर उनके हृदय मे एक सुशृखल तथा प्रयोगसाम्य साहित्यिक ब्रजभाषा का ढाचा स्थिर करने की उत्कठा बनी रहती थी। यह कार्य बडा कठिन तथा समयसाध्य था, जिसको वे, अपने सतोष के योग्य, कदाचित् अपने आमेर जाकर टिकने के कुछ ही पूर्व, कर पाए। उक्त कार्य मे इतना समय लग जाना कोई आश्चर्य नही था। श्री पाणिनिजी ऐसे महर्षि के भी जीवन का बडा भाग ऐसे ही कार्य मे लग गया था, यद्यपि उनकी सहायता के निमित्त उनके पूर्व के अनेक सस्कृत-व्याकरण उपस्थित थे। बिहारी के लिए तो, जहाँ तक ज्ञात होता है, कोई ऐसा सहायक साधक भी नही था। वे भाषा का यथेष्ट ढाँचा बनाने मे कहाँ तक कृतकार्य हुए, इसका अनुमान पाठकगण, जो कुछ उनके दोहो की भाषा के विषय मे लिखा गया है, उससे कर सकते है। ज्ञात होता है कि जब उनके हृदय मे उक्त ढाँचा बनकर तैयार हो गया, तो अपनी पूर्व रचनाओ की भाषा को उन्होने उससे न्यूनाधिक विचलित पाकर, उनको दबा रखा, और विख्यात न होने दिया। कारण जो हो, इस समय तक सतसई के अतिरिक्त बिहारी का और कोई ग्रन्थ उपलब्ध नही हुआ है। हा, एक 'दूहा सग्रह' नामक १५-१६ सौ दोहो के ग्रन्थ का जोधपुर मे होना सुना जाता है, और यह भी ज्ञात हुआ है कि उसमे से कुछ दोहे बिहारी की सतसई के है। इससे यह अनुमान हो सकता है कि आश्चर्य नही, जो उक्त ग्रन्थ सर्वथा बिहारी ही के दोहो का सग्रह हो, क्योकि देवकीनदन टीका मे भी बिहारी की सतसई का १४०० दोहा होना माना गया है। हमको स्वय उक्त ग्रन्थ देखने का सौभाग्य नही हो सका।

सवत् १६७७-७८ से सवत् १६९१ तक बिहारी मथुरा, वृन्दावन तथा आगरा मे यथारुचि और यथावसर, रहकर अपनी विद्या की उन्नति करते रहे। इस अवसर मे वे प्रतिवर्ष उन राजाओ मे से, जिन्होने उनका वर्षाशन नियत कर दिया था, उन-उन के यहाँ जाकर धनोपार्जन कर लाया करते थे। जोधपुर तथा बूँदी इत्यादि मे जो उनका

जाना सुना जाता है, वह भी सगत प्रतीत होता है ।

सवत् १६६१ के अन्त, अथवा सवत् १६६२ के आरम्भ मे, बिहारी अपनी वर्षाशन लेने आमेर गए। उस समय वहाँ के महाराज जयसिह कोई नवीन रानी ब्याह लाए थे, और उसके सौन्दर्य तथा वय सधि की छटा पर ऐसे मुग्ध हो रहे थे कि रात-दिन उसी के महल मे पडे रहते थे, और राजकाज सर्वथा भूल गए थे। उनके मत्री, कर्मचारी तथा सभासद बहुत चितित थे, पर कर कुछ नही सकते थे। उनके वहाँ पहुँचने पर, मुख्य मत्री जी ने सब वृत्तात सुनाने के पश्चात् कहा—यदि आप महाराज को कोई चेतावनी देने का साहस करे तो बडा काम हो, क्योकि राजकाज मे बडी हानि पहुँच रही है। महाराज के बाहर निकलने से चौहानी रानीजी भी आपसे बहुत प्रसन्न होगी।

बिहारीजी कवि तो थे ही, जिन बातो पर उन लोगो ने महीनो मे विचार किया था, वे उनके हृदय मे क्षणमात्र मे घूम गई। बिहारी ने—

नहिं परागु, नहिं मधुर मधु, नहिं बिकासु इहिं काल।
अली कली ही सौं बध्यौ, आगैं कौन हवाल ॥ ३८ ॥

यह दोहा लिखकर एक वर्षवर (खाजेसरा) को दिया, और उसने उसको ड्योढी पर ले जाकर किसी परिचारिका के हाथ राजा के पास पहुँचवा दिया।

इधर तो ये लोग दोहा भेजकर बडी उत्सुकता से परिणाम की प्रतीक्षा करने लगे, उधर जब राजा के पास दोहा तथा बिहारी के आने का सवाद पहुँचा, तो दोहे के सरस अन्योक्तिगर्भित उपदेश की छीट से उसकी आँखे खुल गई। दोहे के 'आगैं कौन हवाल' पद के गूढार्थ का भी उस पर यथेष्ट प्रभाव पडा। बिहारी को बुलाकर, उनकी बडी प्रशसा कर और स्वर्ण मुद्राएँ दे, कहने लगा कि हम आपसे बहुत प्रसन्न हुए। यह भी कहा कि आपका दोहा बडा उत्तम है, आप ऐसे ही और दोहे बनाएँ, प्रति दोहा मै एक मोहर आपको भेट करूँगा।

जब राजा के बाहर निकल आने का समाचार चौहानी रानी ने सुना, तो वे बडी प्रसन्न हुईं और बिहारी को अपनी ड्योढी पर बुलवाकर बहुत कुछ पारितोषिक तथा काली पहाडी ग्राम प्रदान किया, और कहा कि, आप हमारी ड्योढी के कवि होकर आमेर मे निवास करे। उन्होने उक्त घटना-सम्बन्धी बिहारी का एक चित्र भी बनवाया, जो कि अभी तक जयपुर के एक महल मे विद्यमान है।

उक्त घटना के दो-तीन ही महीने पश्चात्, चौहानी रानी के गर्भ से महाराज जयसिंह के उत्तराधिकारी, कुमार रामसिंह, उत्पन्न हुए। उस अवसर पर अनेक कवियो ने महाराज जयसिह की प्रशसा मे कविताएँ की। बिहारी ने भी यह दोहा पढा—

चलत पाइ निगुनी गुनी धनु मनि-मुत्तिय-माल।
भेट होत जयसाहि सौं भागु चाहियतु भाल ॥ १५६ ॥

फिर उक्त अवसर के उपलक्ष्य मे, महीने-दो महीने के पश्चात्, कोई बडा दरबार 'दर्पण-मन्दिर' मे हुआ। उसमे बिहारी ने महाराज जयसिंह की शोभा का वर्णन इस दोहे मे किया—

प्रतिबिंबित जयसाहि-दुति-दीपति दरपन-धाम ।
सब जगु जीतन कौ कर्‌यौ काय-ब्यूहु मनु काम ।। १६७ ।।

इसी बीच मे ज्ञात होता है कि किसी 'लाखन' नामक व्यक्ति की सेना को जयसिंह ने मार भगाया था, जिस पर विहारी ने यह दोहा वनाया था—

रहति न रन, जयसाहि-मुखु लखि लाखनु की फौज ।
जाचि निराखरऊँ चलै लै लाखनु की मौज ।।८०।।

इसी प्रकार विहारी समय-समय पर दोहे बनाते, और पुरस्कृत होते रहे । समयानुकूल दोहो के अतिरिक्त, वे और भी पाँच-पाँच, सात-सात दोहे वनाकर दरवार मे ले जाने और मोहरे लाकर सुख से जीवन व्यतीत करने लगे । इस प्रकार विहारी का जीवन आठ-दस वर्ष तक वडे सुख से अन्य कवियो के सग-सग व्यतीत हुआ ।

विहारी कभी-कभी अपने प्राप्त ग्राम 'काली पहाडी' भी आया करते थे, क्योकि एक तो कुछ प्रबन्ध करना होता था, और दूसरे वह उनकी जन्मभूमि के सन्निकट था । इन्ही यात्राओ मे कदाचित् ग्राम-वधूटियॉ के भाव देखकर उन्होने समय-समय पर उनका वर्णन भी अपने दोहो मे कर दिया है, जैसे—६३, २४८, ७०८ इत्यादि अको के दोहो मे । यह भी प्रतीत होता है, कि ग्वालियर इत्यादि मे उनकी कविता का सम्मान अधिक नही होता था । यह बात उनकी कई एक अन्योक्तियो से लक्षित होती है ।[1]

विहारी का गाथासप्तशती तथा आर्यासप्तशती का ज्ञाता होना तो ऊपर कहा जा चुका है । कुछ दोहो के वनने के पश्चात् या तो उन्होने स्वय ही उक्त सतसइयो के जोड पर एक सतसई बनाना निश्चित किया, अथवा महाराज जयसिह के कहने से । जो कुछ हो, सतसई-निर्माण पर उनका लक्ष्य होना इस दोहे से विदित होता है—

हुकुम पाइ जयसाहि कौ हरिराधिका-प्रसाद ।
करी बिहारी सतसई भरी अनेक सवाद ।।७१३।।

सवत् १७०४ के जाडो मे, ज्ञात होता है कि, उन्होने अपनी सकल्पित सतसई पूरी कर दी । उसी साल महाराज जयसिह औरगजेब के साथ बलख की चढाई पर गए थे और वहाँ से वडी चतुरता तथा वीरता से बादशाही सेना को पठानो तथा बर्फ से बचा लाए थे, जैसा कि 'यों दल काढे० ७११' इस दोहे की टीका मे कहा गया है । उक्त कार्य के निमित्त उनको आगरा आने पर बडा सम्मान प्राप्त हुआ था। आमेर लौटने पर, उनके ऐसी कठिन चढाई पर से सकुशल लौट आने तथा बादशाही दरबार मे विशेष रूप से सम्मानित होने के उपलक्ष्य मे, वडा उत्सव मनाया गया और कोई दरबार भी किया गया । 'विहारी-सतसई' के 'हुकुम पाइ' दोहे को मिलाकर ७१० दोहे तैयार हो चुके थे, अत उन्होने उक्त घटना की प्रशसा के—

सामाँ सेन, सयान की सबै साहि कै साथ ।
बाहु-बली जयसाहि जू, फते तिहारैं हाथ ।।७१०।।
यौं दल काढे बलक तैं, तैं जयसिंह भुवाल ।
उदर अघासुर कै परैं ज्यो हरि गाइ, गुवाल ।।७११।।

---

१ देखिये विहारी रत्नाकर, दोहे अक ४१८, ६२४ ।

घर-घर तुरकिनि हिंदुनी देति असीस सराहि।
पतिनु राखि चादर, चुरी तैं राखी, जयसाहि ।।७१२।।

ये तीन दोहे वनाकर, और उनको 'हुकुम पाइ० ७१३' इत्यादि दोहे के पूर्व रखकर, कदाचित् उक्त दरवार ही मे अपनी सतसई, ग्रथरूप से महाराज की भेट कर दी।

इस घटना के कुछ पूर्व ही, विहारी की स्त्री का देहान्त हो गया था, जिससे उनका चित्त ससार से कुछ विरक्त-सा हो रहा था। एक तो वे आरम्भ ही से वृन्दावन के भक्त थे, और दूसरे उस समय की चित्त-वृत्ति ने उनका हृदय वृन्दावन की ओर और भी आकर्पित किया। अत वे महाराज से विदा होकर आमेर से चले आए।

किसी-किसी का यह भी कथन है कि विहारी आमेर से विदा होने पर जोधपुर, वूँदी इत्यादि राज्यो मे भी गए थे, और वहुत सभव है कि उन्होने वर्षाशन के उगाहने के निमित्त ऐसा किया हो। पर, जो हो, यह निश्चित प्रतीत होता है कि वे आमेर छोड कर, चाहे सीधे, चाहे और राज्यो मे घूमते-फिरते, अपने गुरु श्री नरहरिदास के पास वृन्दावन गए, और अपना शेप जीवन वही शातिपूर्वक भगवद्भजन मे व्यतीत करके, सवत् १७२१ मे परमधाम को सिधारे।

जिस प्रकार विहारी की सतसई के पूर्व की कोई रचना नही मिलती, उसी प्रकार उसके पश्चात् की भी कोई कृति देखने मे नही आती। ज्ञात होता है कि वृन्दावन निवास करने पर विहारी सर्वथा भगवद्भजन तथा महात्माओ के सत्सग मे लगे रहते थे। कविता का व्यसन उन्होने सर्वथा छोड दिया था। हमने स्वय वृन्दावन जाकर श्री मौनीदासजी की टट्टी इत्यादि स्थानो मे खोज की, पर उनकी कविता का कही कुछ पता नही मिला। इधर-उधर से कुछ वातें एकत्रित करके, उन पर अनुमान को अवलवित कर यह जीवनी सुश्रृंखल रूप मे लिखने का यत्न किया गया है। इसमे अनेक त्रुटियो तथा अशुद्धियो की सभावना है।

बिहारी-सतसई

विश्वम्भर मानव

पिछले एक हजार वर्ष की काव्य-निधि मे से यदि हम दस सर्वश्रेष्ठ ग्रथो को चुनना चाहे, तो उनमे 'बिहारी-सतसई' का नाम आएगा। ये ग्रथ है—'पृथ्वीराज रासो', 'पद्मावत', 'सूरसागर', 'रामचरितमानस', 'रामचन्द्रिका', 'बिहारी-सतसई, 'कामायनी', 'प्रिय-प्रवास', 'साकेत' और 'दीपशिखा'। इनमे से अधिकतर ग्रथ प्रबन्ध-काव्य है। जीवन की विविधता का गहराई और सूक्ष्मता के साथ चित्रण करने के कारण प्रबन्ध-काव्य के श्रेष्ठ ग्रथो मे परिगणित होने और उसके रचयिता को महाकवियो की श्रेणी मे आसन मिलने की, मुक्तककार से अधिक सम्भावनाएँ रहती है। फुटकर प्रसगो पर लिखने की अपेक्षा मुक्तककार भी उस समय अधिक सफल होते देखे गए है जब उनके सग्रह-ग्रथो के पीछे किसी प्रकार की एकसूत्रता, जो वास्तव मे प्रबन्ध का गुण है, विद्यमान हो। सूरसागर, दीपशिखा और बिहारी-सतसई मे यह एकसूत्रता भक्ति, रहस्य और प्रेम को लेकर है।

बिहारी ने मुगल-साम्राज्य के समृद्धि-काल मे अपनी काव्य-साधना की। ऐसा युग काव्य-श्री के निखार के लिए सदैव उपयुक्त होता है। उस समय प्रजा सुखी थी और शासको ने देश मे शान्ति स्थापित कर दी थी। वे कलानुरागी थे, इसी से अनेक रूपो मे उसका विकास हो रहा था। विद्रोह की भावना एक प्रकार से मिट चुकी थी। यह विद्रोह की भावना ऐसी है कि आँधी की भाँति उठती है, शान्त हो जाती है और फिर उठती है। उस आँधी के फिर उठने मे अभी देर थी। जैसा जयसिह द्वारा बलख से शाहजहाँ की सेना को बचाकर लाने के वर्णन से पता चलता है, आक्रमण के समय हिन्दू-मुसलमान कन्धे से कन्धा भिडाकर लडते थे। राजनीतिक बातो मे शासन थोडा हस्तक्षेप अवश्य करता रहा होगा, क्योकि एक स्थान पर बिहारी ने 'दुराज' शब्द का प्रयोग करते हुए उसके विषम परिणाम की चर्चा की है। धर्म की दृष्टि से यह युग साम्प्रदायिक कट्टरता का युग न था। कबीर के समय से ही कवि लोग इस प्रकार की कट्टरता का विरोध कर रहे थे और धर्म को वे बहुत उदार बनाने मे समर्थ हुए। बिहारी ने वैष्णव धर्म और

निर्गुण मत, दोनो का समर्थन समान भाव से किया है । धर्म के सम्बन्ध मे पूरी स्वतन्त्रता उस समय लोगो को थी । एक पुराण-वाचक के प्रसग मे हमारे कवि ने उसे व्यभिचारी दिखलाया है और मन्दिर भी प्रेमियो के मिलन-स्थल बतलाए है । इससे सिद्ध होता है कि धर्म मे थोडा ढोग उस समय भी बना हुआ था । पर सबसे अधिक मनोरजक है बिहारी द्वारा प्रस्तुत समाज का चित्र । हो सकता है कि जिस समाज का वर्णन बिहारी ने किया हो, वह बहुत ही सीमित हो । कुछ वर्णन तो निश्चित रूप से राधा-कृष्ण के काल का है । पर बिहारी के नायक-नायिका उनके अपने काल के भी हैं । मै कभी-कभी सोचता हूँ वह कैसा युग रहा होगा जब युवतियाँ काम के बाण से मर्माहत हो अभिसार करती थी, वन, खेत, कुजो, खण्डहरो मे अपने प्रेमियो से मिलती थी और इस निर्द्वन्द्व जीवन मे कोई अधिक हस्तक्षेप नही करता था ।

वैसे तो श्रेष्ठ-काव्य के सौन्दर्य को ग्रहण करने के लिए पाठक मे सदैव ही एक प्रकार की ग्राहिका-शक्ति चाहिए, पर 'बिहारी-सतसई' के वास्तविक महत्त्व को समझने के लिए तो बिना वैसी क्षमता के काम ही नही चल सकता । यह क्षमता काव्यशास्त्र के ज्ञान पर निर्भर करती है । बिहारी मे प्रतिभा तो थी ही, साथ ही इस प्रतिभा को अध्ययन के द्वारा उन्होने निखारा था और अपने इस अध्ययन का उपयोग उन्होने पूरी शक्ति के साथ किया था ।

'बिहारी-सतसई' की मूल प्रवृत्ति शृगारी है । सतसई की रचना की प्रेरणा के सम्बन्ध मे जो यह कहानी कही जाती है कि बिहारी ने जयपुर पहुँचने पर एक दोहे की मार से ही अपनी नयी रानी के प्रेम मे आबद्ध महाराज जयसिह को अन्त पुर के घेरे से मुक्त किया, उसे लेकर सभी आलोचको ने प्राय एक-सी ही बात कही है । यह घटना यदि सच हो तो भी इससे प्रमाणित यही होता है कि प्रारम्भ से ही बिहारी की प्रवृत्ति शृगारी थी । उस दोहे को लीजिए—

नहिं परागु, नहिं मधुर मधु, नहि बिकासु इहि काल ।
अली कली ही सौं बध्यौ, आगै कौन हवाल ।।

इस दोहे का आशय यह नही है कि रज और रसहीन कली से ही जो भौरा इतना बँधा हुआ है, अर्थात् जो नायिका की यौवन-प्राप्ति से पहले ही उसके रूप पर मुग्ध होकर कर्त्तव्य-ज्ञान भूल गया है, उसकी आगे क्या दशा होगी, वरन् यह कि जो समय से पूर्व ही अपने आकर्षण का परिचय दे रहा है वह रस का समय आने पर अपने अनुराग की दृढता और भी प्रमाणित करेगा । इस प्रकार यह दोहा बोधोदय के लिए न लिखा जाकर रसोदय के उद्देश्य से ही लिखा गया होगा । जयसिह ने जो बिहारी से मिलना चाहा होगा वह इसलिए कि आदमी कैसा ही हो , पर है रसज्ञ और इसी से अशर्फियो के मोल उन्होने उनके दोहो को खरीदा, यद्यपि यह मोल बहुत कम था ।

सयोग-काल की कोई ऐसी स्थिति नही जो बिहारी की दृष्टि से बची हो । रूप-दर्शन से आकर्षण होता है । रूप के ये वर्णन नायिका के है और इस दृष्टि से नायिका से अधिक नायक के आकर्षण का वर्णन होना चाहिए था , पर ऐसा है नही । नायक से अधिक यहाँ भी नायिका पर कवि की दृष्टि है । नायिका आकर्षित होती है । आकर्षित

तो पुष्ट तर्कों के आधार पर सगुण से बढकर निर्गुण का समर्थन वे कर बैठे है। प्रतिबिंबवाद और अद्वैतवाद दोनो की पुष्टि मे भी उन्होने कुछ-न-कुछ कहा है। नाम-स्मरण पर भी वे जोर देते पाए जाते है, ऐसी दशा मे पाठको के लिए यह निर्णय करना कठिन है कि उन्हे किस मत के अन्तर्गत वे माने। उनका विशेष झुकाव राधा-कृष्ण की लीलाओ की ओर है। भक्तो के समान वे कृष्ण पर विश्वास करते, उनके यश का वर्णन करते और उन्हे उलाहना देते पाए जाते है। पर मेरी दृष्टि से बिहारी भक्त नही थे, केवल कवि थे। जैसे प्रत्येक महाकवि अपने प्रिय विषय के अतिरिक्त अन्य विषयो पर भी समान सामर्थ्य के साथ लेखनी चलाता है, वैसे ही बिहारी ने भी प्रेम के अतिरिक्त भक्ति और नीति पर लिखा। भक्त का हृदय उन्हे प्राप्त हुआ ही न था। राधा और कृष्ण के जीवन को जैसा घोर श्रृगारी और वासनात्मक उन्होने चित्रित किया है, उससे तो इस बात मे और भी सन्देह नही रह जाता। बिहारी अनुराग के कवि थे, विराग के नही। भक्तो के हृदय की-सी पवित्रता, आर्द्रता, कोमलता, कातरता, दीनता और भाव-मग्नता उनमे सामान्यत नही पायी जाती—

कीजै चित सोई तरे जिहिं पतितनु के साथ।
मेरे गुन-औगन-गननु गनौ न गोपीनाथ ॥
यह बरिया नहिं और की, तू करिया वह सोधि।
पाहन-नाव चढाइ जिहिं कीने पार पयोधि ॥
पतवारी माला पकरि और न कछु उपाउ।
तरि ससार-पयोधि कौ, हरि-नावें करि नाउ ॥
मै समुझ्यौ निरधार, यह जगु कॉचो कॉच सौ।
एकै रूपु अपार, प्रतिबिम्बित लखियतु जहाँ ॥

प्राचीन कवियो मे सेनापति जैसे एकाध कवि को छोडकर प्रकृति का स्वतन्त्र वर्णन पाया ही नही जाता। प्रकृति को वहॉ कही आध्यात्मिक भाव की व्यजना के लिए, कही रहस्य के लिए, कही उपदेश के लिए और कही अलकार-विधान के लिए प्रयुक्त किया गया है। बिहारी ने भी अप्रस्तुत के रूप मे प्रकृति से अनन्त मर्म-छवियो को चुना, पर सन्तोष की बात है कि षड्ऋतु-वर्णन के अन्तर्गत उन्होने प्रकृति की स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार करके उसमे व्याप्त अनेक भावनाओ को भी चित्रित किया है। लोक की क्रीडा को चित्रित करने के उपरान्त प्रकृति मे चलने वाली क्रीडा पर भी उनकी दृष्टि गई—

छकि रसाल-सौरभ, सने मधुर माधवी-गंध।
ठौर-ठौर झौंरत झपत भौंर-झौंर मधु-अध ॥
रनित भृ ग-घण्टावली, झरित दान मधु-नीरु।
मन्द-मन्द आवतु चल्यौ कुजर कुज-समीरु ॥

प्रकृति और मनुष्य को वे एक-दूसरे के पास लाए और स्थान-स्थान पर उन्होने यह प्रदर्शित किया कि मनुष्य के व्यवहार का बहुत बडा अश प्रकृति से प्रभावित रहता है। वर्षा और शिशिर दोनो का प्रभाव मानव-हृदय पर देखिए—

तिय-तरसौंहे मन किए, करि सरसौंहे नेह।
धर-परसौंहे ह्वै रहे, झर-बरसौंहैं मेह ।।
तपन-तेज, तपु-ताप-तपि, अतुल तुलाई माँह।
सिसिर-सीतु क्यौंहुं न कटै, बिनु लपटे तिय-नाँह ।।

प्रकृति सम्बन्धी कुछ चित्र तो बिहारी के ऐसे है जो हिन्दी के आधुनिक काव्य की तुलना मे भी कम शक्तिशाली नही ठहरते। नीचे के दोहो मे जो ग्रीष्म का वर्णन है उसमे प्राचीन-काल के अलकार-विधान की मार्मिकता और सूक्ष्मता तो है ही, आधुनिक युग की मूर्तिमत्ता और चेतनता भी विद्यमान है। इन दोनो खण्ड दृश्यो से प्रकृति की कैसी सजीवता झलक रही है! ग्रीष्म और छाया दोनो ही जैसे यहाँ स्पन्दन और गति से युक्त हो उठे है। पहले दोहे मे तो प्रस्तुत और अप्रस्तुत दोनो ही प्रकृति के क्षेत्र से चुने गए है। यह विशेपता आधुनिकतम हिन्दी काव्य मे, एक महादेवी की 'दीपशिखा' को छोडकर, शायद ही कही पायी जाती हो—

नाहिन ए पावक प्रबल लुवैं चलैं चहुँ पास।
मानहु बिरह बसन्त कै ग्रीसम लेत उसास ।।
बैठि रही अति सघन बन पैठि सदन-तन माँह।
देखि दुपहरी जेठ की छाँहौं चाहति छाँह ।।

हास्य बिहारी मे नही के बराबर है। ढोग से इन्हे भी चिढ थी, इसी से कथा-वाचको और अधकचरे वैद्यो को लेकर उन्हे ऐसी स्थिति मे दिखाया गया है जिससे हँसी आती है। बिहारी निश्चित रूप से नगर के जीवन और नागरिक रुचि के पक्ष मे थे। नागरिको के प्रति गाँववालो के व्यवहार से ये बहुत क्षुब्ध दिखाई देते है, अत जहाँ कही हास्य की स्थिति आयी भी है, वहाँ उसमे व्यग्य के समावेश के कारण और गाँव वालो के प्रति थोडी हीन-भावना रखने के कारण ऐसे स्थल शुद्ध हास्य के नही रह पाए है। हमारा अनुमान है कि भारत के गाँवो और वहाँ के निवासियो के स्वभाव का बिहारी को बहुत अच्छा अनुभव न था। हास्य के कुछ उदाहरण लीजिए—

बहु धनु लै, अहसानु कै, पारौ देत सराहि।
बैद-बधू, हँसि भेद सौं, रही नाह-मुँह चाहि ।।
परतिय-दोषु पुरान सुनि लखि पुलकी सुखदानि।
कसु करि राखी मिश्र हू मुँह-आई मुसकानि ।।
कन दैबो सौंप्यौ ससुर, बहू थुरहथी जानि।
रूप-रहचटै लगि लग्यौ, मागन सबु जुग आनि ।।

भावना के क्षेत्र से हटकर कवि लोग कभी-कभी अपने जीवन के अनुभवो को भी चित्रित करते देखे जाते है। ऐसी बाते इस धारणा को लेकर लिखी जाती हैं कि शेप ससार उनसे लाभ उठाए। मात्र अनुभव को चित्रित करने वाली ऐसी रचनाएँ सूक्तियाँ कहलाती है जिनमे बहुत-सी नीति की बाते भी सम्मिलित रहती है। जहाँ तक होता है बात को सीधे-सीधे कह दिया जाता है। पर तथ्य कैसा ही हो उसे हृदयगम कराना तो होता ही है, इसी से ऐसी उक्तियो मे तर्क और अलकार के सहारे चिन्तन के पल अकित

किए जाते है । बहुत-सी बाते बिहारी ने सज्जन-दुर्जन, गुनी-निगुनी, दाता-सूम आदि को लेकर कही है । कुछ सूक्तियाँ कला, प्रेम और मनुष्य के स्वभाव को लेकर भी हैं—

मीत, न नीति गलीतु ह्वै जो धरियै धनु जोरि ।
खाए खरचै जो जुरै, तौ जोरियै करोरि ।।
कैसै छोटे नरनु तैं, सरत बडनु के काम ।
मढ्यौ दमामौ जातु क्यौं, कहि चूहे के चाम ।।
बड़े न हूजै गुननु बिनु बिरद बडाई पाइ ।
कहत धतूरे सौं कनकु, गहनौ गढ्यौ न जाइ ।।

बिहारी की कला हृदय की सहज उपज का परिणाम नही । वह अभ्यास-साध्य है । वहाँ अभिव्यक्ति का फूल वैसे नही खिलता जैसे वसन्त मे डालियो पर फूल खिलते है । कवि के भाव को ठीक से समझने के लिए उसकी कला से परिचित होना आवश्यक है । यह कला कई बातो पर निर्भर करती है जैसे—(१) रस, (२) अलकार, (३) नायिका-भेद, (४) शब्द-शक्ति, (५) प्रसग-विधान और (६) भाषा । पाठक को यदि इनमे से एक का भी अच्छा ज्ञान नही है, तो वह बिहारी के काव्य-सौन्दर्य से अपरिचित ही रहेगा । उदाहरण के लिए इस दोहे को देखिए जिसका अर्थ इस प्रकार की बातो के ज्ञान के बिना खुल ही नही सकता—

लिखन बैठि जाकी सबी, गहि-गहि गरब गरूर ।
भये न केते जगत के, चतुर चितेरे कूर ।।

बिहारी के भाव-पक्ष और कला-पक्ष की सीमाएँ हो सकती है और हिन्दी-साहित्य मे उनके स्थान पर आलोचको मे मतभेद भी, पर मुझे जो उनके सम्बन्ध मे सबसे अच्छी बात लगती है वह यह कि उन्होने अपने से पूर्व छ सौ वर्ष के काव्य को धर्म के प्रभाव से मुक्त करके जीवन की ओर मोडा । यही काम आज के युग मे यदि किसी ने किया होता तो वह 'काव्य मे विद्रोह' कहलाता । लौकिक जीवन के एक बडे पक्ष के सौन्दर्य, क्रीडा और आनन्द का जैसा सजीव वर्णन बिहारी मे पाया जाता है, वैसा आज तक के किसी कवि के काव्य मे नही । यह जीवन कही-कही गन्दला है, पर धरती का जीवन ऐसा ही है, क्या किया जाए । इतना तो निश्चित ही है कि उनके काव्य का एक ऐतिहासिक महत्त्व है। जैसे चन्दबरदाई, कबीर, जायसी, सूर, तुलसी, हरिश्चन्द्र, मैथिली-शरण गुप्त और जयशकरप्रसाद के बिना काव्य के विभिन्न युगो का इतिहास नही लिखा जा सकता, वैसे ही रीतिकाल के दो सौ वर्ष की कडी टूटी हुई दिखाई देगी, यदि उसमे से बिहारी का नाम निकाल दिया जाए ।

सतसई का परिचय

हरदयालुसिह

जहाँ अन्य कवियो ने वहुत-से काव्य-ग्रन्थ लिखकर जनता मे सम्मान प्राप्त किया, वहाँ विहारीलाल ने केवल सतसई नामक मुक्तक काव्य लिखकर। हिन्दी मे देव ने लग-भग वावन ग्रथ लिखे, तव कही वैसी प्रसिद्धि पायी। यही दशा सस्कृत कवियो की भी है। थोडो रचना करके विहारी की-सी ख्याति किसी विरले ने ही प्राप्त की होगी। इससे यही सिद्ध होता है कि परिमाण का महत्त्व नही हुआ करता, गुण का महत्त्व हुआ करता है। अच्छे-अच्छे कवियो ने चाहे कई रचनाएँ लिख डाली हो, किन्तु विवेचन करके देखा जाए तो उनकी एक ही रचना उनके महत्त्व का प्रतिपादन करने के लिए पर्याप्त होती है। यदि कालिदास के अन्य ग्रथ न होते, केवल एक 'मेघदूत' ही मिलता, तो भी उनकी काव्य-प्रतिभा का पता चल गया होता और उनकी ऐसी ही ख्याति होती। यह सहज-शक्ति प्रतिभा कहलाती है। यह सब मे एक ही प्रकार की नही होती। जिसमे सहज-प्रतिभा होती है और उत्कृष्ट प्रतिभा होती है वही उत्तमोत्तम रचनाएँ करने मे समर्थ होता है। विहारी मे यही प्रतिभा थी।

कविवर अमरुक ने सौ श्लोक लिखकर सस्कृत साहित्य के क्षेत्र मे अपनी विजय-वैजयन्ती फहरा दी। क्या वात थी जिससे अमरुक को इतनी ख्याति मिली? कहना न होगा कि अमरुक मुक्तक रचना के रहस्य को समझते थे, प्रसग उपस्थित करना जानते थे जो मुक्तको के लिए नितान्त आवश्यक है।

मुक्तक किसे कहते हे? मुक्तक वह काव्य कहा जाता है जो विना किसी प्रकार के प्रसग के अपना अर्थ स्वय व्यक्त कर सके। उसमे पूर्वापर सम्वन्ध वाछनीय नही। यद्यपि वह अनुवन्धहीन एव स्वच्छन्द होता है, पर उसका कुछ ढग ही ऐसा होता है कि उसके द्वारा अर्थ प्रतीत कराने मे देर नही लगती। ऐसी कृति का नाम लोगो ने मुक्तक रखा है। काव्य कई प्रकार के होते है। इनमे मुक्तक, खण्ड तथा महाकाव्य विशेप रूप से उल्लेखनीय है।

विहारी-सतसई मुक्तको मे है। मुक्तक मे प्रवाह होता ही नही और होता है तो

स्थिर। कुछ मुक्तक रचनाएँ सरस तो होती है पर सव ऐसी नही होती। कोई-कोई रचना तो शिथिल तक होती है। इनमे वह सानुबन्धता नही होती जो मुक्तक का विशेप अग है।

मुक्तक की रचना सरस और नीरस दोनो प्रकार की होती है और इस प्रभाव से ससार की कोई रचना वची नही है। रामचरितमानस महाकाव्य है, जहाँ तुलसीदासजी ने अपनी प्रतिभा का सारा वल लगाकर उसे काव्यक्षेत्र मे अमरता देने का प्रयास किया है, वहाँ रामायण मे कुछ प्रसग ऐसे भी रह गए है जिन्हे यदि शिथिलता के उदाहरण मे दिया जाय तो वे वहाँ खूब वैठेगे, परन्तु इसका अर्थ यह नही है कि तुलसीदासजी सफल कवि न थे। यथार्थ वात तो यह है कि कोई भी पौरुपेय निर्माण गुण-दोप के समन्वय से अछूता नही रहता। यही हाल मुक्तको का है।

मुक्तको मे, प्रवाहाभाव के कारण, नीरसता तुरन्त खटकने लगती है, परन्तु प्रवन्ध-काव्य मे वह प्रवाह-धारा मे ऐसे बह जाती है कि उसका पता लगना कठिन हो जाता है। यहाँ प्रसगवश काव्य की सरसता और नीरसता के विषय मे भी कुछ कह देना आवश्यक है। नीरसता से यह न समझ लेना चाहिए कि उसमे चमत्कार-विधायकता का भी अभाव है। जहाँ हम नीरस पद का प्रयोग करेगे वहाँ पर हमारा अभिप्राय भावेतर अन्य रचनाओ से होगा। मुक्तको की तो कोई बात ही नही है, उनमे यदि नीरसता होगी तो थोडी ही देर मे मालूम होने लगेगी। प्रवन्ध-काव्य भी कभी-कभी नीरस होते है परन्तु उनमे नीरसता कुछ देर मे मालूम हो पाती है, क्योकि प्रवाह के कारण इसका पता देर मे लग पाता है।

यहाँ पर यह प्रश्न उपस्थित किया जा सकता है कि यदि वह काव्य है तो फिर नीरस कैसा ? काव्य नीरस होना ही न चाहिए। महामति प० विश्वनाथ के मत मे 'वाक्य रसात्मक काव्यम्', अर्थात् रसात्मक वाक्य काव्य कहलाता है। ऐसी दशा मे जब काव्य रसात्मक वाक्य हो चुका हो तो उसमे नीरसता कहाँ से आयी और यदि उसमे नीरसता रह गई तो वह काव्य कैसे कहलाया ? पडितराज जगन्नाथ रमणीयार्थ-प्रतिपादक शब्द को काव्य मानते है। रमणीयार्थ के प्रतिपादक शब्द कभी नीरस न होगे क्योकि रमणीयता और नीरसता दोनो ही परस्पर-विरोधी भाव के शब्द है। अत निष्कर्ष यह निकला कि रमणीयार्थ-प्रतिपादक शब्द नीरस न होगे, इसलिए काव्य भी नीरस न होगा, और यदि वह नीरस होगा तो उसकी गणना काव्य की परिधि के अन्तर्गत न की जा सकेगी।

मुक्तक मे शिक्षा और नीति के उपदेश तथा शृगारी रचनाएँ खूब गठती है; क्योकि इनमे पूर्वापर प्रसग वहुत सापेक्ष नही रहते। नीति-उपदेशार्थ उपदेष्टा के लिए पर्याप्त अनुभव की आवश्यकता है। उन्ही के आधार पर जब वह मुक्तक बनायेगा और उनके भाव-उद्रेक के लिए अनुकूल परिस्थिति भी तैयार कर लेगा तव जाकर उन मुक्तको मे सरसता आयेगी। यदि कवि अनुकूल वातावरण भी उत्पन्न कर सका तो भाव-उद्रेकता के बिना वे मुक्तक कोरे धर्मशास्त्र के उपदेश रह जायेगे। मुक्तक के सम्बन्ध मे सवसे वडी बात यह है कि इनमे मानव-जीवन के किसी अग को लेकर अथवा किसी प्रकार के

व्यग्य का आश्रय ग्रहण करके कुछ कहना चाहिए, तब जाकर उसमे कुछ भाव-उद्रेकता और प्रभावोत्पादकता आयेगी, अन्यथा सरसता से वह बहुत दूर रहेगा और उसका प्रभाव कुछ भी न होगा। मुक्तको का अनुवृत्त निर्वाचन भी स्पष्ट होना चाहिए और वह भर सामान्य जीवन-क्षेत्र से। ऐसा होने से पाठको को उसके समझने मे कठिनाई नही पडेगी और वह सबका अनुरजन कर सकेगा। जिन मुक्तको के प्रसग समझने मे ही कठिनाई पडती हे, उनका कोई महत्त्व नही और न साहित्यानुरागी ही उन्हे आदर की दृष्टि से देखते है।

सस्कृत-साहित्य मे कई मुक्तक काव्य है। इनमे आर्यासप्तशती, गाथासप्तशती, अमरुक-शतक और भामिनीविलास आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इन सब मे भामिनीविलास को पढिएगा तो पता लगेगा कि पडितराज जगन्नाथ ने ऐसे-ऐसे रसाप्लावित प्रसगो की योजना की है कि उन पर दृष्टिपात करते ही पाठक ब्रह्मानन्द-सहोदर काव्यानन्द मे मग्न हो जाता है। कविवर अमरुक ने भी अपने शतक के निर्माण मे ऐसा ही प्रशसनीय प्रयास किया है। उन्होने ऐसे सरस प्रसगो का आयोजन किया है कि उनको पढते ही पाठक रस के समुद्र मे अवगाहन करने लगता है। उसकी प्रसग-योजना पर मुग्ध होकर सस्कृत-साहित्य के ख्यातनामा आलोचक श्री आनन्दवर्द्धनाचार्य ने उनकी ,प्रशसा की है।

गाथा और आर्या-सप्तशतियो के प्रसग-योजना-सौन्दर्य के सम्बन्ध मे इतना ही कह देना पर्याप्त है कि ये आनन्दवर्द्धनाचार्य और सातवाहन की रचनाएँ है। सिंह के परिचय के लिए सिंह कह देना ही अलम् है। अधिक परिचय देने से उसके प्रभाव पर आघात होता हे। परिचय की आवश्यकता अप्रसिद्ध बातो को होती है। लोकविश्रुत बातो को इसकी आवश्यकता नही रहती।

अब हिन्दी के मुक्तको की ओर आइए। सूरदासजी का सारा काव्य मुक्तक है। उन्हे उस लोकविश्रुत आख्यायिका के आधार पर कोई प्रबन्ध-काव्य लिखने मे अडचन नही पड सकती थी, परन्तु ऐसा न करके उन्होने मुक्तको का आश्रय लिया। क्यो ? क्या उनमे प्रबन्ध-काव्य लिखने की क्षमता न थी, या क्षेत्र न था ? उत्तर मे यही कहना पडेगा कि क्षेत्र भी था और क्षमता भी थी, परन्तु यदि कोई ,कमी थी तो कृष्णपरक आदर्श महाकाव्य की थी जिसके आधार पर सूर अपना महाकाव्य निर्माण करते। यदि कोई कृष्णपरक रचना है तो श्रीमद्भागवत है। वह भी पुराण है, आख्यायिका दे सकता है, परन्तु महाकाव्य के लिए मार्ग नही प्रशस्त कर सकता। इधर रामपरक महाकाव्य वाल्मीकि-रामायण पहले से था। इसका आधार लेकर तुलसीदासजी को रामचरितमानस के निर्माण करने मे कोई कठिनाई न पडी। महाकाव्य लिखकर भी गोस्वामीजी को सन्तोष न हुआ। इस समय तक गोस्वामीजी पूरे वैरागी हो चुके थे। उन्होने मुक्तको पर हाथ साफ करने के अभिप्राय से गीतावली और कृष्णगीतावली लिखी। इनके पद निरपेक्ष है, परन्तु इस निरपेक्षता के रहते हुए भी पाठक इसका अध्ययन करके उसी प्रकार रस-सागर मे निमग्न होने लगता हे जिस प्रकार रामचरितमानस पढकर। इसका कारण यह है कि गोस्वामीजी ने इनमे चुन-चुनकर ऐसे-ऐसे मार्मिक चित्र खीचे है जो मर्मस्थान पर गुदगुदी पैदा करने वाले हैं और मानवी हृदय-

विकारो मे उद्‌बोधन पैदा करते है। लोग जो गीतावली को रामचरितमानस की अपेक्षा अधिक रसप्लावित मानते है, उसका कारण यही है कि गोस्वामीजी ने उसमे एक-से-एक सरस प्रसगो की आयोजना की है और कोमल भावो के उद्दीपनकारी प्रसगो का निर्वाचन भी बडी सरलता के साथ किया है।

हिन्दी के अन्य मुक्तक काव्यो मे यह बात नही आने पायी। इन मुक्तककारो ने मर्मस्पर्शी प्रसगो के निर्वाचन की ओर ध्यान ही नही दिया। इसलिए वे काव्य अपने मुक्तक सौन्दर्य के कारण इतने प्रसिद्ध नही हुए। उनकी प्रसिद्धि का कारण कुछ और ही था, और वह था भगवान राम-कृष्ण का कथा-गौरव, जिसके लिए जनता ने उनका स्वागत किया। जो लोग ऐसे ग्रथो को प्रबन्ध-काव्य मानते है, वे भूल करते है। यद्यपि इनमे एक ही कथा से वर्ण्य प्रसग लिये गए है, परन्तु सानुबन्ध न होने के कारण इनमे यथेष्ट सौन्दर्य नही आने पाया।

रसाप्लावित मुक्तको मे आनन्द आता है और सूक्तियो मे भी, तो फिर इन दोनो मे अन्तर क्या है? बिहारी सतसई के मुक्तको मे नीति-गर्भित उपदेश देने वाले मुक्तक के अतिरिक्त सूक्तियाँ भी है। सूक्तियो का काम यह नही है कि वे रस अथवा भाव व्यजना का उद्रेक भी करे। उनके कार्य की इतिश्री चमत्कारविधायकता के साथ ही साथ हो जाती है। जब हम काव्य के लक्ष्य पर दृष्टिपात करते है तब हमे यह कहने के लिए विवश होना पडता है कि सूक्तियाँ वास्तव मे आदर्श रचनाएँ नही है। पर इससे क्या? भले ही वे आदर्श रचनाएँ न हो परन्तु उनमे चमत्कार-विधान रहता है। अन्त मे कहना पडता है कि नीति की उक्तियाँ अथवा रूखे-सूखे राजनैतिक उपदेश कभी काव्य का रूप नही ग्रहण कर सकते, भले ही उन्हे कोई पद्यात्मक निबन्ध कहा करे। निबन्ध की पद्यात्मकता को किसी भी आचार्य ने स्वीकार नही किया है, परन्तु काव्य बहुधा पद्यात्मक ही होते है इसलिए हमारे कान पद्यात्मक निबन्ध सुनने ही के अधिक अभ्यासी हो गए है और भ्रमवश ऐसे निबन्ध को काव्य मान बैठते है, जो पद्यबद्ध हो। काव्य मे बिलकुल सच्ची बातो का सग्रह भी नही हो सकता। किसी को यह समझने मे भूल न करनी चाहिए कि जो दृष्टान्त काव्य मे आए है, वे सब सत्य ही है। यह तो लोगो का दृष्टिकोण है। यदि वे दृष्टान्त की योजना मे और अलकार के चमत्कार से किसी विषय को काव्य मान बैठे, तो यह उन्ही की भूल है। वे काव्य की परीक्षा ही न कर सके।

सूक्तियो मे यह गडबड नही रहती। भले ही उनमे भाव की कमी हो परन्तु उनमे ऐसी सुन्दर वक्रोक्ति होती है जो हृदय मे गुदगुदी पैदा करने लगती है। जहाँ बिहारी ने सूक्तियाँ कही है वहाँ उनके दृष्टान्त या युक्ति उस तथ्य की सार्थकता को प्रमाणित करने मे साहाय्य प्रदान करती है। बिहारी प्रसगो की ऊहा करने मे बडे पटु थे, यद्यपि उन्होने प्रेम का सविस्तार वर्णन नही किया। जो कुछ कहा वह पुराने बँधे हुए प्रसगो पर ही कहा, परन्तु ऐसा कहा कि उनकी जोड का कहने वाला कोई नही दिखलाई पडता। यद्यपि बिहारी ने अन्य रीतिकारो की भाँति जमकर रस, अलकार और नायिका-भेद पर कलम नही उठाई—जैसा कि सतसई के अध्ययन से विदित होगा क्योकि वे रीति-ग्रन्थ बनाना नही चाहते थे—परन्तु इतना होते हुए भी उन पर समर

का प्रभाव अवश्य पडा है। वे रीति-परिपाटी से बहुत अलग नही हो पाए है।

बिहारी रीतिकाल के प्रभाव से मुक्त क्यो नही हो सके, इसका भी एक कारण है। वह यह कि उस समय लोकरुचि उसी ओर थी। पढे-लिखे लोग नायिका-भेद के विवेचन ही मे अपनी दक्षता की इतिश्री समझते थे। राजा लोग भी उस समय मुक्तक सुनना पसन्द करते थे, क्योकि उसमे थोडी देर मे आनन्द आ जाता था और प्रबन्ध-काव्य मे उसका कम से कम एक अश सुनकर ही आनन्द आ सकता था। इसकी समता ठीक मिश्री और शक्कर के शरबत से की जा सकती है। मुक्तक काव्य शक्कर का शरबत है जो पानी मे तुरन्त घुलकर मिठास देने लगता है और प्रबन्ध काव्य मिश्री का शरबत है जो देर मे घुलकर मिठास देता है।

राजदरबारो की प्रबन्ध-काव्य की ओर से निरपेक्षता का सबसे बुरा परिणाम यह हुआ कि प्रबन्ध-काव्यो का प्रकारान्तर से निर्माण ही बन्द हो गया। अच्छे नाटको की रचना भी बन्द-सी हो गई। यद्यपि राजदरबारो की उदासीनता इसका एकमात्र कारण नही है, उदासीनता के साथ-साथ मस्तिष्क-शान्ति, निश्चिन्तता, सुख और समृद्धि का अभाव भी है। जहाँ कवि और लेखक जठर-ज्वाला से ही जला करते हो वहाँ प्रबन्ध-काव्यो की जमी हुई शैली की रचना अधिक कैसे हो सकती है। हिन्दी मे फुटकल या मुक्तक रचना ही अधिकतर होती आ रही है। इसका यह तात्पर्य नही कि हिन्दी मे प्रबन्ध काव्य या नाटक बने ही नही। बने अवश्य पर उनका अनुपात मुक्तक रचना के सामने बहुत थोडा है। इधर आधुनिक युग मे थोडी-सी प्रवृत्ति जगी थी, पर विदेशी गीतो की धारा मे प्रबन्ध का उत्साह कवियो ने ढीला कर दिया है। तात्पर्य यह कि फिर मुक्तक रचनाएँ ही अधिक होने लगी है। प्रबन्ध-काव्यो मे भी ये गीत घर कर बैठे हैं। साहित्य का इतना प्रचार और प्रसार हो जाने पर भी अभी हिन्दी के कवि और लेखक पूर्णतया निश्चिन्त नही हो पा रहे है।

मुक्तको के सम्बन्ध मे दो-एक बाते और कहकर इस विषय को समाप्त करना है। कुछ लोगो का कहना है कि मुक्तक लिखना प्रबन्ध काव्य की अपेक्षा कठिन है। मुक्तक रचना मे वही सफल हो सकता है, जो रसाभिनिवेश-क्रिया मे कुशल हो। बिहारी इस क्रिया मे बडे दक्ष थे। इसीलिए उन्होने मुक्तक-रचना मे आशातीत सफलता प्राप्त की है।

सतसई या सतसैया का अर्थ है ७०० पद्यो का सग्रह। सतसई लिखने की पहले से कुछ प्रणाली-सी है। मार्कण्डेय-पुराण की दुर्गासप्तशती मे ७०० श्लोक है। इसके बाद सातवाहन ने गाथा-सप्तशती का सग्रह किया। यह प्राकृत मे है और मुक्तक है। ऐसी ही रचना आर्यासप्तशती भी है। इसके प्रणेता श्रीमन् आनन्दवर्द्धनाचार्य है। ये दोनो ग्रन्थ साहित्य के रत्न है और मुक्तक रत्नो के आकर है। यदि इन्हे शृगार रस का क्षीर-सागर कहा जाए तो कोई अत्युक्ति न होगी।

बिहारी-सतसई इसी शृगार वाली परम्परा मे दिखाई पडती है। ऐसा जान पडता है कि शृगार और भक्ति एव नीति की पृथक्-पृथक् रचनाएँ होती थी, किंतु उनकी सतसई प्रस्तुत करने की एक चाल-सी पड गई थी। बिहारी के पूर्व रहीम-सतसई

और तुलसी-सतसई का नाम सुनाई पडता है। रहीम की पूरी सतसई नही मिलती। पर उसके जितने छन्द मिलते है उनके देखने से यही जान पडता है कि यह जीवन की मार्मिक अनुभूतियो के आशार पर प्रस्तुत सूक्तियो का ऐक सग्रह मात्र रही होगी। तुलसी-सतसई भक्ति और नीति की उक्तियो का सग्रह है। इन ग्रन्थो मे कितनी ही पुरानी उक्तियाँ भी पायी जाती है। कुछ तो केवल भापा का आवरण बदलकर वैठ गई है, कुछ शैली के भेद से भिन्न हो गई है और कुछ साम्य के द्वारा दूसरी ही बना दी गई है। जीवन को अधिक निकट से और मनोयोगपूर्वक देखने के कारण इन कवियो ने कितनी ही नवीन और मनोहर उक्तियाँ भी प्रस्तुत की है। पुरानी उक्तियाँ थोडी है, नवीन अधिक। पुरानी उक्तियो से उनकी परम्परा का पता चलता है, नवीन उक्तियो से उनकी विशेपता एव शक्ति का। शृगार की परम्परा मे बिहारी का स्थान सबसे उत्कृष्ट दिखाई देता है।

बिहारी-सतसई की रचना के बाद तो अनेक कवि सतसई लिखने पर टूटे। कविवर मतिराम ने भी अपनी सतसई तैयार की। इसमे विहारी के भावो का भी स्वागत किया गया है। मतिराम ऐसे समर्थ कवि के द्वारा नि सकोच भाव से विहारी के भावो का ग्रहण किया जाना सिद्ध करता है कि सव भाव अपने ढग के अनूठे है।

जैसे तुलसी-सतसई या दोहावली मे 'रामचरितमानस' के कितने ही दोहे रख दिये गए है उसी प्रकार 'मतिराम-सतसई' मे उनके रसराज एव ललितललाम के भी कितने ही अच्छे-अच्छे दोहे सगृहीत है। बिहारी-सतसई के बाद यही सतसई औरो से उत्कृष्ट दिखाई देती है। इसके बाद विक्रम-सतसई और वृन्द-सतसई बनी। वृन्द-सतसई केवल नीतिगर्भित उपदेशो का सग्रह है। नीति की रचना होने से इसमे वैसा साहित्यिक चमत्कार नही। ऐसे उपदेशो मे काव्यगत चमत्कार आ भी कैसे सकता है ? इसके बाद विक्रम-सतसई बनी। कुछ समय के बाद चन्दन-सतसई और शृगार-सतसई की रचना हुई। शृगार-सतसई मे, नाम के अनुकूल, अधिकाश रचनाएँ शृगार-गर्भित है। अभी हाल मे श्री वियोगी हरि ने वीर-सतसई का निर्माण किया है। इसमे आपने बडे मार्मिक दोहे लिखे है। इस सतसई मे वीर रस के विविध रूपो का निरूपण किया गया है। अनेक प्रकार के आलम्वनो की चर्चा करके और उन पर उक्ति-वैचित्र्यपूर्ण रचनाएँ लिखकर कवि ने हिन्दी मे एक अद्भुत रचना की है। अपभ्रश मे कुछ वीर रस के 'दूहे' मिलते है। हिन्दी मे दोहो मे वीर रस की इतनी वडी रचना इससे पहले नही लिखी गई।

विहारी-सतसई मे सव मिलाकर ७१९ दोहे है। इसकी रचना विहारी ने जयपुराधीश मिर्ज़ा राजा जयसिह के लिए, सवत् १६९२ मे, आरम्भ की थी। इसमे शृगार, वैराग्य नीति आदि कई विषयो के दोहे है, परन्तु शृगार के ही दोहे अधिक है। नायिकाभेद के प्राय सभी प्रकार के उदाहरण विहारी-सतसई से दिए जा सकते है। केवल शृगार रस ही नही उसके पोपक हास्य रस के भी दोहे मिलते है। हास्य के अद्भुत आलम्वन कवि ने प्रस्तुत किए है। विभिन्न विपयो की रचनाएँ होने के कारण यह कहा जा सकता है कि सतसई मे विहारी ने ७१९ दोहो मे ससार का वहुत-सा अनुभव सकलित करके रख दिया है। इसमे प्रकृति-निरीक्षण भी किया गया है और मानव-जीवन की भिन्न-भिन्न परि-

स्थितियो पर भी विचार किया गया है। आलम्वनो के तो ऐसे-ऐसे सुन्दर और सुकुमार चित्र खीचे गए हैं कि कवि की चित्रोपमता की भूरि-भूरि प्रशसा करनी ही पडती है।

विहारी-सतसई की रचना शृगार-रस-प्रधान है। शृगार को लोग रसराज कहते है। इसका कारण यही है कि शृगार ही ससार का प्रथम रस है। इसकी व्याप्ति वहुत दूर तक है। दसके अन्तर्गत अधिकाधिक भावो का समावेश किया जा सकता है। क्योकि इसके सयोग और वियोग नामक सुखात्मक एव दु खात्मक दो पक्ष हो जाते है। इसका स्थायी भाव रति या प्रेम है। प्रेम ही विश्व मे एक ऐसी विभूति है, जो ससार को एक सूत्र मे वाँध सकती है।

शृगार रस की धूम भारतीय साहित्य मे तो है ही, विश्व-साहित्य भी इसकी व्यजना से भरा पडा है। आग्ल-साहित्य मे भी शृगारी रचनाओ की कमी नही और यदि विचारपूर्वक देखा जाए तो शृगार के भीतर रूपो की विविधता और उसकी व्यजना की वैसी गहराई नही दिखाई देती जैसी यहाँ है। भारतीय शृगार के जितने भेदोपभेद हैं, उतने अन्य रसो के नही। हास्य रस की तो कोई वात ही नही, वह शृगार रस का पोपक मात्र है। अन्य रसो मे भी वह विविधता नही जो शृगार मे दिखाई देती है। करुण रस का प्रभाव विशेष अवश्य दिखाई देता है इसीलिए भवभूति ने उसकी प्रधानता की घोपणा की हे। पर उसमे केवल दु खात्मक पक्ष है। शृगार की भाँति उसके दो पक्ष नही है।

बिहारी की भाषा

विश्वनाथप्रसाद मिश्र

व्रजभापा वहुत दिनो से काव्यभापा है। यद्यपि महाराष्ट्री प्राकृत काव्य की गृहीत भापा थी, पर उसमे और शौरसेनी (जो व्रजभापा की माता या मातामही है) मे वहुत कम अन्तर था। अपभ्रश-काल मे जिस नागर अपभ्रश की धूम थी वह शौरसेनी ही थी। इस प्रकार जिस कुल की व्रजभापा है वह काव्यभापा का प्राचीन कुल है। मध्यदेश सस्कृति का केन्द्र था और शूरसेन मध्यदेश का हृदय था। इसी से व्रजभापा का व्यवहार-क्षेत्र विस्तृत था। राजपूताना मे काव्यभापा मे इसी का व्यवहार होता था और वहाँ के लोग प्रादेशिक भापा से अलग करने के लिए इसे 'पिंगल' नाम से पुकारते थे ओर प्रादेशिक भापा को 'डिंगल' नाम से। बुन्देलखड, शूरसेन देश और अवध के कवि काव्यभापा मे व्रजी का व्यवहार करते थे, पजाव के पूर्वी प्रान्तो मे यही काव्यभापा थी। विहार, वगाल, मध्यभारत, महाराष्ट्र और गुजरात मे यही सर्वसामान्य काव्यभापा थी। जो भापा इतनी दूर तक सामान्य काव्यभापा के रूप मे व्यवहृत होती रही हो उसका उन-उन प्रदेशो की भापाओ से प्रभावित होना अथवा उन-उन प्रदेशो की भापाओ के शब्दो एव प्रयोगो का उसमे मिल जाना स्वाभाविक था। मुसलमानी राजत्वकाल मे अरवी-फारसी के शब्दो का उसमे आ जाना, उनके लाक्षणिक प्रयोगो मे प्रभावित होना भी स्वाभाविक था।

इसीलिए व्रजी का ज्ञान प्राप्त करने के लिए यह आवश्यक नही था कि कोई कवि व्रज मे ही पैदा हो या वही जाकर वसे। उस भापा मे जो ग्रथ प्रस्तुत हो चुके है उनके अनुशीलन से वह वडे मजे मे व्रजी का ज्ञान प्राप्त कर सकता है। इसी से 'दास' ने अपने 'काव्यनिर्णय' मे लिखा कि व्रजी सीखने के लिए व्रजवास आवश्यक नही। विभिन्न भापाओ या उनके शब्दो का व्रजी मे मेल देखकर जो लोग चौंकते हैं उन्हे भापा की विस्तार-सीमा पर दृष्टि रखनी चाहिए। 'पृथ्वीराजरासो' मे कहा गया है कि उसकी भापा मे मेल है—

सस्कृत प्राकृत चैव राजनीति नव रस ।
षड्भाषा पुरान च कुरान कथित मया ॥

प्राकृत के पुराने वैयाकरणो को षड्भापा मान्य थी। उसमे 'अपभ्रश' की भी गिनती थी। 'कुरान' का तात्पर्य विदेशी से है। भिखारीदास ने भी अपने भापानिर्णय मे छह प्रकार निकाले—

ब्रज मागधी मिलै अमर नाग जवन भाषानि।
सहज पारसीहू मिलै षटविधि कहत बखानि॥

उन्होने जव वडे-वडे कवियो की भाषा जाँची तो उन्हे उसमे भी मेल दिखाई पडा। तव उन्होने वेधडक लिखा—

तुलसी गंग दुवौ भए सुकविन के सरदार।
इनकी काव्यन में मिली भाषा विविध प्रकार॥

कुछ आलोचक इस दोहे का अर्थ यह लेते है कि तुलसी और गग इसीलिए कवियो के सरदार कहलाए कि उनके काव्यो मे कई प्रकार की भापा मिलती है। पर 'दास' का तात्पर्य यह नही है। ब्रजभापा का प्रयोग बुदेलखड और अवध प्रान्त के कवियो ने वहुत दिनो तक किया। इसलिए दोनो देशो की भापाओ के शब्द और प्रयोग मिल गए। पिछले खेवे के कवियो ने तो अवधी और ब्रजी का ही मिश्रण किया। कथक्कड साधुओ और मुसलमानी दरबारो के ससर्ग से खडीबोली के शब्द या क्रिया-प्रयोग भी ब्रजी मे मिले।

पूर्व-पश्चिम के भेद से भाषाओ के दो वर्ग माने जाते है। 'पूर्वी' शब्द अवध की भाषा के लिए प्रयुक्त होता है। ब्रजी और खडीवोली पश्चिमी भाषाएँ है। ब्रजी और खडीवोली की प्रकृति एक-सी है, पूर्वी का इन दोनो से स्पष्ट भेद है। शब्द-रूपो को दृष्टि मे रखे तो खडी वोली के आकारात पुलिग शब्दो के रूप तीनो मे भिन्न-भिन्न है—ब्रजी मे ओकारात, खडी मे आकारात और अवधी मे अकारात। जैसे—घोडो (ब्रजी), घोडा (खडी) और घोड (अवधी)। इसी प्रकार पश्चिमी भाषाओ की प्रवृत्ति दीर्घात है और पूर्वी की लघ्वत। यही नही, पश्चिमी भापाओ मे शब्द रूपो मे सकोच या सिमटाव की प्रवृत्ति है तो पूर्वी मे विस्तार या ढीलेपन की, जैसे, प्यार (ब्रजी), प्यार (खडी) और पिआर (अवधी)। शब्द-रूपो मे ही नही, दोनो मे व्याकरण का भी भेद है। सवसे मुख्य भेद है कर्मणि और कर्तरि प्रयोग का। पश्चिमी भापाओ मे तो कर्मणि प्रयोग होता हैं, पर पूर्वी मे नही। खडीवोली मे कर्मणि प्रयोग के कारण कर्ता मे तृतीया का चिह्न 'ने' आता ह, ब्रजी मे यह 'ने' वैकल्पिक हे। पूर्वी भापाओ मे कर्तरि प्रयोग होता है, इसीलिए पूरववालो के हाथ और मुँह से 'वे कहे, हम कहे, आप कहे' आदि खडीवोली मे वरावर दिखाई-सुनाई पडते है, जो अशुद्ध है। ब्रजी मे सामान्य भाषा होने से उधर तो खडीवोली के कुछ प्रयोग होने लगे और इधर अवधी के।

शुद्ध ब्रजी का प्रयोग करनेवाले बहुत थोडे कवि मिलते है। सूरदास की भापा भी शुद्ध ब्रजी नही है, चलती ब्रजी है। विहारी की भापा वहुत कुछ शुद्ध ब्रजी है, पर वह भी साहित्यिक है। घनआनन्द की भापा भी शुद्ध ब्रजी है, वे 'ब्रजभाषा-प्रवीण' है।

उनकी भाषा मे पूर्वी प्रयोग एकदम नही है या एकाध ही है। बिहारी मे पूर्वी प्रयोग उनकी अपेक्षा अधिक मिलते है।

क्रिया के 'लीन', 'कीन', 'दीन' आदि पूर्वी प्रयोग बिहारी ने तुकातके आग्रह से रखे है। ब्रजी मे 'लीनौ, 'लीन्हौ' आदि रूप होगे—

तन मन नैन नितंब को बडो इजाफा कीन।

पिय तिय सो हंस कै कह्यौ लखैं दिठौना दीन।

चंदमुखी मुखचद तें भलो चंद सम कीन।

कही-कही 'कियौ' का 'किय' भी है और तुकात के अनुरोध से नही पद्य के मध्य मे—

मनु ससिसेखर की अकस किय सेखर सत चंद।

इक नारी लहि सग रसमय किय लोचन-जगत ।।

एक स्थान पर तुकात की विवशता से 'लजात' का 'लजियात' भी है—

कहत नटत रीझत खिझत मिलत खिलत लजियात।

'है' के लिए पूरबी का 'आहि' भी है जो घनआनन्द मे भी मिलता है। पर तुकात मे ही और अनुप्रास-यमक के लोभ से आया है—

रही कराहि कराहि अति अब मुँह आहि न आहि।

खडी बोली के कृदत और क्रियापद भी अनुप्रास के आग्रह से रखे गए है—

रहे सुरग रग रगि उही नइ-दी महदी नैन।

नेकौ उहि न जुदी करी हरषि जु दी तुम माल।

बौंदि पियागम नीद-मिल दीं सब अली उठाय।

बुदेलखडी शब्दो और प्रयोगो के लिए कहना ही क्या। 'खड बुदेले बाल' के अनुसार इनका लडकपन वही बीता और केशव, उनकी पद्धति एव कविता का इन पर प्रभाव पडा। बुदेली के लखबी, करबी, पायबी, आदि की तो कोई बात नही, तुलसीदास आदि की पूरबी रचना तक ये प्रयोग पहुँच गए है। बुदेली का अव्यय 'स्यौं' बिहारी और केशव मे बहुत मिलता है, जिसका अर्थ सग या साथ होता है—

चिलक चिकनई चटक स्यौ लफति सटक लौं आय।

स्यौं बिजुरी मनु मेह आनि इहाँ बिरहा धरे।

पहले उदाहरण मे कुछ लोग 'स्यौ' के स्थान पर 'सौ' पाठ भी रखते है। दूसरे मे 'इहाँ' भी पूरबी रूप है, ब्रजी मे 'ह्याँ होता है जिसका प्रयोग बिहारी ने भी किया है—

ह्याँ ते ह्वाँ ह्वाँ तें इहाँ नेकौ धरति न धीर।

'स्यौ' का प्रयोग आगे चलकर और कवि भी उसी प्रकार करने लगे जिस प्रकार 'लखबी', 'पायबी' आदि का। ठेठ अवध के 'दास' भी इसका प्रयोग करते है—

स्यौं ध्वनि अर्थनि वाक्यनि लै गुन सब्द अलंकृत सो रति पाकी।

—काव्यनिर्णय, १-१८

बुदेली के प्रयोग इनमे बीसो है। पीछे उनमे से कुछ का धडल्ले के साथ प्रयोग होने

लगा। जैसे, लाने (लिए), घैर (बदनामी की चर्चा), कोद (ओर), चाला (द्विरागमन), विदाई, गीधे, बीधे आदि। कुछ शब्द ऐसे भी हैं जिनका प्रयोग औरो ने कदाचित् ही किया हो—जैसे सद, सवी आदि।

केशव की ही भाँति एक प्रयोग और इनमे मिलता है जिसका चलन ब्रजी मे नही हुआ। 'ने' विभक्ति के साथ उत्तम पुरुष एकवचन का मै ही आता है, पर कर्ता कारक मे हौं आता है, इसके साथ 'ने' का प्रयोग नही होता। और कारको मे इसका प्रयोग नही हुआ करता, पर केशव ने इसको कर्म-कारक मे भी प्रयुक्त किया है—

पुत्र हौ बिधवा करी तुम कर्म कीन्ह दुरन्त।

इनमे भी 'हौं' का कर्म-कारक मे प्रयोग है—

हौं इन बेची बीच ही लोयन वडी बलाइ।

इन्होने एक विचित्र प्रयोग और किया है। यह है 'चितई' का प्रयोग। 'चितवना' का भूतकालिक रूप ब्रजी मे 'चितयौ' होता है और लिंग-भेद से इसके स्वरूप मे अन्तर नही पडता, 'कान्ह चितयौ' भी होगा और 'राधा चितयौ' भी। पर इन्होने स्त्रीलिंग के साथ 'चिनई' लिखा है। रत्नाकरजी का कहना है कि विहारी ने इसका प्रयोग अकर्मक किया है। जैसे 'राधा हँसी, चली' आदि होता है, 'वैसे ही 'चितई' भी। पर 'लखी' का प्रयोग भी मौजूद है—

उत दै सखिहि उराहनो इत चितई मो ओर।
सुनि पग-धुनि चितई इतै न्हाति दियें ही पीठि।
पति रति की बतियाँ कहीं सखी लखी मुसुकाय।
लहि रति-सुख लगियै हियें लखी लजौही नीठि।

इसे पूरब का प्रभाव माने तो कैसा! जो भी हो, यह प्रयोग चित्य अवश्य है। एक स्थान पर 'विचारी' कर्तरि नही, कर्मणि है।

विन बूझें बिनहीं कहें जियति बिचारी बाम।

सतसैया मे लिंग-विपर्यय भी बहुत है। एक ही शब्द कही पुलिंग और कही स्त्रीलिंग है। सस्कृत के कुछ पुलिंग शब्द हिन्दी मे स्त्रीलिंग हो गए है, जैसे आत्मा, अग्नि, वायु आदि। सस्कृत के पक्षपातियो का कहना है कि सस्कृत के लिंग की रक्षा हिन्दी मे भी होनी चाहिए। पर यह प्रकृति-विरुद्ध है। फारसी का 'कलम' लीजिए। हिन्दी मे पहले से 'लेखिनी' शब्द प्रचलित था, इसलिए उसी अर्थ मे प्रयुक्त 'कलम' शब्द का लिंग भी उसी के अनुकूल हो गया, यद्यपि फारसी मे यह पुलिंग है। यदि 'कलम' शब्द को सस्कृत से ही आया माने (कलम पुसि लेखिन्याम् मेदिनी) तो भी अधिक प्रचलित 'लेखिनी' के अनुकूल उसका लिंग भी बदल गया। पर एक ही भापा मे एक ही शब्द के एक अर्थ मे लिंग भिन्न हो यह ठीक नही, और एक ही कवि जब उसको दो लिंगो मे प्रयुक्त करे तो और भी ठीक नही। कुछ पडित सस्कृत के शब्दो या उसके विकृत रूपो को उसी लिंग मे लाते है जो सस्कृत मे मान्य था। 'देवता' शब्द हिन्दी मे पुलिंग हो गया, पर केशवदास उसे स्त्रीलिंग ही लिखते थे। महाभाष्यकार ने भी लिंग के सम्बन्ध मे लोक को ही प्रमाण माना है—लोकाश्रयाच्च लिंगम्। देशभेद से भी लिंगभेद हो जाता है। 'दही' शब्द बनारस मे स्त्रीलिंग है, पर

पश्चिम मे पुलिग। 'गेंद' पूरब मे पुलिग है, व्रज मे स्त्रीलिग। कवियो ने इसी से दोनो लिगो मे एक ही शब्द का एक ही अर्थ मे प्रयोग किया है।

फिरि फिरि बिलखी ह्वै लखिति फिर फिरि लेति उसास।

इस दोहे मे 'उसास' का लिग सदिग्ध है। रत्नाकरजी ने 'उसासु' रूप रखा है अत उनके अनुसार पुलिग है। सस्कृत के 'उच्छ्वास' से ही बिगडकर 'उसास' शब्द बना। सस्कृत मे 'श्वास-उच्छ्वास' पुलिग है, पर हिन्दी मे 'साँस उसास' शब्दो का प्रयोग पूरब मे स्त्रीलिग मे होता है।

बोझनि सौतिन के हियें आवति रूँधि उसास।

यहाँ 'उसास' स्त्रीलिग है, 'आवति' क्रिया से। पर 'आवत' भी हो सकता है।

पल न चलै जकि सी रही थकि सी रही उसास।

नई नई बहुरयौ दई दई उसासि उसास।

यहाँ 'उसास' के साथ जो क्रियापद आए है वे 'अनुप्रास' की लपेट मे पडे है, इसलिए इनके पाठान्तरो की कल्पना नही की जा सकती। सतसैया भर मे नौ बार 'उसास' शब्द का प्रयोग हुआ है, कई स्थानो पर क्रियापद के साथ उसका अन्वय न होने से लिग सन्दिग्ध है। यदि 'उकार' (उसासु) को पुलिग का द्योतक माने तो 'बिहारी-रत्नाकर' के अनुसार चार दोहो मे पुलिग और तीन मे स्त्रीलिग है। शेष मे लिग सदिग्ध है।

इसी प्रकार सस्कृत का 'वायु' शब्द है। हिन्दी मे 'वायु' शब्द का प्रयोग स्त्रीलिग मे होता है। पर सस्कृत का अनुगमन करनेवाले उसे पुलिग ही लिखते है। व्रजी मे 'वायु' शब्द स्त्रीलिग है, पर इन्होने उसे दोनो लिगो मे प्रयुक्त किया है—

आवति नारि नवोढ लौं सुखद वायु गतिमन्द।

यहाँ 'वायु' स्त्रीलिग है, पर अगले दोहे मे पुलिग—

आवत दच्छिन देस ते थक्यौ बटोही बाय।

फारसी के 'रुख' शब्द का प्रयोग स्त्रीलिग मे हुआ है। फारसी मे यह पुलिग है और हिन्दी मे पढे-लिखे पुलिग बोलते है, पर जनता स्त्रीलिग—

रस की सी रुख ससिमुखी हँसि हँसि बोलत बैन।

'रुख' शब्द का प्रयोग चार दोहो मे है और चारो मे स्त्रीलिग है।

व्रजी मे व्रजवासी कवियो ने 'मिठास' को पुलिग रखा है। यह पश्चिम मे पुलिग है, पूर्व मे स्त्रीलिग—

कितो मिठास दयौ दई इते सलोने रूप।

यह सब तो है पर इन्होने पूर्वी अर्थ मे किसी शब्द का व्यवहार नही किया है। यदि कोई शब्द पूर्व और पश्चिम दोनो मे अर्थभेद से प्रयुक्त होता है तो इन्होने उसे पश्चिमी अर्थ मे ही प्रयुक्त किया है, जैसे 'सुघर' शब्द। इसका अर्थ पश्चिम मे 'चतुर' होता है और पूर्व मे 'सुन्दर'। सतसैया के पुरबिहा टीकाकारो ने इसका सुन्दर अर्थ दिया है—

अग अग करि राखी सुघर नायक नेह सिखाय।

यहाँ 'सुघर' का 'चतुर' अर्थ ही अच्छा घटता है।

भापा भावो-विचारो को व्यक्त करती है। भावो-विचारो को व्यक्त करने के लिए भापा चाहे जो हो तो ठीक है, पर चाहे जैसी हो ठीक नही। उसे भाव-विचार के अनुरूप होना चाहिए। बिहारी की भापा बहुत चुस्त है। इतनी ठोस या प्रौढ भाषा लिखने वाले हिन्दी मे कम हुए हैं। व्याकरण की व्यवस्था भी भापा मे अपेक्षित है, इस पर कम कवियो ने ध्यान दिया। विहारी के वाद मतिराम, पद्माकर, दास, घनआनन्द, द्विज-देव आदि थोडे-से ही कवि ऐसे है जो व्याकरणसम्मत भाषा लिखते थे। सतसैया मे कही-कही कर्ता क्रिया से दूर जा पडा है, पर यह छन्द की विवशता है—

१ गड़े वडे छबि-छाक छकि छिगुनी-छोर छुटै न।
रहे सुरग रग रगि उही नह दी महदी नैन॥
२ ये कजरारे कौन पर करत कजाकी नैन।

पहले उदाहरण मे 'गडे' क्रिया आदि मे है और 'नैन' कर्ता एकदम अन्त मे। दूसरे मे भी 'नैन' विशेष्य 'कजरारे' विशेषण से कुछ दूर है।

लक्षणा की वहुत-सी वाते भापा के भीतर ही आती है, मुख्यतया रूढ प्रयोग जिनमे मुहावरे भी है। गुण, वृत्ति, रीति आदि एक प्रकार मे भाषा के ही विचार है। भापा का आलकारिक गुण देखा जाय तो इन्होने अनुप्रास की योजना बहुत सावधानी से की है। कही-कही तो प्रसगानुकूल झकृति भी है। आजकल अग्रेजी भाषा की अनुकृति पर इस झकृति की वडी महिमा है। झरने के वर्णन मे ऐसी शब्दावली रहे जिससे प्रपात की-सी ध्वनि निकलती हो। किसी के आभूपणो की ध्वनि-सी छन्द से ध्वनि निकले, जैसे तुलसीदास की इस अर्धाली मे—

ककन-किकिन-नूपुर-धुनि सुनि। कहत लखन सन राम हृदय गुनि॥

ककन-किकिन' आदि शब्द ऐसे है जिनसे उन आभूपणो की-सी ध्वनि भी निकल रही है। विहारी मे भी यह गुण है—

रनित-भृ ग-घटावली झरित दान-मद-नीर।
मद मद आवत चल्यौ कुजर कुज-समीर॥

इससे घटा वँधे हाथी के चलने और वायु के सचरित होने की ध्वनि निकलती है।

इनमे विरोध वृत्ति भी मिलती है, पर घनआनन्द-सी नही—

तो भागनि पूरब उयौ अहो! अपूरब चद।

रुखाई और चिकनाई का विरोध तो सतसैया मे कई स्थानो पर है।

नेह-भरे हिय राखियै तउ रुखियै लखाय।

व्रजभापा समास-वहुला भापा नही, इसलिए उसमे सामासिक पदावली की अधिकता अच्छी नही। कवि स्तुति या रूपवर्णन आदि मे सामासिक पदावली लाते है और अधिकतर सस्कृत-पदावली का सहारा लेते हैं। विहारी ने व्रजी की प्रकृति के अनुरूप छोटे-छोटे समास ही रखे है। भाषा मे कसावट लाने के लिए और भापा की व्यजकता बढाकर छोटे साँचे मे अधिक भाव भरने के लिए सामासिक पदावली का सहारा लेना विहारी के लिए आवश्यक था। सामान्यत विहारी ने तीन-चार-पदो तक के ही समास

रखे। पर सामासिक पदावली के कारण धारा मे अर्थ की अभिव्यक्ति मे कोई अडचन नही हुई है—

बिकसित नवमल्ली-कुसुम-निकसित परिमल पाय।
सारद - बारद - बीजुरी भा रद कीजति लाल ॥

पर कही-कही इससे भी लबे समास हो गए है, फिर भी किसी प्रकार की क्लिष्टता नही, जैसे—

समरस-समर-सकोच-बस-बिबस न ठिक ठहराय।
बन-विहार-थाकी-तरुनि - खरे - थकाए नैन ॥

कुछ लोग 'तरुनि' के बाद 'खरे-थकाए' को अलग रखते है।

लाक्षणिक प्रयोगो मे मुहावरो पर आइए। मुहावरे भी एक प्रकार के लाक्षणिक प्रयोग ही है, पर रुढ। इनमे मुहावरो की बदिश अच्छी है। इनकी कविता पर मुसलमानी लाक्षणिकता का भी कुछ प्रभाव पडा है। यहाँ मुहावरो का प्रचलन अपेक्षाकृत कम रहा है, पर बाहरी प्रभाव से उनका प्रयोग बढा। इन्होने अधिकतर लाक्षणिकता ब्रजी की प्रकृति के अनुरूप ही रखी है। घनआनन्द आदि मे बाहरी रग-ढग कुछ विशेप है, पर उन्होने भी ब्रजी की प्रकृति के विरुद्ध जाने का प्रयास नही किया। इन लोगो की मुहावरे-बदिश मे बाहरी प्रभाव वहाँ स्पष्ट जान पडने लगता है जहाँ मुहावरो को लेकर ही कलाबाजी की जाती है—

मूड चडाएऊ रहै परयौ पीठि कच-भार।
रहै गरे परि राखियै तऊ हियें पर हार ॥

'मूड चढाएँ', 'परयौ पीठि', 'गरे परि' और 'हिये पर' की मुहावरे-बदिश से जो दोहरे अर्थ—वाच्यार्थ एव लक्ष्यार्थ—निकाले गए है सो मुसलमानी प्रभाव से। पर सतसैया मे ऐसे दोहे बहुत कम मिलेगे। जहाँ मुहावरो का विदेशी विन्यास मिलता भी है वहाँ वह अपने यहाँ की पद्धति के अनुकूल और स्वाभाविक है। जैसे—

जब जब वै सुधि कीजियै तब तब सब सुधि जाहिं।
आँखिन आँखि लगी रहै आँखैं लागति नाहिं ॥

इसमे कलाबाजी विरोध-मुहावरो को लेकर है, स्वाभाविक है। लाक्षणिक प्रयोग असगति मे कैसे साधक हैं—

दृग उरझत टूटत कुटुम जुरति चतुर-चित प्रीति।
परति गाठि दुरजन-हियें दई नई यह रीति ॥

चलते मुहावरो का यह व्यवहार देखिए—

खरी पातरी कान की कौन बहाऊ बानि।
आक-कली न रली करै अली अली जिय जानि ॥

शब्दरूपो पर भी थोडा विचार करना चाहिए। इन्होने कुछ शब्द तो पुराने रखे है, जैसे लोयन, बिय आदि। पर ऐसे शब्द अधिक नही है। बिहारी पर सबसे बडा दोप कुछ लोगो ने यह लगाया कि इन्होने शब्दो को बहुत तोडा-मरोडा है। कवि भापा की प्रकृति के अनुसार शब्द गढते है। 'स्मर' को 'समर' करना तो कुछ नही, पर 'ज्यौ-ज्यौं'

के लिए 'जज्यौ' 'त्यौ-त्यौ' के लिए 'तत्यौ' ठीक नही, ऐसे ही 'कै कै' के स्थान पर 'ककै' । पर इन्हे छदानुरोध से ही कही-कही ऐसा करना पडा है । इनकी भाषा मे लोग जैसा तोड मरोड दिखलाते है वैसा है नही ।

विहारी की भाषा चलती होने पर भी साहित्यिक है । वाक्य-रचना व्यवस्थित है और शब्दो के रूपो का व्यवहार एक निश्चित प्रणाली पर है । यह बात बहुत कम कवियो मे पायी जाती है । ब्रजभाषा के कवियो मे शब्दो को तोड-मरोडकर विकृत करने की आदत बहुतो मे पायी जाती है । 'भूषण' और 'देव' ने शब्दो का बहुत अग-भग किया है और कही-कही गढत शब्दो का व्यवहार किया है । बिहारी की भाषा इस दोष से बहुत कुछ मुक्त है । दो-एक स्थल पर ही 'स्मर' के लिए 'समर', 'ककै' ऐसे कुछ विकृत रूप मिलेगे । जो यह भी नही जानते कि सक्राति को सक्रमण (अपभ्रश 'सक्रोन') भी कहते है, 'अच्छे' साफ के अर्थ मे सस्कृत शब्द है, 'रोज' रुलाई के अर्थ मे आगरा के आसपास बोला जाता है और कबीर, जायसी आदि द्वारा बराबर व्यवहृत हुआ है, 'सोनजाइ' शब्द 'स्वर्णजाती' से निकला है—जुही से कोई मतलब नही, सस्कृत मे 'वारि' और 'वार' दोनो शब्द है और 'वार्द' का अर्थ भी बादल है, 'मिलान' पडाव या मुकाम के अर्थ मे पुरानी कविता मे भरा पडा है, चलती ब्रजभाषा मे 'पिछानना' रूप ही आता है, 'खटकति' का रूप बहुवचन मे भी यही रहेगा, यदि पचासो शब्द उनकी समझ मे न आएँ तो बेचारे विहारी का क्या दोष[1] ।'

सतसैया के शब्दरूपो एव विभक्तियो पर विचार कीजिए । 'ए' का 'ऐ' और 'ओ' का 'औ' उच्चारण तो अधिक विचार की बात नही, ब्रजभाषा-प्रदेश या पुराने साहित्य मे गृहीत रूपो और इनमे कोई विभेद नही । इसलिए 'कीजियौ, गयौ, कह्यौ' आदि क्रियापद के रूप तथा विभक्तियो के 'मैं, कौ, सौ, तैं' आदि रूप विशेष विचारणीय नही । दोनो प्रकार के रूपो मे से सज्ञा और क्रिया के रूपो मे हस्तलेखो मे यह अतर अवश्य है कि 'औकारात' रूप सज्ञा शब्दो के कम मिलते है । सबसे पहले पूर्वकालिक क्रियाओ के रूपो पर विचार करना चाहिए । 'समुझाइ, दिखाइ, बसाइ' आदि मे रूप 'स्वरात' है अर्थात् इनके अत मे 'इ' है । पर ब्रज का उच्चारण या ब्रजभाषा मे पूर्वकालिक क्रिया का रूप व्यजनात या यकारात होता है अर्थात् समुझाय, दिखाय, बसाय आदि रूप होने चाहिए । 'इ' वाली प्रवृत्ति अवधी की है । तो क्या बिहारी ने यहाँ भी अवधी के ही रूप स्वीकृत किए है । अवधी का ब्रजी पर इतना अधिक प्रभाव उस समय नही था, पीछे चाहे जो हो गया हो । इसलिए ये रूप पुरानी परम्परा के द्योतक माने जाएँगे, जो बहुत दिनो से चले आ रहे थे । अपभ्रश मे 'इ' वाले रूप होते है ।

अब बहुवचन रूप लीजिए । पुरानी भाषा मे बहुवचन रूप 'न' लगने से बनते है । इन्ही के 'निकारात' और 'नुकारात' रूप भी मिलते है , जैसे दृगन, दृगनि, दृगनु । ऐसे रूपो के सम्बन्ध मे विचारना यही है कि कौन-सा रूप व्याकरणसम्मत होगा । नकारात और निकारात रूप तो ब्रजभाषा मे बराबर आते है, पर नुकारात कम मिलते है । 'बिहारी-

---

१ हिन्दी साहित्य का इतिहास—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ।

रत्नाकर' मे नुकारात रूप ही रखे गए हैं। टीकाकार ने गणना करके यह देखा कि नुकारात रूप हस्तलिखित प्रतियो मे अधिक है। इसलिए उन्होने इसे ही बिहारी-स्वीकृत रूप माना। उनका कहना है कि एकवचन मे 'उकारात' रूप होते है, इसलिए वहुवचन मे भी 'नकारात' रूपो मे 'उ' लगाना ठीक है। इस विपय मे विचारणीय बात यह है कि 'अकारात' पुलिग शब्दो के ही एकवचन मे और कर्ता एव कर्म कारको मे 'उकारात' रूप होते है। यह सस्कृत के विसर्ग का ही 'ओ' होकर लघु हुआ रूप है। इसलिए अकारात पुलिग शब्द के एकवचन तथा कर्ता एव कर्म कारक मे 'उ' हो सकता है। उसके विशेषणो और कृदत विशेषणो मे भी 'उ' ठीक है—रहतु, चलतु आदि। पर वहुवचन मे इस 'उ' का पहुँचना विचार करने योग्य है। काव्य मे ऐसे रूप नही मिलते या कम मिलते है। इसलिए यह भ्रममात्र जान पडता है। अपभ्रश के वहुवचन मे अकारात या आकारात रूप ही बनते थे—

अद्धा वलया महिहि गय अद्धा फुट्टि तडत्ति।

इसमे आकारात रूप मिलता है जो सस्कृत के 'आ' से विसर्ग-लोप के कारण बना माना जायेगा।

प्रश्न होता है कि बहुवचन का 'न' आया कहाँ से। यह नपुसक लिग के 'नि' से आया है। इसी का घिसा रूप 'न' है। इसलिए 'नकारात' या 'निकारात' रूप अधिक व्याकरणसम्मत है। इसके अतिरिक्त नियमानुसार 'नि' रूप का प्रयोग प्रथमा और द्वितीया मे ही होना चाहिए। पर इसका प्रयोग अन्य कारको मे भी होता है। कही सामान्य कारक की 'हिं' विभक्ति का घिसा रूप 'इ' न आ लगा हो।

अब कारणसूचक रूपो पर विचार कीजिए। चले, जाएँ, लखे आदि के सम्वन्ध मे कुछ नही कहना है। अपभ्रश मे ऐसे रूप मिलते है। पर कुछ लोग निरनुनासिक रूप भी लिखते है। कारणसूचक शब्दो के अतिरिक्त जहाँ किसी कारक-चिह्न का लोप है वहाँ भी रत्नाकरजी ने इसी प्रकार के रूप रखे है—

सोधे कें डोरें लगी अली चली सग जाय।

इसमे 'डोरें' का अर्थ है 'डोरे मे'। 'डोरें' को तो 'हिं' या 'ह' के घिसे रूप से बना मान लिया जायेगा, पर 'डोरें' के पहले 'कें' सम्वन्ध-चिह्न भी अपना वेश वदले हुए है। वस्तुत सानुनासिकता आगे के लोप को व्यक्त करती है। जहाँ-जहाँ शब्द के वाद विभक्ति का लोप होता है वहाँ-वहाँ सम्बन्ध का चिह्न सानुनासिक हो जाता है।

मकराकृति गोपाल कें सोहत कुडल कान।

'कें' या 'के' का सम्बन्ध 'कान' से है—'गोपाल के कान मे'। इसी प्रकार शब्द-लोप होने पर भी 'के', 'कें' या 'कैं' हो गया है—

रोज सरोजन कें परै हसी ससी की होय।

यहाँ 'सरोजन कें' का अर्थ होगा—'सरोजो के यहाँ' या 'सरोजो के निमित्त'। और साफ उदाहरण यह है—

जेती सपति कृपन कें तेती सूमति जोर।

'कृपन कें' का अर्थ है 'कृपण के पास'।

इसी 'कै' का जोडीदार 'सै' भी है, जिसका विहारी-रत्नाकर मे कई जगह प्रयोग किया गया है। यह 'सी ही' का विकृत रूप बताया जाता है। अन्य पुस्तको मे इसका रूप 'सी' ही मिलता है।

सटपटाति सी ससिमुखी मुख घूघट-पट ढाकि।

'सटपटाति सी' का अर्थ होगा 'सटपटाती हुई सी'। सभावना और समता दोनो का बोध कराने के लिए 'सी' का प्रयोग होता है। यहाँ सभावना के लिए 'सी' का प्रयोग हुआ है।

त्यौ त्यौ छुही गुलाब सै छतिया अति सियराति।
चढी हिडोरे सै रहै लगी उसासनि साथ ॥

'छुही गुलाब सै' का अर्थ—'गुलाब से छुही हुई सी, सिची हुई सी' और 'चढी हिडोरे सै' का अर्थ हे—'हिडोले पर चढी हुई सी'।

विहारी की भाषा व्याकरण से गठी हुई है, मुहावरो के प्रयोग, साकेतिक शव्दावली और सुष्ठु पदावली (डिक्शन) से सयुक्त है। भापा प्रौढ एव प्राजल है। इसके अतिरिक्त विपय के अनुरूप भी इनकी भापा अपना रूप वदल दिया करती है। यदि किसी नागरिक-नायिका का वर्णन आएगा तो उसकी शव्दावली दूसरे ढग की होगी, ग्रामीण स्त्री का वर्णन होगा तो उसकी शब्दावली तुरत वदल जायगी। विहारी का भापा पर अच्छा और सच्चा अधिकार था।

विहारी की निपुणता

रामसागर त्रिपाठी

कवि की वाणी चारो ओर को स्फुरित होती है। उसे अप्रस्तुत योजना के लिए शास्त्र और लोक दोनो ओर को हाथ फैलाना पडता है। मुक्तक काव्य मे तो निपुणता और अधिक अपेक्षित होती है। कारण यह है कि प्रवन्ध काव्य मे कथा का आश्रय लेकर कवि वढता चला जाता है। प्रस्तुत उसके सामने सर्वदा सन्निहित रहता है। उसे व्युत्पत्ति की आवश्यकता कथासूत्र-गुम्फन और अप्रस्तुत-विधान मे ही पडती है। इसके प्रतिकूल मुक्तक काव्य की प्रवृत्ति ही व्युत्पत्ति के आवार पर होती है। जो कवि जितना व्युत्पन्न होगा उतने ही अर्थ उसके सामने स्फुरित होगे और उतना ही कौशल वह अपनी रचना मे दिखला सकेगा।

हम विहारी के ज्ञान को तीन रूपो मे विभक्त कर सकते है—

(१) शास्त्रो का ज्ञान, (२) इतिवृत्त का ज्ञान और (३) लोक-वृत्त का ज्ञान।

ज्योतिष

शास्त्र-ज्ञान के अन्दर विहारी ज्योतिष मे विशेप निष्णात प्रतीत होते है। इन्होने ज्योतिष के गहन सिद्धान्तो का प्रश्रय अपनी कविता मे लिया है। ये सिद्धान्त ऐसे नही है जिनको सर्वसाधारण मे प्रचलित कहा जा सके। सम्भवत विहारी ने ज्योतिप का अच्छा अध्ययन किया था अथवा ज्योतिषियो के निकट सम्पर्क मे रहे थे। जातक सग्रह के राजयोग प्रकरण मे लिखा है कि यदि शनिश्चर तुला, धनु या मीन मे हो अथवा लग्न मे पडा हो तो वह स्वय राजा होता है तथा राजवश का करने वाला होता है। ज्योतिष के इस सिद्धान्त को लेकर विहारी ने निम्नलिखित दोहा लिखा है—

सनि-कज्जल चख-झख लगन उपज्यौ सुदिन सनेहु।
क्यौ न नृपति ह्वै भोगवै लहि सुदेसु सबु देहु॥

नेत्र-रूपी मीन की लगन (लग्न तथा लगालगी) मे स्नेह-रूपी बालक का जन्म हुआ है। अतएव यह स्नेह-रूपी बालक सारे शरीर-रूपी देश पर शासन कर रहा है। इसी प्रकार एक दूसरा सिद्धान्त है कि यदि मगल, चन्द्रमा और बृहस्पति एक ही नाडी

के चारो नक्षत्रो मे से किसी एक पर पडे हो तो इतनी वर्षा होती है कि ससार जलमय हो जाता है। निम्नलिखित दोहे मे मस्तक पर लगी लाल बिन्दी को मगल माना गया है, मुख को चन्द्रमा माना गया है और केशर के पीले तिलक को बृहस्पति माना गया है। इसी मे तीनो एक ही नारी (नाडी या स्त्री) मे विराजमान है अतएव नेत्ररूपी ससार रसमय, प्रेममय या जलमय हो गया है—

मगलु बिदु सुरंग, मुख ससि, केसरि-आड़ गुरु।
इक नारी लहि सग, रसमय किय लोचन जगतु॥

इसी प्रकार एक और सिद्धान्त है कि यदि चन्द्र के अन्दर कोई सौम्य ग्रह पडा हो और वह केन्द्र मे, ग्यारहवे स्थान पर अथवा त्रिकोण मे विद्यमान हो तो धनागम, राजमान, सतान-प्राप्ति इत्यादि अनेक सुख प्राप्त होते है। इस सिद्धान्त की छाया निम्न-लिखित दोहे पर पडी है—

तिय-मुख लखि हीरा-जरी बेंदी बढै विनोद।
सुत सनेह मानौ लियौ विधु पूरन बुध गोद॥

यहाँ पर स्त्री के मुख मे हीरा जडी वेदी को चन्द्र के अन्दर बुध का योग माना गया है। स्त्री का स्थान सप्तम है। अतएव यह सख्या केन्द्रगत हो गई है। सखी का अभिप्राय यह है कि यह समय अनेक सुख, पुत्र, वित्तादि की प्राप्ति के लिए उपयुक्त है। इसी प्रकार निम्नलिखित दोहे मे कवि ने मगल के अन्दर चन्द्र की अन्तर्दशा पर ध्यान दिलाया है जो कि दार-पुत्रादि अनेक सौख्यो का देनेवाला होता है—

भाल लाल बेंदी, ललन आखत रहे विराजि।
इन्दु कला कुज मैं बसी मनौ राहु भय भाजि॥

लाल विन्दी रूप मगल मे अक्षत रूप चन्द्रमा विराजमान है जो कि स्त्रीरूप सप्तम स्थान केन्द्र मे पडा हुआ है, अतएव अनेक सुखो का देने वाला है।

निम्नलिखित दोहे मे सक्रान्ति का सुन्दर वर्णन किया है—

तिय-तिथि तरुन-किशोर-वय पुण्यकाल-सर दोनु।
काहू पुन्यनु पाइयतु बैस-सन्धि संक्रौनु॥

इसी प्रकार निम्नलिखित दोहे मे कवि ने किसी तिथि की हानि होने का अच्छा वर्णन किया है—

गनती गनिवे तै रहे छत हूँ अछत समान।
अलि अब ए तिथि औम लौं परे रहौ तन प्रान॥

जिस तिथि मे प्रात काल सूर्य का उदय होता है वही तिथि दिन-भर मानी जाती है। कभी-कभी ऐसा हो जाता है कि सूर्योदय काल मे जो तिथि होती है वह केवल चार-छ पल वाद वदल जाती है और दूसरे दिन प्रात काल सूर्योदय के पहले समाप्त हो जाती है। वह तिथि यद्यपि विद्यमान रहती है तथापि न विद्यमान रहने के समान मानी जाती है। यहाँ पर इसी की उपमा दी गई है।

आयुर्वेद

विहारी ने आयुर्वेद के चलते हुए सिद्धान्तो का वर्णन किया है। निम्नलिखित

दोहे मे विपम ज्वर के सुदर्शन चूर्ण द्वारा होने की वात कही गई है—

यह विनसतु नगु राखि कै जगत बड़ौ जसु लेहु ।
जरी विषम जुर जाइयै आइ सुदरसनु देहु ।।

निम्नलिखित दोहे मे ज्वर की तीव्रता और उसका रस से दूर होना वतलाया गया है—

हरि हरि बरि बरि उठति है करि करि थकी उपाइ ।
वाको जुरु, बलि बैंद, जौ तो रस जाइ, तु जाइ ।।

निम्नलिखित दोहे मे पारे से नपुसकता दूर होने की ओर सकेत किया गया है—

वहु धनु लै, अहसानु कै, पारौ देत सराहि ।
बैद-वधू हँसि भेद सौं रही नाह मुँह चाहि ।।

निम्नलिखित दोहे मे नाडी-ज्ञान, निदान इत्यादि की छाया पायी जाती है—

मैं लखि नारी-ज्ञानु करि राख्यौ निरधारु यह ।
वहई रोग-निदानु, वहै बैदु, औषधि वहे ।।

निम्नलिखित दोहे मे पीनस रोग का लक्षण वतलाया गया है—

सीतलतारु सुवास की घटै न महिमा मूरु ।
पीनसवारैं जो तज्यौ सोरा जानि कपूरु ।।

उपर्युक्त दोहो मे वैद्यक के किसी गहन सिद्धान्त का वर्णन नहीं किया गया है, केवल सर्वजन-सवेद्य तत्त्वो का ही उपादान हुआ है । किन्तु एक दोहे मे एक ऐसे सिद्धान्त का उपादान किया गया है जो सर्वजन-सवेद्य नही कहा जा सकता । आयुर्वेद मे शरीर-शोधन के लिए पचकर्म किए जाते है जिनमे स्नेहन भी एक है । इसमे रोगी को स्नेह-पान कराया जाता है । यदि स्नेहन क्रिया विगड जाती है तो रोगी का पेट पानी से भर जाता है और प्यास शान्त नही होती । धीरे-धीरे रोगी प्यास मे ही मर जाता है । इस तथ्य की छाया निम्नलिखित दोहे मे विद्यमान है—

नेहु न, नैननु कौ कछू उपजी बड़ी वलाइ ।
नीर-भरे नित प्रति रहै तऊ न प्यास वुझाइ ।।

दर्शन

बिहारी के दोहो मे कहीं-कहीं दार्शनिक विपयो की भी छाया पायी जाती है । कुछ तो साधारण विपय है और कुछ दोहो मे विशेषता भी है । निम्नलिखित दोहे मे प्रमाणवाद का उल्लेख किया गया है जो कि सर्वजन-सवेद्य नही कहा जा सकता—

बुधि अनुमान, प्रमान श्रुति किऐं नीठि ठहराइ ।
सूछम कटि पर ब्रह्म की अलख, लखी नहि जाइ ।।

किसी-किसी दोहे मे परमात्मा की व्यापकता इत्यादि सर्वजन-सवेद्य सुलभ सिद्धान्तो की छाया पायी जाती हैं—

भगवान् की व्यापकता मे—

मै समुझ्यौ निरधार, यह जगु काँचो काँच सौ ।
एकै रूपु अपार प्रतिबिम्बित लखियतु जहाँ ।।

एक तत्त्व की ही प्रधानता—

अपनें अपनें मत लगे बादि मचावत सोरु ।
ज्यौं त्यौ सबकौं सेइबौ एकै नन्दकिसोरु ।।

योग तथा अद्वैतवाद—

जोग जुगति सिखए सबै मनौ महामुनि मैन ।
चाहत पिय अद्वैतता काननु सेवत नैन ।।

प्रत्यक्ष के बाधक—

जगतु जनाऔ जिहि सकलु, सो हरि जान्यौ नॉहि ।
ज्यौं ऑखिनु सबु देखिये ऑखि न देखी जॉहि ।।

व्यापकता तथा रहस्यमयता—

मोहन मूरति स्याम की अति अद्भुत गति जोइ ।
बसतु सु चित-अन्तर तऊ प्रतिबिम्बतु जग होइ ।।

राजधर्म

राजधर्म प्रकरण मे राज्य के सात अग माने जाते है—स्वामी, अमात्य, सुहृत, कोष, राष्ट्र, दुर्ग और बल । बिहारी ने एक दोहे मे शरीर के अगो की तुलना राज्य के अगो से की है—

अपने अग के जानि कै जोबन-नृपति प्रवीन ।
स्तन, मन, नैन, नितम्ब कौ बडौ इजाफा कीन ।।

इसी प्रकार छ उपाय माने जाते है—सन्धि, विग्रह, यान, आमन, मश्रय और द्वैधीभाव । एक दोहे मे बिहारी ने इन उपायो की ओर सकेत किया है—

क्यौंहूँ सहबात न लगे, थाके भेद उपाय ।
हठ दृढ गढ गढवै सु चलि लीजै सुरग लगाइ ।।

नायक और नायिका का विग्रह तो चल ही रहा है, सन्धि के सारे उपाय व्यर्थ हो गये है । भेद के उपाय, जिनमे द्वैधीभाव तथा सश्रय आ जाते है थक चुके है, नायिका हठ रूप गढ मे सुरक्षित है । यही उपाय 'आसन' के नाम से अभिहित किया जाता है। अब उस पर विजय प्राप्त करने का यही उपाय रह गया है कि 'यान' कर (प्रेमरूपी सुरग लगाकर) उस पर अधिकार कर लिया जाय । इस प्रकार एक ही दोहे मे बिहारी ने सभी उपायो का निर्देश कर दिया है ।

ऊपर राजनीतिज्ञता के उदाहरण दिये गए है । इसके अतिरिक्त कतिपय दोहो मे इनके युद्ध-विद्या-सम्बन्धी ज्ञान का भी पता चलता है । युद्ध के लिए जब सेनाएँ प्रस्थान करती है तब उसके आगे चलने के लिए सेना की छोटी टुकडी भेजी जाती है जिससे मुख्य सेना सुरक्षित रहे और उस सेना की आड से शत्रु पर प्रहार करे । सेना के इस भाग को 'हरौल' कहते हे । जब शत्रु-पक्ष की मुख्य सेनाएँ सबल होती है तब हरौल की उपेक्षा कर तत्काल मुख्य सेना पर जा पहुँचती है । बिहारी ने घूँघट के पतले परदे को हरौल माना है और नायक-नायिका के नेत्रो को मुख्य सेना । जिस प्रकार मुख्य सेना हरौल का अतिक्रमण कर शत्रु की मुख्य सेना पर जा टूटती है उसी प्रकार घूंघट पट का

अतिक्रमण कर दोनो के नेत्र जा मिले—

जुरे दुहुन के दृग झमकि रुके न झीनै चीर।
हलुकी फौज हरौल ज्यौं परे गोल पर भीर॥

एक दूसरे और दोहे से भी बिहारी की युद्ध-विद्या का ज्ञान प्रकट होता है—

लखि दौरत प्रिय-कर-कटकु बास-छुड़ावन-काज।
बरुनी-बन गाढ़ै दृगनु रही गुढौ करि लाज॥

जिस प्रकार जब शत्रु सेना आवास छुडाने का आक्रमण कर रही हो तब कोई दुर्बल प्रतिपक्षी वन मे बने हुए अपने किसी निवास-स्थान मे छिपा रहता है उसी प्रकार जब प्रियतम का हाथ-रूपी सैन्यदल नायिका के बास (वस्त्र) को छुडाने के लिए दौडने लगा तब नायिका की लज्जा बरुणी-रूपी जगल मे नेत्र-रूपी गुप्त आवासस्थान मे छिप रही।

विज्ञान

एक-दो दोहो मे बिहारी के वैज्ञानिक ज्ञान की भी छाया पायी जाती है। जब किसी औषधि का अर्क खीचना होता है तब उसे पहले पानी मे डुबा देते है, फिर किसी बर्तन मे भरकर उसे आग पर चढा देते है और नीलाभ यन्त्र से उसका सम्बन्ध एक दूसरे बर्तन से कर देते है। औषधि पात्र का जल औषधि का सार लेकर भाप बनकर उडता है और नीलाभ यन्त्र के द्वारा दूसरे बर्तन मे पहुँचकर पानी बनकर टपक जाता है। बिहारी ने इसी क्रिया का उपादान आँसुओ के वर्णन के प्रसग मे किया है—

तच्यौ आँच अब बिरह की, रह्यौ प्रेम-रस भीजि।
नैननु कै मग जलु बहै हियौ पसीजि पसीजि॥

हृदय प्रेम-रस मे भीगा हुआ है और वियोगाग्नि से सन्तप्त किया गया है। इस प्रकार हृदय नेत्रो के मार्ग से पसीज-पसीजकर पानी के रूप मे बहता है।

दो-एक दोहो से रगो के समिश्रण के भी ज्ञान का पता चलता है। प्रथम दोहे मे ही पीले और नीले रग को मिलाकर हरे रग बन जाने की बात कही गई है। एक दूसरे दोहे मे धूप-छाँह का वर्णन है—

छूटी न सिसुता की झलक, झलक्यौ जोबनु अंग।
दीपति देह दुहुन मिलि दिपति ताफता-रंग॥

दो दोहो मे गणित के ज्ञान की छाया पायी जाती है। एक दोहे मे बिन्दु से दस गुने अक हो जाने की बात कही गई और दूसरे दोहे से टेढी बकारी लगाने से दस का रुपया हो जाने की ओर सकेत किया गया है।

कर्मकाण्ड

दो-एक दोहो पर बिहारी के कर्मकाण्डविषयक ज्ञान की भी छाप पायी जाती है। बिहारी ने निम्नलिखित दोहे मे यज्ञ की ओर सकेत किया है—

होमति सुखु, करि कामना तुमहिं मिलन की, लाल।
ज्वालमुखी सी जरति लखि लगनि-अगन की ज्वाल॥

इसी प्रकार एक दूसरे दोहे मे पाणिग्रहण सस्कार की छाया अधिगत होती है—

स्वेद सलिलु, रोमाच कुसु गहि दुलही अरु नाथ ।
दियौ हियौ संग हाथ के हथलेवैं ही हाथ ।।

कामशास्त्र

कामशास्त्र का ज्ञान भी शास्त्रीय ज्ञान मे ही आता है । विहारी का दन्त-क्षत, नख-क्षत, विपरीत रति इत्यादि का वर्णन कामशास्त्रीय ज्ञान के अन्दर सन्निविष्ट हो जाता है । निम्नलिखित दोहे मे कामशास्त्र-सम्बन्धी अनेक आसनो की छाया लक्षित होती है—

पलनु पीक, अजनु अधर, धरै महावरु माल ।
आज मिले सुभली करी भले बने ही लाल ।।

अन्य शास्त्र

इसी प्रकार प्रेम-दर्शन की अनेक चेष्टाएँ भी कामशास्त्रीय पद्धति पर गणित की गई हैं और इनसे बिहारी का कामसूत्रो का अध्ययन प्रकट होता है । इसके अतिरिक्त कतिपय दोहो से प्रतीत होता है कि बिहारी अश्वशास्त्र तथा रत्न-परीक्षा इत्यादि विषयो मे भी रुचि रखते थे । इन दोहो से यह तो सिद्ध नहीं होता कि बिहारी इन विषयो मे पूर्ण निष्णात थे और उन्होने इन विपयो का गम्भीर अध्ययन किया था, किन्तु इनसे इतना अवश्य सिद्ध होता है कि बिहारी की रुचि अनेक शास्त्रो मे थी और अध्ययनशीलता जो कि कवि का एक अपेक्षित गुण है इनमे विद्यमान थी । साथ ही कवि ने किसी भी दोहे मे किसी ऐसे गम्भीर सिद्धान्त के विश्लेषण करने की चेष्टा नही की जिससे अर्थबोध मे दुरुहता उत्पन्न होती और रसास्वादन व्याहत हो जाता ।

बिहारी का ऐतिह्य ज्ञान

ऐतिह्य ज्ञान को हम तीन भागो मे विभक्त कर सकते है—

(१) महाभारत का ज्ञान, (२) रामायण का ज्ञान और (३) पौराणिक कथाओ का ज्ञान । राजशेखर तथा क्षेमेन्द्र ने अपने ग्रन्थो मे इस प्रकार के ऐतिह्य ज्ञान की आवश्यकता पर वल दिया है । बिहारी के दोहो मे तीनो प्रकार के ज्ञान की छाया पायी जाती है । द्रौपदी का चीर-हरण महाभारत की प्रसिद्ध कथा है । बिहारी ने अवधि को दु शासन माना है और विरह को द्रौपदी का चीर । कोई नायिका सखी से कह रही है कि अवधि-रूपी दु शासन विरह-रूपी द्रौपदी के चीर को खीचता जा रहा है, उसे अन्त नही मिलता—

रह्यौ ऐंचि, अन्तु न लहै अवधि-दुसासनु बीरु ।
आली, बाढतु विरहु ज्यौं पाचाली कौ चीरु ।।

महाभारत की दूसरी कथा है कि दुर्योधन जल-स्तम्भन की विद्या जानता था। अन्त मे जब उसके वर्ग के सभी वीर मारे गये तब वह जल मे जाकर छिपा था । इस कथा की निम्नलिखित दोहे मे छाया विद्यमान है—

विरह-विथा-जल परस बिनु बसियतु मो-मन-ताल ।
कछु जानत जल-थम्भ विधि दुर्योधन लौं, लाल ।।

दुर्योधन जलमे बैठा था किन्तु जल-स्तम्भ की विद्या के प्रभाव से स्पर्श जल से नही

होता था। इसी प्रकार नायक-नायिका के हृदय मे विरह-रूपी दुर्योधन निवास करता है। किन्तु आश्चर्य है कि उसका स्पर्श किसी तरह से नही हो पाता। इसी प्रकार दुर्योधन को वरदान था कि जब उसे हर्ष और शोक समान मात्रा मे होगा तभी उसकी मृत्यु होगी। अश्वत्थामा ने जब उसके वंश के अन्तिम बीज पाण्डवो के पाँच पुत्रो के सिर काट लिये तब उसे हर्ष और शोक समान मात्रा मे हुआ था। इसका वर्णन निम्नलिखित दोहे मे किया गया है—

पिय-बिछुरन कौ दुसहु दुखु हरखु जात प्यौसार।
दुरजोधन लौं देखियति तजति प्रान इहिं बार॥

दो-एक दोहो मे रामायण के ज्ञान की भी छाया पायी जाती है। कहा जाता है कि जब हनुमान समुद्र कूद रहे थे तब समुद्र में रहनेवाली राक्षसी ने हनुमान कीछाया पकड ली जिससे हनुमान रुक गये और कठिनाई से पार जा सके। बिहारी ने ससार-सागर को पार करने मे स्त्री को छाया-ग्राहिणी राक्षसी माना है जिसके कारण सरलता-पूर्वक कोई भी भवसागर के पार नही जा सकता—

या भव-पारावार कौ उलघि पार को जाइ।
तिय-छवि-छायाग्राहिनी ग्रहै बीच ही आइ॥

एक दोहे मे सीता की अग्नि-परीक्षा की भी छाया पायी जाती है—

बसि सकोच-दसबदन-बस, साँचु दिखावति बाल।
सिय लौं सोधति तिय तनहिं लगनि-अगनि की ज्वाल॥

निम्नलिखित दोहे मे जटायु के उद्धार का वर्णन किया गया है—

कौन भाँति रहिहै बिरदु अब देखिबी, मुरारि।
बीधे मोसे आइ कै गीधे गीधहिं तारि॥

दूसरी पौराणिक गाथाओ का भी समावेश 'बिहारी सतसई' मे पर्याप्त रूप मे पाया जाता है। मदन-दहन की प्रसिद्ध पौराणिक कथा की छाया निम्नलिखित दोहे मे पायी जाती है—

मोर-मुकुट की चन्द्रिकनु यौ राजत नदनंद।
मनु ससिसेखर की अकस किय सेखर सत चद॥

इसी प्रकार वामनावतार की कथा की छाया बिहारी के निम्न दोहे मे पायी जाती हे—

छ्वै छिगुनी पहुँचौ गिलत अति दीनता दिखाइ।
बलि बावन कौ ब्यौंतु सुनि को, बलि, तुम्हैं पत्याइ॥

गज-ग्राह की कथा की ओर भी एक दोहे मे सकेत किया गया है—

नीकी दई अनाकनी, फीकी परी गुहारि।
तज्यौ मनौ तारन-बिरदु बारक बारनु तारि॥

एक दोहे मे शकरजी के मस्तक पर चन्द्र और विष्णु भगवान् के वक्ष स्थल पर लक्ष्मीजी के निवास की पौराणिक कल्पना का सुन्दरता के साथ उपादान किया गया है—

प्रनप्रिया हिय मे बसै, नखरेखा ससि भाल।
भलौ दिखायौ आइ यह हरि-हर-रूप, रसाल ॥

पुराणो मे चन्द्र से बुध की उत्पत्ति मानी गई है। बिहारी ने निम्नलिखित दोहे मे इस पौराणिक कथा के आधार पर सुन्दर कल्पना की है—

तिय मुख लखि हीरा-जरी बेंदी बढ़ै विनोद।
सुत-सनेह मानौ लियै बिधु पूरन बुध गोद ॥

लोक-वृत्त का ज्ञान

कवि को शास्त्रीय ज्ञान के अतिरिक्त लोक का भी ज्ञान होना चाहिए। 'बिहारी सतसई' को देखने से अवगत होता है कि इन्हे अनेक प्रकार के आमोद-प्रमोद का भी ज्ञान था।

बिहारी कृषि के कार्यो को भी बहुत ध्यान से देखते थे। निम्नलिखित दोहा इसका उदाहरण है—

सनु सूक्यौ बीत्यौ बनौ, ऊखौ लई उखारि।
अरी हरी अरहर अजौं, धरि धरहरि जिय नारि ॥

बिहारी ने इस दोहे मे समाप्त होनेवाली फसलो का क्रमश उपादान किया है। पहले तो सन काटा जाता है, उसके वाद कपास का नम्बर आता है, फिर ईख समाप्त होनी है और उसके वाद अरहर काटी जाती है। कपास जव तैयार हो जाती है तव उसकी डोडियो को चुन लिया जाता है। इसका भी विहारी के निम्नलिखित दोहे मे वर्णन है—

फिरि फिरि बिलखी ह्वै लखति, फिरि फिर लेति उसासु।
साईं! सिर-कच-सेत लौं बीत्यौ चुनति कपासु ॥

भौरा आक के फूल पर नही वैठता। इस तथ्य की ओर भी बिहारी ने सकेत किया है—

खरी पातरी कान की, कौन बहाऊ बानि।
आक कली न रली करै, अली अली जिन जानि ॥

इसी प्रकार भौरा चम्पा के फूल पर नही बैठता। इस ओर भी बिहारी ने सकेत किया है—

जटित नीलमनि जगमगति सीक सुहाई नाक।
मनौ अली चम्पक कली, बसि रस लेत निसाक ॥

सेहुँड मे यह विशेपता होती है कि उसके दूध से किसी कागज़ पर पत्र लिख दिया जाय तो सूख जाने के वाद वे अक्षर दिखलाई नही देते। यदि वह कागज कही भेज दिया जाय तो कोई उसे कोरा कागज समझकर फेक देगा, किन्तु उसी कागज को कुछ आँच दिखला दी जाय तो वे समस्त अक्षर उभर आते है। हृदय एक कागज़ है जिस पर सेहुँड के दूध से लिखे हुए अक्षरो की भाँति प्रेम विद्यमान है और लक्षित नही किया जा सकता। विरह मे तपकर वही हृदय-रूपी पत्र प्रेम-रूपी सेहुँड के अको को प्रकट करने लगता है—

छतौ नेहु कागरु हियैं, भई लखाइ न टाँकु ।
बिरह तचै उघर्यौ सु अब सेंहुड कैसो आँकु ।।

इसी प्रकार सूरन का शाक यदि कच्चा रह जाता है तो मुख मे किसकिसाहट पैदा किया करता है। इस तथ्य के द्वारा बिहारीने सर्वगुण-सम्पन्न नायक की कच्चाई से दुःख होने की बात कही है—

ललन सलोने अरु रहे अति सनेह सौ पागि ।
तनक कचाई देत दुख सूरन लौ मुँहु लागि ।।

एक सामान्य विश्वास था कि कभी-कभी तेल इत्यादि के रहने पर भी दीपक की लौ मन्द पडने लगती है। उस समय समझा जाता है कि दीपक किसी पाहुने के आगमन की सूचना दे रहा है । वहाँ बैठे हुए लोग एक-एक विदेशी प्रेमी का नाम लेते है और जिसके नाम लेने पर दीपक भभककर जल उठता है लोग समझते है कि वही व्यक्ति आनेवाला है। बिहारी ने अप्रस्तुत-योजना के निमित्त इस विश्वास का उपादान नायिका की कृशता और नायक का नाम सुनकर एकदम भभक उठने के लिए किया है—

नैंक न जानी परति, यौं पर्यौ बिरह तनु छामु ।
उठति दियै लौं नादि, हरि, लियैं तिहारौ नामु ।।

बिहारी की शास्त्रीय दृष्टि

विजयेन्द्र स्नातक

बिहारी ने स्वतन्त्र रूप से काव्यशास्त्र-सम्बन्धी लक्षणग्रथ नही लिखा। सतसई उनका लक्ष्यग्रथ है। इस लक्ष्यग्रथ के पर्यवेक्षण से ही उनकी शास्त्रीय दृष्टि का बोध हो सकता है। सतसई के अध्ययन से यह स्पष्ट है कि बिहारी ने रीतिकाव्यो का विधिवत् परिशीलन करके सतसई का निर्माण किया था, अत लक्ष्यग्रथ होने पर भी कवि के अन्तर्मन मे लक्षणो के अनुरूप दोहे रचने की भावना सतत बनी रही है। दूसरे शब्दो मे यह कहना भी अयुक्त न होगा कि लक्षणो के अनुरूप लक्ष्य प्रस्तुत करना ही सतसई का ध्येय था। जिस काल मे बिहारी ने सतसई लिखी वह सस्कृत और हिन्दी-काव्य साहित्य मे लक्षणग्रथो के उत्कर्ष का समय था। हिन्दी मे तो कृपाराम, केशव, चिंतामणि आदि लक्षणग्रथकार हो चुके थे और सस्कृत की विशाल परम्परा के अन्तिम रससिद्ध कवि और आचार्य पडितराज जगन्नाथ भी उसी समय शास्त्र लिखने मे व्यस्त थे। पडितराज जगन्नाथ से बिहारी का व्यक्तिगत परिचय था। अत उनसे भी रीतिबद्ध काव्य-रचना की दिशा मे बिहारी ने अवश्य प्रेरणा ग्रहण की होगी। 'बिहारी सतसई' का समस्त रचना-विधान रीतिमुक्त न होकर आद्योपान्त रीतिबद्ध है—रीति की आत्मा ग्रथ मे इस तरह अनुस्यूत है कि बिहारी को रीतिकवियो मे प्रमुख स्थान मिला है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इसी आधार पर बिहारी को प्रमुख रीतिकवियो मे रखा है।

बिहारी का काव्यशास्त्र-विषयक दृष्टिकोण समझने के लिए सस्कृत के सुप्रसिद्ध अलकार, रस और ध्वनि सप्रदायो को ध्यान मे रखना होगा और इन्ही के आधार पर बिहारी के दोहो मे उपलब्ध शास्त्रीय सकेतो की परीक्षा करनी होगी।

अलकार सप्रदाय का प्रारम्भ सस्कृत साहित्य मे व्यापक अर्थ मे हुआ परन्तु परवर्ती काल मे अलकार का क्षेत्र सीमित होता गया और रस तथा ध्वनि-विषयक तत्त्वो को अलकार मे पृथक् करके देखा जाने लगा। परिणाम यह हुआ कि अलकार का काव्य मे ही वही स्थान रह गया जो शरीर के भूषण कटक, कुण्डल आदि का है। इसी कारण मम्मट ने अलकारो को काव्य का अनिवार्य तत्त्व नही माना। अलकारो की दृष्टि

से 'विहारी-सतसई' पर विचार करे तो यह निष्कर्ष सरलता से निकाला जा सकता है कि विहारी जैसे काव्य-शिल्पी कवि की कविता निरलकृत नही हो सकती किन्तु अलकारो का वर्णन उनका प्रधान ध्येय न होने से उसमे सभी प्रमुख अलकारो का भेद-प्रभेद-पूर्वक वर्णन नही मिलता। अलकारो के सम्बन्ध मे उन्होने अपना शास्त्रीय मत भी सतसई मे स्पष्ट व्यक्त किया है—

करत मलिन आछी छबिहि हरत जु सहज बिकास।
अंगराग अंगनु लगै, ज्यो आरसी उसास॥

स्वाभाविक सौन्दर्य को ऊपर से लादे हुए प्रसाधनो से कभी-कभी गहरी ठेस पहुँचती है। आभूपण सहज भूपण न रहकर अरुचिकर भी प्रतीत होने लगते है—

पहिरि न भूषण कनक के, कहि आवत इहि हेत।
दर्पण कैसे गोरचे, देह दिखाई देत॥

अलकार का प्रयोजन यही है कि वह प्रतीयमान अर्थ मे सौन्दर्य का आधान करे। यदि अलकार अर्थसौष्ठव या अर्थगौरव के सहायक नही होते तो उनकी उपयोगिता नष्ट हो जाती है—

जोवत परत समान दुति, कनक कनक से गात।
भूषन कर करकस लगत, परसि पिछाने जात॥

उपर्युक्त दोहो से कवि का आशय स्पष्ट है कि वह अलकारो को वही तक उपयोगी मानता है जहाँ तक वे प्रतीयमान अर्थ (रसध्वनि) मे विशेपता सपादन करते है। अलकारवादियो के समान ऊपर से लादे हुए अलकार व्यर्थ है। अत विहारी का दृष्टिकोण अलकार सप्रदाय के मेल मे नही बैठता और वे इस सप्रदाय से वाहर हो जाते है। उन्होने अलकार को काव्य का जीवित स्वीकार नही किया।

बिहारी को रसवादी स्वीकार करने वाले विद्वान् सतसई के दोहो मे रसयोजना पर विशेष बल देते हे और सतसई के अन्तिम दोहे मे, 'करी विहारी सतसई, भरी अनेक सवाद' मे 'सवाद' शव्द का 'रसास्वादन' अर्थ करके यह सिद्ध करना चाहते है कि विहारी रसास्वादन कराने के निमित्त ही सतसई की रचना मे लीन हुए थे। 'तत्रीनाद कवित्त रस, सरस राग रति रग' मे भी 'रस' के प्राधान्य की ओर इगित कर के बिहारी को रस सप्रदाय के अन्तर्गत रखने का प्रयत्न हुआ है। यदि रसध्वनि को काव्य की आत्मा मानकर बिहारी के काव्य मे रसध्वनि का सधान ही मुख्य माना जाय तो ध्वनि के माध्यम से बिहारी रस-सप्रदाय का स्पर्श अवश्य करते है। परन्तु रस उनका इष्ट साध्य नही हे। यदि उनके लक्ष्य (दोहो) की परीक्षा की जाए तो यह तथ्य और अधिक स्पष्ट हो जाएगा कि रसध्वनि के उदाहरणो की भरमार होने पर भी वे रस-सप्रदाय के पोपक न होकर ध्वनि-सप्रदाय के ही अनुगामी है। रसध्वनि, अलकारध्वनि और वस्तु-ध्वनि को ग्रहण करके विहारी ने सकेतित अर्थ को ही प्रधानता दी है अत उनकी अभिरुचि ध्वनि को अपने काव्य मे प्रधानता देने की ओर ही रही है, रस की ओर नही।

ध्वनि-सप्रदाय के सिद्धान्तो की कसौटी पर सतसई के दोहो को कसने से यह वात सिद्ध हो जाती है कि विहारी के शृगार विपयक दोहो मे भी ध्वन्यात्मकता ही प्रधान

है। अलकार या रस का प्रतिपादन उनका अन्तिम ध्येय नही है। ध्वनि के भेदो मे अविवक्षित वाच्यध्वनि प्रथम है। अभिधेयार्थ जान लेने पर भी तात्पर्यानुपत्ति होने पर शब्द से सम्बद्ध जिस दूसरे अर्थ की प्रतीति होती है, वह लक्ष्यार्थ कहलाता है, अभिधेयार्थ और लक्ष्यार्थ से भिन्न प्रयोजन की प्रतीति व्यजना वृत्ति के आधार पर होती है। जब व्यजना वृत्ति से प्रतीत होनेवाले अर्थ मे सौन्दर्य का पर्यवसान हो तो उसे अविवक्षित वाच्यध्वनि के नाम से अभिहित किया जाता है। इसके प्रमुख चार भेद है। विहारी ने अविवक्षित वाच्यध्वनि के सभी भेदो के सुन्दर उदाहरण सतसई मे प्रस्तुत किये है—

होमति सुखु करि कामना, तुमहिं मिलन की लाल।
ज्वालमुखि सी जरति लखि, लगनि अगनि की ज्वाल।।

इस दोहे मे 'सुख का होमना' अपने वाच्यार्थ मे बाधित है। लक्ष्यार्थ हुआ कि नायिका नायक के विरह मे दु खी रहती है, उसका सुख समाप्त हो गया है, व्यग्यार्थ हुआ कि नायिका के मुख उसी प्रकार भस्म हो गए है जैसे अग्नि मे पडने पर आहुति भस्म हो जाती है। यहाँ शब्दगत अत्यन्त तिरस्कृत ध्वनि है। इस ध्वनि के पचासो उदाहरण सतसई मे भरे पडे है। विहारी का निम्नलिखित प्रसिद्ध दोहा ध्वनि का बहुत सुन्दर उदाहरण है।

तन्त्रीनाद कवित रस, सरस राग रति रग।
अनबूडे बूडे तरे, जे बूडे सब अग।।

डूबना और तरना जलाशय आदि मे ही सभव है, कवित्तरस या तन्त्रीनाद जैसे अमूर्त तत्त्व मे नही। अत इनका अर्थ बाधित होकर रसास्वादन का बोध करता है। वाच्यार्थ मे अत्यन्त तिरस्कृत होनेवाली ध्वनि बिहारी मे अत्यधिक मात्रा मे दृष्टिगत होती है—

बेसरि मोती धनि तुही, को पूछे कुल जाति।
निधरक ह्वै पीबो करै, तीय अधर दिन राति।।

यहाँ मानवगत गुण, कर्म, स्वभाव का अचेतन वस्तु (वेसरि मोती) के सम्बन्ध मे वर्णन करके अत्यत तिरस्कृत वाच्यध्वनि का उदाहरण प्रस्तुत किया गया है।

ध्वनि का दूसरा प्रमुख भेद है विवक्षितान्यपर वाच्यध्वनि। इसके रस, ध्वनि और अलकार, तीन भेद होते है। सलक्ष्यक्रम और असलक्ष्यक्रम भेद से इनके अपार भेदो का शास्त्रो मे परिगणन किया गया है। इस ध्वनिभेद का विहारी ने पूर्ण चमत्कार के साथ प्रयोग किया है। ऊहात्मक शैली से नायिका की विरहजन्य दशा के वर्णन मे यह ध्वनि अपने विविध भेद-प्रभेद सहित सतसई मे छायी हुई है। नायिका की कायिक चेष्टाओ से नायक को अर्थ-बोध करानेवाला ध्वन्यात्मक दोहा देखिए—

हरखिन बोली लखि ललनु, निरसि अमिलु सग साथ।
आँखिन ही में हसि धरयौ, सीस हिये धरि हाथ।।

यहाँ नायिका की कायिक अभिव्यक्तियो से गूढाशय का सकेत है। आँखो मे हँसकर व्यक्त किया गया कि तुम्हारे दर्शन से मुझे हर्ष हुआ। हृदय पर हाथ रखने से प्रकट किया कि तुम मेरे हृदय मे आसीन हो। सिर पर हाथ रखने का अभिप्राय है कि मुझे तुम्हारी कामना शिरोधार्य है किन्तु उसकी पूर्ति भाग्याधीन है। इन आगिक

चेष्टाओ मे ध्वनिमूलक व्यजना ही रसबोध कराती है। जब तक ध्वन्यात्मक आशय समझ मे नही आएगा, रसप्रतीति का प्रश्न ही नही उठता।

असलक्ष्यक्रम व्यग्य या रसध्वनि की दृष्टि से भी 'विहारी-सतसई' की सफलता असदिग्ध है। ध्वनि के जितने प्रौढ, परिष्कृत और प्राजल उदाहरण विहारी के काव्य मे है हिन्दी के किसी अन्य कवि मे नही है। यथार्थ मे विहारी का काव्य मूलत ध्वनि-काव्य ही है।

'विहारी-सतसई' के अधिकाश टीकाकारो ने सतसई को नायिकाभेद का ही ग्रथ ठहराया है। नायिकाओ के वर्गीकृत रूप भी सतसई मे स्थिर किये गए है और लक्षणग्रथ के अभाव मे भी उसे लक्षणपरक सिद्ध करने की चेष्टा हुई है। इसमे कोई सन्देह नही कि बिहारी ने नायिकाभेद को समझकर सतसई की रचना की थी, किन्तु नायिकाभेद का ग्रथ सतसई नही है।

विहारी ने नायिकाभेद का अन्तरग रहस्य खूब समझकर अपने दोहो मे उसका चित्रण किया। स्वकीया के प्रेम वर्णन मे उसके रूप, गुण, शील, स्वभाव आदि के वर्णन मे विहारी ने अद्भुत कौशल का परिचय दिया है। यौवन की उद्दाम प्रवृत्तियो से प्रेरित प्रेमी युवक की चित्तवृत्ति स्वकीया प्रेम मे किस प्रकार आवद्ध हो जाती है और लोक-परलोक से विमुख होकर कैसे वह विलास-लीला-रत हो जाता है, यह देखना हो तो विहारी के स्वकीया मुग्धा नायिका के प्रेम का वर्णन पढना चाहिए।

शास्त्र मे परकीया नायिका के कन्या और प्रौढा दो भेद माने गए हैं। विहारी ने दोनो रूपो का वर्णन किया है। कन्या प्रेम का वर्णन निम्नलिखित दोहे मे देखा जा सकता है—

दोऊ चोर मिहीचिनी, खेलुन खेलि अघात।
दुरत हियैं लपटाइकैं, छुवत हियैं लपटात॥

वयक्रम आदि के भेद से ज्येष्ठा, कनिष्ठा, अवस्थाभेद से स्वाधीनपतिका, खडिता, अभिसारिका आदि आठ भेदो का पूर्ण वर्णन विहारी ने किया है। दशा (चित्तवृत्ति) भेद से अन्यसभोगदु खिता, गर्विता, मानवती का भी वर्णन सतसई मे है। नायिका की सहायक सखी, दूती आदि का भी विहारी ने वर्णन किया है। दूती के व्यापक कार्यक्षेत्र और कठिन कार्य को सामने रखकर विहारी ने उसका मनोवैज्ञानिक वर्णन करने मे अपनी प्रतिभा का परिचय दिया है।

नायिकाभेद के साथ नायक-भेद-वर्णन का भी परम्परा से निर्वाह होता चला आ रहा है, यद्यपि नायक के नायिकाओ की तरह अनेक भेद नही किये गए। चार भेदो मे ही नायक को सीमित कर दिया गया है। विहारी ने विरुद्ध, अनुकूल, शठ और धूर्त नायको का चित्रण अपने काव्य मे किया है।

नायिकाभेद के अन्तर्गत नायिकाओ के अलकार, नखशिख, लीलाविलास, ऋतु-वर्णन, वारहमासा आदि का विस्तार से वर्णन किया गया है। शृगार का आलम्बन होने के कारण नायिकाभेद का सविस्तार वर्णन विहारी के लिए अनिवार्य था। नायिका-भेद को प्रमुख स्थान देना विहारी का ध्येय नही था। अत सतसई नायिका-भेद का

ग्रथ नही माना जा सकता ।

विहारी के काव्य की आत्मा शृगार है । शृगार की व्यजना ध्वनि के माध्यम से हुई है । शृगार-वर्णन के लिए सयोग तथा विप्रलभ दोनो पक्ष विहारी ने स्वीकार किए है। सयोगपक्ष के चित्रण मे विहारी ने अपनी मौलिक उद्भावनाओ का प्रयोग कर सयोग को आनन्द की चरम स्थिति पर पहुँचा दिया है । निम्नाकित उदाहरणो मे विहारी का यह कौशल देखा जा सकता है—

बतरस लालच लाल की, मुरली धरी लुकाय ।
सौंह करै, भौंहनि हँसे, दैन कहै, नटि जाय ।।
उडति गुडी लखि लाल की, अगना अगना माँह ।
बौरी लौं दौरी फिरत, छुवति छबीली छाँह ।।
प्रीतम दृग मीचत प्रिया, पानि परस सुख पाय ।
जानि पिछानि अजान लौं, नेक न होत लखाय ।।

मार्मिक उक्ति-व्यजक दोहा देखिए—

बाल कहा लाली भई, लोचन कोयन माँह ।
लाल तिहारे दृगन की, परी दृगन में छाँह ।।

विरह-वर्णन मे तो ऊहात्मक शैली के आतिशय्य ने विहारी की विरह-व्यजनाओ को कही-कही औचित्य की सीमा से वाहर कर दिया है । विरहसतप्त नायिका की दशा देखिए—

इत आवति चलि जाति उत, चली छ सातक हाथ ।
चढी हिंडौरे सी रहै, लगी उसासन साथ ।।
सीरैं जतनन सिसिर ऋतु, सहि बिरहिन तन ताप ।
वसिबे को ग्रीषम दिनन, पर्यो परोसिन पाप ।।

कही-कही स्वाभाविक रूप से भी विरह-ताप से कृश नायिका का वर्णन विहारी ने किया है—

करके मीडे कुसुम लौं, गई बिरह कुम्हिलाय ।
सदा समीपिनि सखिन हूँ, नीठि पिछानी जाय ।।

विहारी रीतिपरम्परा का निर्वाह करने का ध्यान रखते थे, अत परम्परा-स्वीकृत गूढाशय को अन्तर्मन मे रखकर उसी पृष्ठभूमि पर दोहा रचा गया है । जब तक परम्परा का पूरा बोध न हो, दोहे का अर्थ अवगत नही हो सकता—

ढीठि परोसिन ईठ ह्वै, कहै जु गहे समान ।
सबै सदेसे कहि कह्यौं, मुसकाहट में मान ।।

धृष्ट पडोसिन के सदेश को नायक तथा पहुँचानेवाली नायिका का मान-वर्णन रीतिपरम्परा की शृखला से अवगत हुए बिना नही समझा जा सकता ।

विहारी पर रीतिपरम्परा का इतना गहरा प्रभाव था कि प्रेम की सहज व्यजना करनेवाले अकृत्रिम भावो को भी उन्होने ऊहा और अतिशयोक्ति से आवृत कर दिया है । प्रेम का स्वाभाविक रूप ऊहात्मक शैली मे सामने नही आने पाया ।

शृगार रस के अतिरिक्त अन्य भावो को भी बिहारी ने अपनाया है। यो तो सचारियो तथा सात्विक भावो की दृष्टि से प्राय सभी के उदाहरण मिल सकते है, कितु यहाँ प्रमुख भावो की ओर ही सकेत करना पर्याप्त होगा।

बिहारी भक्त नही थे। भक्तिभाव का उनके जीवन से रसात्मक तादात्म्य रहा हो, इसमे भी सन्देह है, किन्तु निर्वेद और शम का वर्णन सतसई मे इन्होने किया है। भक्ति को सामान्य रूप मे ही बिहारी ने स्वीकार किया है, किसी दार्शनिक मतवाद या साम्प्रदायिक आधार पर ग्रहण नही किया। बिहारी जैसे सासारिक कवि के काव्य को साप्रदायिक दृष्टि से किसी मतवाद मे बाँधना कवि के साथ अन्याय करना है। बिहारी तत्त्वज्ञानी या दार्शनिक न होने पर भी तत्त्वज्ञान की बात कह सकते है। उसी तत्त्वज्ञान मे निर्वेद समाया रहता है।

भजन कह्यौ ताते भज्यो, भज्यो न एकहु बार।
दूरि भजन जाते कह्यो, सो तैं भज्यो गँवार॥

वैराग्य-भावना का द्योतक, स्त्री-रूप के आकर्षण से दूर हटाने वाला बिहारी का प्रसिद्ध दोहा है—

या भव पारावार को, उलघि पार को जाय।
तिय छबि छाया ग्राहिनी, गहै बीच ही आय॥

भगवन्नामस्मरण के लिए सुन्दर उक्ति देखिए—

दीरघ साँस न लेहि दुख, सुख साई नहिं भूलि।
दई दई क्यो करत है, दई दई सु कबूलि॥

दैन्य-वर्णन देखिए—

हरि कीजति तुमसो यहै, बिनती बार हजार।
जेहि तेहि भांति डरयौ रह्यौ परयौ रहौ दरबार॥

बिहारी की अन्योक्तियो और सूक्तियो मे जीवन के अनुभूत सत्यो का बडी सजीव भाषा मे वर्णन हुआ है। कवि ने अन्योक्ति के व्याज मे एक ओर कृपण, मूर्ख, अविवेकी, स्वार्थी, कपटी, दम्भी व्यक्तियो को प्रबोधा है तो दूसरी ओर विद्वान्, धैर्य-शाली, चतुर, प्रेमी, दुर्भाग्यपीडित व्यक्तियो को समझाकर शान्त रहने का उपदेश दिया है। बिहारी की अन्योक्तियाँ हिन्दी साहित्य मे सबसे अधिक टकसाली रही है। उनकी मार्मिकता काव्यत्व के कारण बढ गई है, वे भावव्यजक होने के साथ गहरा प्रभाव उत्पन्न करने मे समर्थ है।

'बिहारी-सतसई' के सम्बन्ध मे प्रारम्भ मे यह भ्रम टीकाकारो द्वारा उत्पन्न किया गया कि सतसई अलकारनिरूपक रीतिग्रथ है। प्रत्येक दोहे की टीका मे अलकार का विवेचन किया गया। यथार्थ मे बिहारी अलकारवादी नही थे कितु उन्होने स्वच्छन्द रूप मे (रीतिबद्ध ग्रथ रूप मे नही) अलकारो का पर्याप्त प्रयोग किया है। उनके प्रत्येक दोहे मे उक्तिवैचित्र्य के चमत्कार के साथ अलकार की सुन्दर योजना हुई है। चमत्कार-विधान के लिए कही अलकार का सहारा लिया गया है तो कही अलकार को ही चमत्कार के भीतर समाविष्ट कर लिया गया है। कही-कही एक ही दोहे मे अलकारो की ससृष्टि

और सकर ने सौन्दर्यविधान करने मे अनुपम निपुणता का परिचय दिया है । असगति और विरोधाभास की उक्ति देखिए—

दृग उरझत टूटत कुटुम्ब, जुरत चतुर चित प्रीति ।
परति गाँठि दुरजन हिए, दई नई यह रीति ।।

समासोक्ति अलकार के उदाहरण द्रष्टव्य है

सरस कुसुम मँडरातु अलि, न झुकि झपटि लपटातु ।
दरसत अति सुकुमार तनु, परसत मन पत्यातु ।।

कोमलागी नायिका पर आसक्त किसी नायक की यह व्यजना भ्रमर के माध्यम से अर्थप्रतीति कराने मे समर्थ है ।

सादृश्यमूलक अलकारो मे उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक आदि का प्रयोग अत्यधिक है । रूपक विहारी का प्रिय अलकार है—

अरुण सरोरुह कर चरण, दृग खजन मुख चन्द ।
समय पाय सुन्दरि सरद, काहि न करत अनन्द ।।

अपह्नुति—

जोन्ह नहीं यह तमु वहै, किए जु जगत निकेतु ।
उदै होत ससि कै भयो, मानहुँ ससहरि सेतु ।।

विहारी ने लक्ष्य द्वारा ही अलकार का स्वरूप स्पष्ट किया है, किंतु इतने सुन्दर और सटीक उदाहरण कम ही मिलते है ।

विहारी के काव्य मे सूक्तियो को भी स्थान मिला है । आचार्य रामचन्द्र शुक्ल सूक्ति को विशुद्ध काव्य से पृथक मानते हैं । सूक्तियो मे वर्णन-वैचित्र्य या शब्दवैचित्र्य ही नही है, उनमे काव्य के सभी आवश्यक उपादान है और इसी कारण उनका मार्मिक प्रभाव भी होता है । विहारी की सूक्तियो को हम धार्मिक (वैराग्यपरक), आर्थिक, लौकिक (लोक-व्यवहारपरक), शृगारिक (कामपरक) और प्रशस्तिपरक, इन पाँच भागो मे विभक्त कर सकते है ।

विहारी शृगारी कवि थे । उनकी कविता की मूल प्रवृत्ति शृगारी मुक्तक परम्परा के आदर्श पर प्रकृत प्रेम के चित्र अंकित करना था । किंतु मुक्तक काव्य के क्षेत्र मे आनेवाले सभी विषयो पर उन्होने आनुषगिक रूप से रचना की है । विहारी ने मुक्तक काव्य की परम्परा को सर्वतोभावेन ग्रहण किया था । अत उसका पूर्ण प्रतिनिधित्व करने के लिए सूक्ति-काव्य को भी स्वीकार किया । मुक्तक काव्य मे रसात्मक मुक्तक के साथ धर्म, नीति, अर्थ, काम-प्रशस्ति, आदि की जो परम्परा चल रही थी, विहारी ने उसकी उपेक्षा नही की । धार्मिक सूक्तियो मे वैराग्य तथा ईश्वरभक्ति के उपदेश की प्रधानता है । आर्थिक सूक्तियो मे सपत्ति के चचल स्वरूप का बोध है तथा कृपण और स्वार्थी धनलोलुप व्यक्तियो के स्वभाव की झाँकी भी मिलती है । लोकव्यवहार को दृष्टि मे रखकर विहारी ने जो सूक्तियाँ लिखी है, उनका आधार अनुभव है जो सभी दृष्टियो से आदर्श है । सूक्तियो मे तथ्योक्तियाँ भी है और अन्योक्तियाँ भी । विहारी की प्रशस्ति-परक सूक्तियो मे अधिक निखार नही है । कदाचित् कवि का हृदय इनमे रम नही पाया ।

जयसिह की प्रशस्तियो मे वस्तु वर्णन मात्र है, काव्यत्व नही। दभ और ढोग के प्रति बिहारी ने कोमल वाणी मे अनास्था व्यक्त की है। यह धार्मिक सूक्ति के अतर्गत है—

जपमाला छापा तिलक, सरै न एकौ काम।
मन काँचै नाचै वृथा, साँचै राँचै राम॥

आर्थिक सूक्ति—

कनक कनक ते सौ गुनी, मादकता अधिकाय।
उहि खाए बौराय जग, इहि पाए बौराय॥

लौकिक—

नर की अरु नल नीर की, गति एकै करि जोय।
जेतो नीचो ह्वै चलै तेतो ऊँचो होय॥
मरन प्यास पिंजरा पर्‍यो, सुआ समै के फेर।
आदर दै दै बोलियत, वायस वलि की बेर॥

सतसई रचना मे बिहारी का उद्देश्य कविशिक्षक बनना नही था। शृगार भावना को काव्य के चरमोत्कर्ष पर पहुँचाने की अभिलाषा से उन्होने सतसई का प्रणयन किया और उसमे सफलता पायी। शास्त्रीय परम्परा और शृगार-मुक्तक परम्परा का सुन्दर समन्वय सतसई मे हुआ है। व्यग्य, लाक्षणिक वक्रता, अलकार, नायिकाभेद, नख-शिख, षट्-ऋतु-वणन आदि सभी विपयो को स्वतन्त्र रूप से बिहारी ने सतसई मे स्थान दिया, किन्तु लक्षणग्रथ लिखने के पचडे मे वे नही पडे। लक्ष्यग्रथ के रूप मे सतसई का निर्माण किया किन्तु उसका प्रचार लक्षणग्रथो एव पाठ्यग्रन्थो से कही अधिक हुआ। टीकाकारो ने तो बिहारी को शृगार का अधिष्ठाता ही बना दिया है।

हिन्दी रीतिपरम्परा मे बिहारी ध्वनि सम्प्रदाय के समर्थको मे प्रमुख है। तुलसी के 'रामचरितमानस' के बाद सतसई अपनी रसात्मकता, कलात्मकता, लाक्षणिकता और वचनविदग्धता के कारण रसिको का सबसे अधिक ध्यान आकृष्ट करने मे समर्थ हुई। बिहारी अपने युग मे रीति-शृगार के क्षेत्र मे युगप्रवर्तक के रूप मे अवतरित हुए थे। बिहारी ने ध्वनिकाव्य को स्वीकार कर रस और अलकार का पूर्ण निर्वाह करते हुए शृगार को प्रत्येक परिष्कृत भूमि पर अवस्थित किया और रीतिबद्ध काव्य मे कवियो को आचार्यो के सामने गौरवपूर्ण स्थान दिलाया।

बिहारी के काव्य पर चाहे ध्वनिकाव्य की दृष्टि से विचार करे, चाहे रसपरिपाक की दृष्टि से, चाहे बिहारी की अलकार योजना को लें, चाहे नायिकाभेद या नखशिख पर दृष्टिपात करे अथवा अन्योक्ति और सूक्ति का अवगाहन करें, बिहारी का काव्य सभी दृष्टियो से अनुपम प्रतीत होता है। बिहारी प्रतिभाशाली कवि थे, परन्तु उन्होने काव्याभ्यास के बाद ही कविता रचने की ओर ध्यान दिया था। इसीलिए उनके काव्य मे शक्ति और निपुणता का चरम विकास सभव हुआ।

बिहारी की भक्ति-भावना

हरबशलाल शर्मा

रीतिकाल के सभी शृगारिक कवियो की भक्ति-विषयक उक्तियाँ भी मिलती हैं, उसी प्रकार जिस प्रकार कृष्ण-भक्त कवियो की उद्दाम शृगार-भावना से ओतप्रोत उक्तियाँ प्राप्त है। बात यह है कि कृष्ण-भक्त कवियो के द्वारा स्वीकृत एकान्त साधना जिसमे भक्त भगवान का अन्तरग सखा बन कर उनकी लीलाओ का साक्षात् दर्शन करता था, अलौकिक शृगार-भावना का आश्रय लिये हुए थी जिसके प्रभाव से इन कृष्ण-भक्त कवियो ने अपनी मथुरा तीन लोक से न्यारी बसाई और राधाकृष्ण की विविध शृगार लीलाओ के गीत गाये। भक्ति की स्थली पर जिस अलौकिक प्रेम को उन्होने उतारा था, रीतिकालीन कवियो ने उसे भौतिक विलास के आधार पर टिकाया, क्योकि जहाँगीर और शाहजहाँ जैसे रसिक सम्राट् तथा उनका अनुकरण करने वाले सामन्तो के युग का प्रभाव ही ऐसा था। यह परिवर्तन इतना शीघ्र हुआ कि ये कवि राधाकृष्ण को न तो अपने युग की शृगार-भावना का ही ऐकान्तिक प्रतीक बना सके और न भक्तिकालीन भावना का पूर्ण परित्याग ही कर सके। शताब्दियो से बहकर आती हुई उस धारा का प्रवाह यद्यपि छिन्न-भिन्न हो गया था, फिर भी कही-कही पर वह रस अब भी भरा हुआ था जिसमे रीतिकालीन शृगार-रसधारा बडे वेग से आकर मिली। इस प्रकार मिल-जुलकर जो कुछ बना उसमे भक्तिरस की भी क्षीण-सी रेखा कही-कही दीख ही जाती थी। लौकिक वासनावायु मे श्वास लेने वाले इन कवियो को जब भक्ति-रस-सिक्त मन्द समीरण छूता हुआ निकल जाता तो वे एक क्षण के लिए 'राधिका कन्हाई सुमिरन के बहाने' मे इतने तल्लीन हो जाते कि अपने अगीकृत सूत्र का उन्हे ध्यान तक न रहता। ऐसी दशा मे उनके मुख से जो उक्ति निकलती थी वह भक्ति-रस से ओतप्रोत होती थी, पर दूसरे ही क्षण वे अपनी स्वाभाविक भावभूमि पर उतर आते थे। तात्पर्य यह है कि वे भगवद्विपयक रति के उस सामान्य स्तर पर खडे थे जिस पर ससार का प्रत्येक मनुष्य त्रिविधताप से सतप्त होने पर क्षणभर के लिए जा खडा होता है और भगवान के सामने अपनी भूल की क्षमा के लिए अनुनय-विनय करता हुआ दीख पडता है। भक्तिकालीन

और रीतिकालीन कवियो की भक्तिविषयक उक्तियो मे यही विशेष और सामान्य स्तर का अन्तर है जो युग की परिस्थितियो का फल है। एतद्विषयक रचनाओ मे अन्य अन्तर का आधार भी यही अन्तर है। डॉ० नगेन्द्र का कथन है—

"वास्तव मे यह भक्ति भी उनकी शृगारिकता का ही एक अग थी। जीवन की अतिशय रसिकता से जब ये लोग घवरा उठते होगे तो राधाकृष्ण का यही अनुराग उनके धर्मभीरु मन को आश्वासन देता होगा। इस प्रकार रीतिकालीन भक्ति एक ओर तो सामाजिक कवच और दूसरी ओर मानसिक शरण-भूमि के रूप मे इनकी रक्षा करती थी। तभी तो ये किसी न किसी तरह उसका आँचल पकडे हुए थे। रीतिकाल का कोई भी कवि भक्ति-भावना से हीन नही है—हो ही नही सकता था, क्योकि भक्ति उसके लिए एक मनोवैज्ञानिक आवश्यकता थी। भौतिक रस की उपासना करते हुए भी, उनके विलास-जर्जर मन मे इतना नैतिक बल नही था कि भक्तिरस मे अनास्था प्रकट करते या उसका सैद्धान्तिक निषेध करते। इसीलिए रीतिकाल के सामाजिक जीवन और काव्य मे भक्ति का आभास अनिवार्यत वर्तमान है और नायक-नायिका के लिए वार-वार 'हरि' और 'राधिका' शब्दो का प्रयोग किया गया है।"[1]

भक्ति रस मे अनास्था प्रकट करने के लिए तो नैतिक वल की इतनी आवश्यकता नही क्योकि आस्था या अनास्था भाव से सम्बद्ध है। भावावेश मे किसी भी वस्तु अथवा व्यक्ति के प्रति आस्था या अनास्था प्रकट की जा सकती है। भावावेश एक प्रकार की मानसिक निर्बलता ही है जिसके कारण मन का सन्तुलन ठीक नही रहता। नैतिक बल मे हृदय और बुद्धि की शक्ति का सामजस्य होते हुए भी बुद्धि का पलडा कुछ भारी रहता है। इसलिए किसी वस्तु का सैद्धान्तिक प्रत्याख्यान इसके बिना सम्भव नही। रीतिकालीन कवियो ने भक्ति का सैद्धान्तिक निषेध तो नही किया परन्तु शृगारिक भावना के आवेश मे मुक्ति का निषेध अवश्य किया है—

जौ न जुगति पिय मिलन की, धूरि मुकति-मुँह दीन।
जौ लहिए सग सजन तौ, धरक नरक हू की न॥[2]
चमक, तमक, हाँसी, ससक, मसक, झपट लपटानि।
ए जिहिं रति, सो रति मुकति और मुकति अति हानि॥[3]

हाँ, तो रीनिकालीन कवि भक्ति की सामान्य भावभूमि पर खडे थे, इसलिए उनकी भक्तिविषयक उक्तियो के आधार पर किसी सम्प्रदाय अथवा वाद विशेष से उनका पक्का गँठ-जोड कर देना उचित नही। वास्तव मे दार्शनिक सिद्धान्तो का निरूपण बुद्धि के आधार पर होता है पर भक्ति सवा सोलह आने हृदय की वस्तु है। कवि भी हृदय-प्रधान व्यक्ति होता है, इस दृष्टि से वह दार्शनिक की जाति का न होकर भक्त के वश का होता है। अत भक्त कवियो की वीणा से निकले हुए स्वरो मे किसी वाद की ध्वनि सुनने के लिए चौकन्ना होना भ्रान्ति ही कहा जा सकता है। परन्तु जिन्हे बाल की भी खाल निकालने की आदत है वे—

---

१ रीतिकाव्य की भूमिका, पृ० १८०
२–३ बिहारी सतसई, दोहा ७५–७६

मै समुझ्यौ निरधार, यह जगु काँचो काँच सौ।
एकै रूपु अपार, प्रतिबिम्बित लखियतु जहाँ ।।

को देखते ही एकदम विहारी को वडा भारी अद्वैतवादी करार दे दे तो क्या किया जाय ? भक्त-कवि मे कृत्रिमता का सर्वथा अभाव रहता है। अनुभूति की सान्द्रता मे वह कवि-कौशल पर दृष्टि नही जमा पाता। शृगारी कवि भक्ति-विपयक उक्तियो मे भी कवि-कौशल का पूरा ध्यान रखता है। उसकी मानसिक चेतना दोनो ओर कार्य करती है। फलस्वरूप भक्त-कवि जैसी एकतानता उसमे नही मिलती। शृगारी कवि का विरह-वर्णन भी उतना मार्मिक नही होना क्योकि विरह की चरम अनुभूति भक्त-कवि की भाँति उसके हृदय मे नही आती। सयोगवर्णन मे भी उच्छृखलता ही अधिक रहती है। भक्त का भगवान से मिलन होता ही नही, अत वियोग की अनुभूति चिरन्तन होती है जिस तक सामान्य शृगारी कवि नही पहुँच सकता।

भक्त अपनी वात को कवीर की तरह दो-टूक शब्दो मे कहना पसन्द करते है, शृगारी कवि भक्ति-पक्ष मे भी वक्रता नहीं छोडते। इसी प्रवृत्ति के कारण विहारी भी अपने हृदय की कुटिलता को इसलिए नही छोडते कि 'त्रिभगी' कृष्ण सरल हृदय मे रहने मे असुविधा का अनुभव करेगे। विहारी कवि थे, भावुक थे और रसिक थे। उनके हृदय मे जव जैसा भाव उद्‌बुद्ध हुआ उन्होने उसे शब्दो के कोमल पाश मे फाँस लिया। उन्हे किसी दार्शनिक मतवाद से मतलब न था और न वे कट्टर साम्प्रदायिक ही थे। वे तो सामान्य व्यक्ति की तरह मत-मतान्तर के वखेडे मे न पडकर सभी देवी-देवताओ और अवतारो को मान्यता देते थे और उन्हे भगवान का स्वरूप समझते थे। 'सर्वदेव नमस्कार केशव प्रति गच्छति' का उनका सिद्धान्त इन शब्दो मे स्पष्ट हो गया है—

अपने-अपने मत लगै, वादि मचावत सोर।
ज्यौं त्यौं सबकौं सेइवौ एकै नन्द-किशोर ।।

'एकै नन्द-किशोर' को देखकर विहारी को कृष्ण का ही भक्त मान लेने की भ्रान्ति भी नही होनी चाहिए और न 'यह वरिया नहि और की तू करिया वह सोधि। पाहन नाव चढाइ जिहि कीने पार पयोधि' के आधार पर उन्हे रामभक्तो की श्रेणी मे गिन लेने की त्रुटि ही होनी चाहिये। यथार्थता तो यह है कि नन्दकिशोर और रघुपति मे साधारण जन की भाँति वे भी कोई अन्तर नही मानते थे। दोनो ही शुद्ध उपलक्षण रूप मे प्रयुक्त हुए है और सर्वशक्तिमान् प्रभु के प्रतीक है। श्री विश्वनाथप्रसाद मिश्र के शब्दो मे—

"वास्तविक वात यह थी कि राम और कृष्ण मे ये लोग कोई भेद नही समझते थे। भगवान की एक सामान्य भावना लेकर ही अपनी उक्तियाँ गढा करते थे। यही कारण है कि राम की लीला कृष्ण के नाम पर और कृष्ण की लीला राम के नाम पर कह देते थे। सूर और तुलसी ने भी ऐसा किया है। उनके वाद तो जितने कवि हुए उन्होने विना किसी भेद-भाव के ही उन लीलाओ को ग्रहण किया। विहारी भी कहते हैं—

कौन भाति रहिहै बिरदु अव देखिवी मुरारि।
बीधे मौसौं आइकै गीधे गीधहि तारि॥

"गीध को तारने वाले राम थे, मुरारि नही।"[१]

जिस प्रकार राम और कृष्ण मे ये भेद नही मानते उसी प्रकार निर्गुण और सगुण भी इनकी दृष्टि मे भिन्न नही, निर्गुण की व्यापकता का प्रतिपादक बिहारी ने इन शब्दो मे किया है—

दूरि भजत प्रभु पीठि दै गुन विस्तारन काल।
प्रगटत निर्गुण निकट रहि चग रग भूपाल॥

निर्गुण की निर्गुणता पर ही बिहारी को विस्मय नही, सगुण के गुणो पर रीझकर उनमे वँधने की कामना भी है—

मोहुँ दीजै मोषु, ज्यौं अनेक अधमनु दियौ।
जौ बाँधे ही तोषु, तौ बाँधौ अपनै गुननु॥

इससे स्पष्ट है कि वे राम, कृष्ण, निर्गुण, सगुण सवको मानते थे, पर साम्प्रदायिक अर्थ मे किसी के उपासक न थे और जैसा कि कहा जा चुका है यह प्रवृत्ति सामान्य-जन-प्रवृत्ति कही जा सकती है। यथार्थता तो यह है कि वे अन्य कुछ भी होने से पहले कवि थे। यही कारण है कि उनकी भक्ति-विषयक उक्तियो मे भी निराली वक्रता और वाग्विदग्धता दीख पडती है—

करौं कुवत जगु कुटिलता तजौं न दीनदयाल।
दुखी होहुगे सरल हिय, बसत त्रिभगीलाल॥

मुरलीधर के तीन जगह से वक्र होने के कारण विहारी भी हृदय की वक्रता नही छोडते, इसलिए नही कि इससे उनका कुछ स्वार्थ सिद्ध होता है वल्कि इसलिए कि सरल चित्त मे त्रिभगी कृष्ण समा न सकेगे। दूसरा उदाहरण लीजिये—

मै तपाइ त्रयताप सौं राख्यौ हियौ हमाम।
मति कवहुँक आएँ यही पुलकि पसीजै स्याम॥

यहाँ प्रसगवश एक बात का उल्लेख करना अनुचित न होगा। आजकल अन्त-साक्ष्य की खोज कर कवि की उक्तियो मे से उसका जीवन-चरित ढूँढ निकालने की धुन मे अनेक आलोचक भावोद्रेकावस्था मे कवि के हृदय से अपने सम्वन्ध मे निर्गत उक्तियो को प्रमाण मानकर कवि के प्रति अनर्थ कर डालते है। 'प्रभु हौ सब पतितन को टीको' और 'मोसो कौन खोटो' से सूर और तुलसी को बिलकुल ही गया-गुज़रा मान लेना सरस्वती की पूजा के पवित्र फूलो को नोचना तो है ही, कवि के साथ अन्याय और मानव-हृदय के प्रति अपनी अनभिज्ञता देना भी है। भक्ति-क्षेत्र मे दैन्य-भूमिका पर पहुँचते ही भक्त को आलम्बन की महत्ता और अपनी लघुता का ज्ञान होता है और उसी क्षण भाव-विभोर होकर वह अपनी दीनता, क्षुद्रता और निरीहता का आलम्बन की महत्ता के ही अनुरूप वढा-चढाकर वर्णन करता है और अपने ऊपर अनेक दोषो का आरोप कर लेता है—

---

१ बिहारी की वाग्विभूति, पृ० १३१

यह दीनता धन्य है जो दीनबन्धु से नाता जोडती है ।[१] विहारी भी क्षण-भर के लिए जव भक्तिभाव मे आत्म-विस्मृत हो जाते थे तो उनके हृदय से ऐसी ही उक्तियाँ निकलती थी जो किसी भी भक्त-कवि की उक्तियो के समकक्ष रखी जा सकती है, पर जहाँ उनका कवि-हृदय जागरूक रहता था वहाँ उल्लिखित वक्रतापूर्ण उक्तियाँ ही निकलती थी । इसलिए इस प्रकार के उल्लेखो से विहारी को अनाचारी या पापी मान लेने की भ्राति न होनी चाहिए ।

विहारी की सभी भक्ति-विषयक उक्तियो को विलासातिरेक से घवराए हुए हृदय की लडखडाती पुकार ही न समझना चाहिए । उनके बहुत-से दोहे सूर से टक्कर लेने वाले है जिनसे उनके हृदय की सचाई और विश्वास टपकते है ।

कई दोहो मे तो बिहारी ने प्रेमवश भगवान को उपालम्भ दिया है—

नीकी दई अनाकनी फीकी परी गुहारि ।
तज्यौ मनौ तारनविरदु बारक बारन तारि ॥

नाम दीनवन्धु है परन्तु पता नही कौन-से दीन तारे है । यो तो पुराने ज़माने से ही उन दीनो की एक लम्बी लिस्ट चली आ रही है जिनका उद्धार कभी किया था । पर किया होगा । हमारा उद्धार करे तो हम माने । हमे तो सव धोखा ही प्रतीत होता है—

बन्धु भये का दीन के को तार्‌यौ रघुराइ ।
तूठे तूठे फिरत हौ झूठे विरद कहाइ ॥

इस ज़माने मे गरीवो की सुनता ही कौन है ? जग की हवा जगतपति को भी लग गई । इसीलिए भक्तो की दीन पुकार उनके कानो तक पहुँच नही पाती । क्यो नही, जग-नायक और जगद्‌गुरु जो ठहरे ! इस हवा का उद्‌गम वही तो है । उन्होने ही गुरु-मन्त्र के साथ इसे ससार मे फूँका—

कब कौ टेरत दीन रट होत न स्याम सहाइ ।
तुमहू लागी जगद्‌गुरु जगनायक जगवाइ ॥

इसी हवा के कारण तो थोडे ही गुणो पर रीझने की वान छोडकर आजकल के दानी वन वैठे है—

थोडे ही गुन रीझते बिसराई वह वानि ।
तुमहू स्याम मनौ भये आज कालि के दानि ॥

इसे कहते है समय का प्रभाव, कपूत कलिकाल की तीव्रता मे करुणाकर का कृपा-स्रोत सूख गया—

भौ अकरुन करुनाकरौ इहि कुपूत कलिकाल ।

कृष्ण के सखा भक्तो ने ही ऐसे उपालम्भ दिये हो यह वात नही है । तुलसीदास जैसे राम के दास भक्तो को भी अपने 'नाथ' की 'निठुराई' देखकर दुख

---

१. दिव्य दीनता के रसहि का जाने जग अधु ।
भली विचारी दीनता दीनवधु से वन्धु ॥—रहीम

हुआ।[१] यहाँ तक कि वे राम के नाम का पुतला[२] बाँधने के लिए मजबूर हो जाते है—

हौं अब लौं करतूति तिहारिय चितवत हुतो न रावरे चेते।
अब तुलसी पूतरौं बाँधि है सहि न जात मोपै परिहास एते ॥

यह परमात्मा के प्रति तुच्छ सासारिक जीव की मुँहजोरी नही है, उपास्य के सखा बनकर उसके साथ हँसने-बोलने, उठने-बैठने और लडने-झगडने का मानव-मन का स्वाभाविक तकाजा हे, जिसका उभार विश्वास की अटल नीव पर जमे हुए प्रेम की परा कोटि पर आधारित हे। भगवत्प्रेम से उमडते हुए मानस महोदधि की उपालम्भ महोर्मि के पश्चात् निरीहता की लघु लहर का लास्य भी दर्शनीय है जिसमे सतह नीची अवश्य हैं परन्तु अगाधता अक्षुण्ण हे—

हरि कीजत विनती यहै, तुमसौं बार हजार।
जिहिं तिहि भाति डर्यौ रह्यौं, पर्यौ रहौं दरबार ॥

गुण औरअवगुणो की नाप-तोल के अनुसार हिसाब-किताब रखा गया तो निस्तार हो चुका, इसलिए भक्त इनका हिसाब देने से कतराता हुआ अन्य पतितो मे ही अपनी गिनती करने की प्रार्थना करता है जिनका उद्धार निश्चित हो चुका—

कीजै चित सोई तरौं जिहिं पतितन के साथ।
मेरे गुन-औगुन-गनन, गनौं न गोपीनाथ।
हमारे प्रभु अवगुन चित न धरौ।

तथा

प्रभु मेरे गुन अवगुन न विचारो।
कीजै लाज सरन आए की रविसुत त्रास निवारौ ॥

परम भक्त तुलसी ने भी कुछ ऐसी ही बात कही है—

जो पै जिय धरिहौ अवगुन जन के।
तौ क्यौं कटत सुकृत नख ते मोपै विपुल-वृन्द अघ वन के ॥

बिहारी को भी यही विश्वास है कि यदि उनकी 'करनी' का निरीक्षण किया गया तो बात बनेगी नही—

तौ बलियै भलियै बनी नागर नन्द किसोर।
जौ तुम नीकै कै लख्यौ मो करनी की ओर ॥

सासारिक विषयो मे आसक्त मन को प्रबुद्ध कर उसे ईश-स्मरण की ओर उन्मुख करना भक्ति का प्रथम सोपान है। सूर और तुलसी जैसे सच्चे भक्तो मे मन प्रबोध की उत्कृष्ट भावना का चरमोत्कर्ष लक्षित होता है। भवसागर से पार उतरने के लिए भक्ति के अतिरिक्त कोई साधन नही। ज्ञान और कर्म इसके बिना व्यर्थ है। जिस प्रकार पतग

---

१ जद्यपि नाथ! उचित न होत अस प्रभु सौं करौ ढिठाई।
तुलसीदास सीदति निसिदिन देखत तुम्हार निठुराई ॥ (वि० प०)

२ जब नटो को खेल दिखाने पर भी कुछ नहीं मिलता तो वे कपडे का पुतला बनाकर उसे बाँस पर लटकाये फिरते हे और उस पर धूल डालकर कहते है—देखो यह सूम ।

दीपक से प्रेम करता हुआ उसकी जलती हुई लौ से भी नही डरता और उस पर गिरकर भस्म हो जाता है उसी प्रकार ज्ञानी व्यक्ति भी ज्ञान के दीपक से सासारिक दु ख के कूप को देखकर भी उसमे गिर जाता है। जड जन्तु काल व्याल के रजस्तमोमय विपानल मे क्यो जलता है ? सकल मतो के अविकल वाद-विवाद के कारण वेश धारण करता है और निशदिन भ्रमता रहता है, जिससे कुछ भी कार्य नही वनता। परन्तु 'सूर' के अनुसार तो मनुष्य कृष्ण-भक्ति द्वारा ही भवसागर को पार कर सकता है। मन को चेतावनी देते हुए सूर ने वहुत-से पदो मे भक्ति के महत्त्व का प्रतिपादन किया है। तुलसी भी अपने मन को ऐसी ही शिक्षा देते है—

सुन मन मूढ ! सिखावन मेरो !
हरिपद-विमुख लह्यो न काहु सुख, सठ यह समुझ सवेरो।

•

छुटै न विपति भजे विनु रघुपति, स्रुति सन्देह निवेरो।
तुलसिदास सब आस छाँडि कर, होहु राम कर चेरो ॥

'रतिरग' मे 'वूडने' को 'तरना' मानने वाले कविवर विहारी भी भक्ति की भूमिका पर पहुँचकर ससार-पयोधि के तरने को हरिनाम की नौका का ही आश्रय लेना श्रेयस्कर समझते हैं—

पतवारी माला पकरि और न कछू उपाउ।
तरि ससार पयोधि कौ हरि नावै करि नाउ ॥

वात ठीक भी है। ससार-रूपी भयकर पयोनिधि के पार करने के लिए ऐसे खिवैये के सिवाय कौन उपयुक्त सिद्ध हो सकता है जिसके दृष्टिप्रक्षेप से पत्थर भी पयोधि मे तरते हुए सुने गये है—

यह वरिया नहिं और की तू करिया वह सोधि।
पाहन नाव चढाइ कै कीन्हे पार पयोधि ॥

प्राणी प्रतिदिन परलोक सिधारते है परन्तु जो रह जाते है वे इस प्रकार हाथ-पैर फैलाते है मानो उन्हे अनन्त काल तक रहना हो, इससे वढकर आश्चर्य का विषय क्या हो सकता है। ऐसी ही भावानुभूति मे विभोर विहारी मनुष्य को शाश्वत सत्य मृत्यु का स्मरण दिलाते हुए उसे विपयो को त्याग कर हरि मे चित्त लगाने की सम्मति सच्चे मन से देते है—

जम-करि-मुँह तरहरि परयौ इहिं धरहरि चितलाउ।
विषय तृषा परिहरि अजौं नरहरि के गुन गाउ ॥

उनकी ऐसी उक्ति भी वक्रता से रहित नही है। करि-मुह (हाथी के मुख) के नीचे पडे हुए नर की हरि (सिह) ही रक्षा करने मे समर्थ है। यह वाग्वैदग्ध्य इस वात का सवूत है कि विहारी पहले कवि थे, वाद मे कुछ और। जहाँ पर भक्त-प्रवर सूरदास 'सव तजि भजिए नन्दकुमार' कहकर भजने का कारण कुछ और ही वताते है, वहाँ विहारी तीर्थो को त्याग कर 'हरि राधिका' की 'तन-दुति' मे 'अनुराग' करने का कारण यह वताते है कि उसके कारण केलि-कुजो मे पग-पग पर प्रयाग (तीर्थराज) हो जाता है—

तजि तीरथ हरि राधिका-तनदुति कर अनुराग ।
जिहिं ब्रजकेलि निकुंज मग पग पग होत प्रयाग ।।

(हे मन !) तीर्थो को त्याग कर राधा-कृष्ण की शरीर-कान्ति से अनुराग कर जिससे ब्रज के केलिकुजो मे कृष्ण की श्याम, राधिका की गौर और उनके चरणो की लाल द्युति के मिलने से पग-पग पर प्रयाग (तीर्थराज) वनता जाता है ।

विहारी भक्त थे पर इतने ही जितना सामान्य जन होता है इसलिए विहारी भक्त से अधिक कवि थे और कवि , भी श्रृगारी । यदि उनके गिने-चुने भक्ति-विपयक दोहो के आधार पर उन्हे 'भक्तप्रवर' मान लिया जाय तो डर है कि कही सूर तथा अन्य कृष्णभक्त कवियो को ही नही, तुलसी को भी श्रृगारी मानना न पड जाय ।

सन्त कवियो जैसी उक्तियाँ भी बिहारी मे मिल जाती है जिनमे कचन और कामिनी की निन्दा की गई है—

या भव-पारावार कौं उलघि पार को जाइ ।
तिय-छवि-छायाग्राहिनी गहै बीच ही आइ ।।
कनक-कनक ते सौ गुनी मादकता अधिकाइ ।
वा खाये बौराइ जग या पाये बौराइ ।।
जपमाला छापै तिलक सरै न एकौ 'कामु ।
मन काँचै नाचै वृथा, साँचै राचै रामु ।।

सुख-दु ख की परवाह न करके भगवान को याद करते रहना चाहिए । सुख मे ईश्वर को न भूलना और दु ख मे हाय-हाय न करना चाहिए । इस वात को सव की तरह विहारी भी मानते है—

दीरघ साँस न लेहि दुख सुख साईंहि न भूल ।
दई दई क्यों करतु है, दई दई सु कबूलि ।।
दियौ सु सीस चढ़ाइ लै आछी भाँति अहेरि ।
जापै सुख चाहत लियौ ताके दुखहिं न फेरि ।।

बिहारी के कुल का सम्बन्ध हरिदासी सम्प्रदाय के आचार्य नरहरिदास से रहा था । जैसा कि उनके जीवन-चरित मे वताया गया है, उनके पिता स्वामी नरहरिदास के शिष्य थे । सम्भव है बिहारी भी इनके दीक्षित शिष्य रहे हो और इनकी साधना से प्रभावित हुए हो । हरिदासजी का यह सम्प्रदाय कोई वेदान्तवाद नही था । यह एक साधना-मार्ग ही था । राधा-कृष्ण की लीलाओ का सखीभाव से अवलोकन करना और अपनी सगीत-कला से उन्हे रिझाना ही इनकी साधना का प्रमुख अग था । युगलोपासना की ओर बिहारी ने अपने इस दोहे मे सकेत किया है—

नितप्रति एकत ही रहत बैस वरन मन एक ।
चहियत जुगलकिशोर लखि लोचन जुगल अनेक ।।

भगवान के मधुररूप की उपासना का दार्शनिक प्रतिपादन निम्बार्क ने किया तथा परवर्ती मधुरोपासना-रत सम्प्रदायो की साधना मे उनके सिद्धान्तो का पर्याप्त प्रभाव पडा ।

रामानुजाचार्य के सिद्धान्तो से निम्बार्क के मत मे यह सबसे महान् अन्तर है, कि रामानुजाचार्य ने तो अपनी भक्ति को नारायण, लक्ष्मी, भू और लीला तक ही सीमित रखा जबकि निम्बार्क ने कृष्ण और सखियो द्वारा परिवेष्टित राधा को ही प्रधानता दी। इस प्रकार उत्तरी भारत मे राधाकृष्ण की भक्ति का शास्त्रीय प्रतिपादन निम्बार्क ने किया। बगाल और ब्रजभूमि मे इसका विशेष प्रचार हुआ।[1]

विहारी ने भी कृष्ण के साथ-साथ राधा की स्तुति की है। अपनी सतसई का प्रारम्भ उन्होने राधा की स्तुति से ही किया है और एक प्रकार से कृष्ण की अपेक्षा राधा को ही महत्त्व दिया है—

मेरी भव बाधा हरो राधा नागरि सोय।
जा तन की झॉई परे स्याम हरित दुति होय ।।

सखा-भाव-प्रेरित परिहास की प्रवृत्ति भी विहारी मे दीख पडती है—

चिरजीवौ जोरी जुरै क्यो न सनेह गभीर।
को घटि ये वृषभानुजा वे हलधर के बीर ।।

भक्ति की प्राप्ति उनकी दृष्टि से भी ईश-अनुग्रह का फल है, तभी तो वे उससे भक्ति की याचना करते है—

हरि कीजत तुमसौं यही बिनती बार हजार।
जिहि तिहि भॉति डरयौ परो रहौं दरबार ।।

शरणागति तथा भगवदनुग्रह का आग्रह एव दैन्य आदि का मेल पुष्टि-सम्प्रदाय से अधिक है। इस प्रकार कई सम्प्रदायो के प्रभाव का लक्षित होना भी इस वात का प्रमाण है कि बिहारी कट्टरतापूर्वक किसी भी परिनिष्ठित सम्प्रदाय का अनुगमन नही करते थे। सामान्य साधक की भॉति परिस्थितियो से यथासम्भव समझौता कर लेने की उनकी प्रवृत्ति थी।

"तुलसी आदि के प्रयत्न से साम्प्रदायिकता का बॉध टूट जाने से भक्ति की रचना को जो विस्तार प्राप्त हुआ वह विहारी मे भी मोजूद है और आगे के कवियो मे भी मिलता है। विहारी की यह कविता भी अपनी विशेषता बरावर लिये हुए है, उनकी वाणी का वॉकपन भक्ति-सम्वन्धी उक्तियो मे भी वरावर मिलता है।"[2]

प्रेम और सौन्दर्य के कवि विहारी ने कृष्ण के सौन्दर्य और भाव-भगिमाओ का भी सुन्दर चित्रण किया है। कृष्ण का भृकुटि-सचालन, उनके पीत-पट की चटक, लटकती चाल, चपल नेत्रो की चितवन किस के चित को नही चुरा लेती ? उनके हृदय पर पडी हुई गुजाओ की माला पिये हुए दावानल की ज्वाला-सी प्रतीत होती है, मोरमुकुट की चन्द्रिकाओ मे वे ऐसे प्रतीत होते है मानो कामदेव ने शशिधर की स्पर्धा से सैकडो चद्रमा सिर पर धारण कर लिये हो। जव वे अधर पर हरे बॉस की मुरली धरते है तो अधर, नेत्र और पीत-पट की आभा पडने से वह इन्द्रधनुप के समान भासित होने लगती है। इस

---

१ देखिये, 'सूर और उनका साहित्य', पृष्ठ १४२
२ श्री विश्वनाथप्रसाद मिश्र, 'बिहारी की वाग्विभूति,' पृष्ठ १३४

रम्य परम्परा को देखकर विहारी का मन मुग्ध हो जाता है और वे प्रार्थना करने लगते है—

सीस मुकुट, कटि काछनी, कर मुरली, उर माल ।
यहि बानक मो मन वसो सदा विहारीलाल ।।

कृष्ण के इस दिव्य रूप के साथ राधा की अलौकिक सुन्दरता के आकर मिल जाने पर रमणीयता का जो विशाल सागर उमड पडता है उसके पूर्णतया दर्शन के लिए न जाने कितने नेत्रो की आवश्यकता है—

नित प्रति एकत ही रहत, वैस, वरन, मन, एक ।
चहियत जुगलकिशोर लखि, लोचन जुगल-अनेक ।।

सौन्दर्य-राशि की अनिर्वचनीयता, उसके गम्भीर प्रभाव और तज्जन्य भावानुभूति की अवर्णनीयता की इससे अच्छी अभिव्यक्ति हो नही सकती ।

विहारी की भक्ति-विषयक उक्तियो की जो चर्चा ऊपर की गई है उससे यह निष्कर्ष निकलता है कि विहारी उच्चकोटि के सहृदय कवि थे जिनकी रचनाओ मे विविध भावो की मनोमोहिनी अभिव्यक्ति हुई है । उनका वर्ण्य-विषय प्रधानतया शृगार अवश्य है परन्तु सच्चे हृदय से निकलती हुई भक्तिभावपूर्ण उक्तियाँ भी उनकी रचना मे अवलोकनीय हैं । भक्ति-भाव-सम्बद्ध इन उक्तियो मे भक्ति की सामान्य भावना का विशेप स्वरूप ही समझना चाहिए ।

मुक्तक-दोहा

वच्चनसिह

सस्कृत के आचार्यों ने मुक्तक को विभिन्न ढग से परिभाषित किया है। उन परिभाषाओ मे से कुछ निम्नलिखित हैं—

१ मुक्तक वाक्यान्तर निरपेक्षो य· श्लोक·।

—काव्यादर्श

२ मुक्तकमेतरानपेक्षमेक सुभाषितम्।

—तरुण वाचस्पति (काव्यादर्श के टीकाकार)

३ मुक्तकं श्लोक एवैकश्चमत्कारक्षमः सताम्।

—अग्निपुराण

४ मुक्तकमन्येनानालिंगितम् पूर्वापरनिरपेक्षेणापि हि
येन रस चर्वणा क्रियते तदेव मुक्तकम्।

—अभिनवगुप्त, ध्वन्यालोक लोचन।

पहली परिभापा मे वाक्यान्तर निरपेक्ष श्लोक मुक्तक कहा गया है। इसमे मुक्तक के वाह्य पक्ष का उल्लेख है, आन्तरिक पक्ष का नही। इसलिए यह परिभापा त्रुटिपूर्ण है। दूसरी परिभापा मे इतर की अपेक्षा न करने वाला सुभापित मुक्तक माना गया है। तरुण वाचस्पति का 'सुभापित' शब्द वडा भ्रामक है। सुभापित सूक्ति-काव्य होता है। इसमे सूक्तिकार प्राय जीवन के अनुभावित सत्यो का उद्घाटन नैतिक मूल्य-बोध की दृष्टि से करता है। इन सुभाषितो का रसक्षम होना आवश्यक नही है, अतएव उन्हे काव्य की कोटि मे नही रखा जा सकता। अग्निपुराण के अनुसार अकेले ही सहृदयो को पुराण-कार ने आत्मचैतन्य, रम और चमत्कार को समानार्थक माना है। अभिनवगुप्त और कुन्तक ने 'चमत्कार' का प्रयोग 'रस' के अर्थ मे लिखा है। पडितराज जगन्नाथ काव्य की-परिभापा देते हुए लिखते है—रमणीयार्थ-प्रतिपादक शब्द काव्यम्। रमणीयता च लोकोत्तराह्लाद जनक ज्ञान-गोचरता। लोकोत्तरत्व चाह्लादगत चमत्कार पर्याय अनुभवसाक्षिको जातिविशेप। कहने का तात्पर्य है कि काव्यशास्त्र मे चमत्कार रस के

अर्थ मे ही प्रयुक्त है । इसलिए अग्निपुराण की दी हुई परिभाषा सर्वथा औचित्यपूर्ण है पर अभिनवगुप्त ने लोचन मे इसकी जो परिभाषा दी है वह सर्वाधिक स्पष्ट और पूर्ण है। अन्य से अनालिंगित, पूर्वापरनिरपेक्ष होते हुए मुक्तक रस-क्षम होता है । पूर्वापरनिरपेक्षता मुक्तक की वाह्य विशेषता है तो चमत्कारोत्पादन की क्षमता उनकी आन्तरिक विशेषता। मुक्तक की मुक्तता उसके अन्य से अनालिगन मे है, उसके अकेलेपन मे है। पर उसे काव्य होने के लिए रस-क्षम होना अनिवार्य है ।

किन्तु मुक्तक की पूर्वापरनिरपेक्षता को लेकर यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि क्या मुक्तक पूर्वापरनिरपेक्ष होकर पूर्वापरसापेक्ष नही हो सकते ? हो सकते है। सूरसागर के पद क्या पूर्वापरसापेक्ष नही है, पर सूर के पदो का यह वैशिष्ट्य है कि वे पूर्वापर-सापेक्ष होकर भी एक-दूसरे से अनालिगित या स्वतन्त्र है । मुक्तको के सम्बन्ध मे विचार करते समय विचार्य होता है उनका अन्य से अनालिगन या स्वातन्त्र्य। इसी शर्त की रक्षा करते हुए यदि प्रबन्ध के मध्य मे कोई श्लोक हो तो वह मुक्तक कहा जा सकता है, इसे अभिनवगुप्त ने स्वय स्वीकार किया है । लेकिन मुक्तक को किसी वस्तु की सज्ञा या रूढ सज्ञा मान लेने पर 'मुक्त' (अन्य से अनालिगित) + क (प्रत्यय) प्रबन्धान्तर्गत श्लोकान्तर से निरपेक्ष किसी रस-क्षम श्लोक को भी मुक्तक मानना अभिनवगुप्त ने अस्वीकार कर दिया है[१]—सूरसागर मे प्रबन्ध-विधान मिलता है, फिर भी उसे प्रबन्ध-काव्य नही कहा जाता। उसी प्रकार प्रबन्ध-काव्य के बीच मुक्तक को पूर्णत चरितार्थ करने वाले श्लोक या पद्य मुक्तक नही हो सकते ।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने मुक्तक और प्रबन्ध का भेद स्पष्ट करते हुए लिखा है—"मुक्तक मे प्रबन्ध के समान रस की धारा नही रहती जिसमे कथा-प्रसग की परिस्थिति मे अपने को भूला हुआ पाठक मग्न हो जाता है और हृदय मे एक स्थायी प्रभाव ग्रहण करता है । इसमे तो रस के ऐसे छीटे पडते है जिनसे हृदय-कलिका थोडी देर के लिए खिल उठती है । यदि प्रबन्ध-काव्य एक विस्तृत वनस्थली है तो मुक्तक एक चुना हुआ गुलदस्ता है। उसमे उत्तरोत्तर अनेक दृश्यो द्वारा सघटित पूर्ण जीवन का या उसके किसी अग का प्रदर्शन नही होता वल्कि कोई एक रमणीय दृश्य सहसा सामने ला दिया जाता है।"[२]

इस उद्धरण मे शुक्लजी ने मुक्तक को गुलदस्ता कहकर उसकी काट-छाँट, तराश अर्थात् शिल्प-सज्जा की ओर जो ध्यान आकृष्ट किया है वह बहुत सगत है , पर प्रवन्ध और मुक्तक की प्रभावान्विति की चर्चा करते हुए एक को स्थायी और दूसरे को उतना स्थायी न मानना तर्कपूर्ण नही लगता। चडीदास, विद्यापति, सूरदास, तुलसीदास के मुक्तको को कम स्थायी कैसे माना जा सकता है ? इन सभी कवियो ने कुछ मनोदशाओ के जो चित्र प्रस्तुत किए है वे अत्यन्त मार्मिक तथा अविस्मरणीय है। इसीलिए तो कहा

---

१. तेन स्वतन्त्रतया परिसमाप्तनिराकाङ्क्षार्थमपि प्रबध-मध्यवर्ति न मुक्तक-मित्युच्यते । —लोचन

२ 'हिन्दी साहित्य का इतिहास'

गया है—'अमरुक कवेरेक श्लोक प्रबध शतायते।' अमरुक के एक-एक श्लोक पर शत-शत प्रबन्ध निछावर है। इससे कम-से-कम इतना तो स्पष्ट ही है कि मुक्तक अतिशय रस-क्षम और लोकप्रिय रहे है। ध्वनिवादियो के अनुसार मुक्तको की उदात्तता नि सदिग्ध हो चुकी है।

मुक्तको की रसार्द्रता उनके प्रसग-गर्भत्व और मर्मस्पर्शी खण्ड दृश्यो के चुनाव पर निर्भर है। प्रसग-गर्भत्व दो प्रकार का होता है—रूढियुक्त और रूढिमुक्त या स्वतन्त्र। रूढियुक्त सन्दर्भ-कल्पना के लिए सहृदय का शास्त्र-विहित काव्य परिपाटी से अभिज्ञ होना आवश्यक है। काव्य-रूढियो की अधिक जानकारी मुख्यत उन लोगो को होती है जो विशेप शोभन प्रतीत होते है। इसीलिए मध्यकाल के दरवारी वातावरण मे इनके विकास का अच्छा अवसर मिला। काव्य-परिपाटी से अनभिज्ञ पाठक निम्नलिखित दोहो की आस्वादन-क्षमता से अपरिचित ही रह जायगा—

१ पलनु पीक, अजनु अधर, धरे महावरु भाल।
आजु मिले, सु भली करी, भले बने हौ लाल॥
२ जुवनि जोन्ह मैं मिलि गई, नैंक न होति लखाइ।
सौधें कै डोरै लगी अली चली सग जाइ॥
३ लाल, अलौकिक लरिकई, लखि लखि सखी सिहाति।
आजकालि मै देखियतु, उर उकसौंहीं भाति॥

इन दोहो का पूर्ण रसास्वादन वही कर सकता है जो खडिता अभिसारिका और अकुरितयौवना की परिभाषाओ से अभिज्ञ हो।

एक दूसरा उदाहरण लीजिए—

विथुरऔ जावक सौति-पग, निरखि हँसी गहि गाँस।
सलज हँसौही लखि लियौ, आधी हँसी उसाँस॥

यदि कोई इस रूढि को न जानता हो कि नायक प्रेम के प्रसग मे महावर लगाया करते है, उनके सात्विक भाव (कप) से ऐसे-ऐसे आघात लोगो के हृदय पर वरावर होते हैं, तो कोई कुछ नही कह सकता। 'आधी हँसी उसाँस' का तात्पर्य तभी खुलेगा। प्रसग यह होगा कि कोई नायिका अपनी सौत के पैर मे टेढा-मेढा महावर लगा देखकर इस व्यग्य से हँसी कि इसे महावर लगाने का भी शऊर नही है। पर उसके हँसने पर सौत कुछ लज्जित हुई और हँसने-हँसने-सी हो गई। नायिका ने तुरत ताड लिया कि मेरे नायक ने ही इसके पैर मे महावर पोता है, अगस्पर्शजन्य कप के कारण यह फैल गया है, इसलिए वह पूरी तरह हँसने भी नही पायी, वीच मे ही उसाँस लेने लगी।[१]

पर मुक्तको मे सदर्भ-कल्पना को उतना ही महत्त्व देना चाहिए जितना उसका प्राप्य है। सदर्भ-कल्पना काव्य का सहायक उपकरण है, वह स्वत काव्य नही है। यह कल्पना जहाँ चक्करदार होगी वहाँ रूढियो की प्रधानता काव्यात्मकता को बहुत कुछ गौण वना देगी। विहारी ने चक्करदार सदर्भ-कल्पना के अतिरिक्त स्वाभाविक सदर्भ-

---

१. प० विश्वनाथप्रसाद मिश्र, बिहारी, पृ० १२६

कल्पना का भी सहारा लिया है और ऐसी कल्पना का उनमे आधिक्य है। एक उदाहरण लीजिए—

मृगनैनी दृग की फरक, उर-उछाह, तन फूल।
बिन ही पिय-आगम उमगि, पलटन लगी दुकूल ॥

इसके पूर्व के उदाहरण मे, जिसमे सात्विक कम्प की रूढि का सहारा लिया गया है, काव्य-पक्ष दब गया है और उसके स्थान पर चमत्कारिकता उभरकर सामने आयी है। किन्तु इस उदाहरण मे आगमिष्यत्पतिका नायिका ने प्रिय के आगमन का शुभ शकुन अनुमान कर अपने भूपण-वसन का बदलना प्रारम्भ कर दिया है। इस दोहे की सदर्भ-कल्पना सहज है, चक्करदार नही। इसलिए इसका काव्य-पक्ष अपने-आप निखर आया है।

स्वतन्त्र सदर्भ-कल्पना वहाँ की जाती है जहाँ काव्यशास्त्रीय रूढियाँ काम नही देती। पर इन कल्पनाओ के लिए भी आवश्यक है कि सहृदय को काव्य-विषयक दीर्घ-कालीन अभ्यास हो—

नहिं अन्हाइ, नहिं जाइ घर, चितु चिहुट्यौ तकि तीर।
परसि फुरहरी लै फिरति, बिहसति, धँसति न नीर ॥

इस दोहे का काव्य-सौन्दर्य तभी प्रस्फुटित होगा जब यह कल्पना कर ली जाय कि नायिका के स्नान-स्थल पर नायक आ गया है और नायिका उसकी दर्शन-लालसा के कारण स्नान मे विलम्ब करती है। यह सदर्भ-कल्पना किसी काव्य-रूढि से बँधी नही है। यो इस प्रकार की सदर्भोद्भावना किसी तरह मौलिक नही कही जा सकती, पर इसको किसी खास परिपाटी के भीतर नही रखा जा सकता।

इन सदर्भ-कल्पनाओ के आधार पर ही बिहारी को रीतिकाल का प्रतिनिधि कवि कहा गया है। पर ये सदर्भ-कल्पनाएँ इस परम्परा मे आनेवाले प्राकृत-सस्कृत के शतको मे भी मिलती हैं। इसलिए बिहारी की रीतिबद्धता पर प्रश्नचिह्न लग जाता है।

रह गई खण्ड-दृश्यो के चुनाव की बात। जो खण्ड-दृश्य जीवन के जितने गहरे मर्म का उद्घाटन करेगा वह उतना ही प्रभावोत्पादक और जीवन्त होगा। वह दृश्य किसी आख्यान या वृत्त पर भी आधृत हो सकता है और गहन जीवनानुभव पर भी। सूर, तुलसी आदि भक्त-कवियो के मुक्तक प्रथम कोटि मे आएँगे, तो बिहारी, घनआनन्द के दूसरी कोटि मे।

यो तो कई दृष्टियो से मुक्तको का वर्गीकरण किया गया है पर काव्य-मीमासा-कार राजशेखर का वर्गीकरण सगत प्रतीत होता है। उनके मतानुसार मुक्तको के पाँच भेद है—

१. शुद्ध,
२ चित्र,
३. कथोत्थ,
४ सविधानक-भू और
५ आख्यानकवान्।

जो मुक्तक इतिवृत्त-विरहित हो वह शुद्ध के नाम से अभिहित होता है। यदि शुद्ध को विस्तार दिया जाय तो वह चित्र कहा जायगा। कथा से उत्थित होने वाला मुक्तक कथोत्थ कहा जाता है। किसी रजकतापूर्ण घटना या सविधान से सयुक्त मुक्तक सविधानक-भू की कोटि मे रखा जाएगा। आख्यानकवान् मुक्तको मे ऐतिहासिक आख्यान को कल्पना-रजित बना दिया जाता है। 'बिहारी-सतसई' मे सभी के उदाहरण मिल जाएँगे।

शुद्ध मुक्तक—

अग-अग छबि की लपट, उपटति जाति अछेह।
खरी पातरीऊ तऊ, लगै भरी सी देह॥

इसमे कोई वृत्त नही है। नायिका का सहज सौन्दर्य अपने-आप चित्रित हो उठा है। चित्र-मुक्तक—

आए आप भली करी, मेटन मान-मरोर।
दूरि करौ यह देखिहै, छला छिगुनिया छोर॥

इसमे मनोविकार को किंचित् विस्तार दे दिया गया हे।

सविधानक-भू—

लरिका लैबै के मिसनि, लगर मो ढिग जाय।
गयौ अचानक आँगुरी, छाती छैल छुवाय॥

इसमे धूर्त नायक की छलपूर्ण प्रेम-क्रीडा का कथन है जो एक रजक घटना है।

आख्यानकवान्—

नाह गरज नाहर गरज, बोल सुनायौ टेरि।
फँसी फौज की बन्दि में, हँसी सबन तन हेरि॥

फौज के बीच घिरी हुई रुक्मिणी का वर्णन ऐतिहासिक तथा पौराणिक आख्यान है। इसे कल्पना के मिश्रण द्वारा रमणीय बना लिया गया है। 'नहिं-पराग हवाल' दोहे को कथोत्थ मुक्तक कहा जा सकता है। पर बिहारी मे कथोत्थ और आख्यानवान् मुक्तक मिलते है, उनमे शुद्ध, चित्र और सविधानक-भू मुक्तको की अधिकता है। भक्त-कवि प्राय आख्यानमूलक मुक्तको की सर्जना करते रहे है, पर भक्तेतर कवि प्राय विशुद्ध भावजीवी होने के कारण आख्यानो का सहारा कम लेते थे। हाल, अमरु ऐसे ही कवि थे और बिहारी इन्ही की काव्य-परम्परा मे पडते है।

दोहा

'बिहारी-सतसई' मे दोहा छन्द का प्रयोग किया गया है, कही-कही सोरठा भी दिखाई दे जाता हे। भाषा और सस्कृति की नयी करवट बदलता हुआ अपभ्रश भाषा-साहित्य दोहा छन्द साथ लेकर आया। उस काल की दर्पपूर्ण वीरतापरक उक्तियो, कोमल शृगारिक भावनाओ तथा नीतिपरक सूक्तियो को बाँधने मे इसे पूरी सफलता मिली। अपभ्रश का यह अपना छन्द है। डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी का कहना है कि "दोहा या दूहा अपभ्रश का अपना छन्द है। उसी प्रकार जिस प्रकार गाथा प्राकृत का अपना छन्द है। बाद मे तो 'गाथा बन्ध' से प्राकृत रचना

और 'दोहा बन्ध' से अपभ्रश रचना का वोध होने लगा था । 'प्रवन्ध-चिन्तामणि' मे तो 'दूहा विद्या' मे विवाद करनेवाले दो चारणो के विवाद की कथा आयी है, जो सूचित करती है कि अपभ्रश काव्य को 'दूहा विद्या' भी कहने लगे थे । दोहा अपभ्रश के पूर्ववर्ती साहित्य मे एकदम अपरिचित है, किन्तु परवर्ती हिन्दी साहित्य मे यह छन्द अपनी पूरी महिमा के साथ वर्तमान है ।"[१] डॉ० द्विवेदी ने दोहे का सम्बन्ध आभीरो से जोडा है, क्योकि अपभ्रश भाषा भी आभीरो से सम्बद्ध है । सोरठा का सम्वन्ध सौराष्ट्र से जोडा गया है, इसे सोरठ दोहा भी कहते है । आभीरो-गुर्जरो का सौराष्ट्र से पुराना सम्बन्ध है ।

अपभ्रश कवियो के बावजूद हिन्दी के अनेक विशिष्ट कवियो ने इस छन्द का प्रयोग किया है । मीरा और सूर के पदो मे भी इसका विनियोग हुआ है । जायसी के 'पद्मावत' और गोस्वामी तुलसीदास के 'रामचरितमानस' के वीच-बीच मे इस छन्द का प्रयोग किया गया है । यह प्रबन्ध-विधान मे कडियाँ मिलाने के साथ-साथ विराम का भी काम करता है । अपभ्रश काव्यो मे कई पक्तियो के बाद धत्ता देने की रीति प्रचलित थी । पश्चिमी अपभ्रश मे दोहे का धत्ता देना प्रचलित भी था । 'पद्मावत' और 'रामचरितमानस' मे यह धत्तात्मक रूप मे ही प्रयुक्त हुआ है ।

रीनि-काव्यो के लक्षण-निरूपण मे दोहे का खूब प्रयोग किया गया । कदाचित् स्मरण की सुविधा से इसे अपनाना अधिक सगत लगा । कही-कही तो उदाहरण के लिए भी इसका उपयोग किया गया है । हिन्दी सतसइयो की परम्परा मे तो इस छन्द का एक-छत्र राज्य है ।

पर साखी और दोहरा क्या है ? गोस्वामी तुलसीदास ने एक स्थान पर कहा है—'साखी सबदी, दोहरा कहि काहनी उपखान । इससे पता लगता है कि साखी और दोहरा दोहे से कुछ भिन्न है । पहले 'साखी' साक्षी के अर्थ मे ही प्रयुक्त होता रहा होगा —'साखि करब जालधर पाएँ ।' किन्तु बाद मे जब साक्षी के लिए दोहा छन्द प्रयोग मे ले आया जाने लगा तब साखी शब्द दोहा का समानार्थक हो गया । फिर भी विषय-वस्तु की दृष्टि से साखी की अपनी विशिष्ट परम्परा बनी ही रही, और दोहरा इसमे 'रा' स्वार्थे नही प्रयुक्त है,अन्यथा गोस्वामीजी अलग से इसका उल्लेख क्यो करते ? भिखारी-दासके मतानुसार दोहे के विषम चरणो मे से एक-एक मात्रा घटाने से दोहरा छन्द बनता है ।

दोहा अर्ध-सम मात्रिक छद है । इसके पहले तथा तीसरे चरणो मे १३-१३ और दूसरे तथा चौथे चरणो मे ११-११ मात्राएँ है । सामान्यत दोहे का यही लक्षण है । ब्रजभाषा के प्रकाड पडित जगन्नाथदास 'रत्नाकर' ने दोहे के कई लक्षणो को उद्धृत करते हुए उनमे अतिव्याप्ति अथवा अव्याप्ति दोष दिखाया है । उन्होने उसका लक्षण निर्धारित करते हुए लिखा है—

आठ तीन द्वै प्रथम पद, दूजै पद बसु ताल ।
बसु में त्रय पर द्वै न गुरु, यह दोहा की चाल ॥[२]

---

१. हिन्दी साहित्य, प्रथम सस्करण, पृ० ११
२ कविवर बिहारी, प्रथम सस्करण, पृ० १३

इसका अभिप्राय है कि दोहे के प्रथम तथा तृतीय चरण मे ८, ३, २ और ८ पर मात्राएँ अलग हो जानी चाहिए अर्थात् आठवी, नवी से अथवा ग्यारहवी, बारहवी से मिलकर गुरु न हो जाय। पर ८, ३ आदि पर शब्दो का पृथक् होना आवश्यक नही है। मात्राओ की बाँट का क्रम इस प्रकार होगा—८ + ३ + २, ८। रत्नाकरजी के इस लक्षण-निरूपण के आधार 'बिहारी-सतसई' के दोहे है।

अन्य छन्दो की भाँति दोहा छन्द भी निरन्तर परिमार्जित होता रहा है। 'बिहारी-सतसई' मे आकर उसे जैसे पूर्णता प्राप्त हो गयी। थोडे मे बहुत अधिक कह जाने के लिए बडी कला-कुशलता अपेक्षित होती है। दोहे की इसी विशेपता को लक्ष्य करते हुए रहीम ने कहा है—

दीरघ दोहा अरथ के, आखर थोरे माँहि।
ज्यो रहीम नट कुडली, सिमिट कूदि चढि जाहि ।।

थोडे मे व्यापक अर्थ को समेट लेना दोहे की समाहार शक्ति पर निर्भर है। किन्तु समाहार की क्षमता केवल सामाजिक पदावली के प्रयोग पर आधारित नही है। बिहारी अपने दोहो मे रूप, भाव, चेष्टा आदि का प्रभावोत्पादक चित्र खडा करते है। इस चित्र के लिए उन्होने जो फलक चुना है, उस पर थोडी ही रेखाएँ खीची जा सकती है। इन रेखाओ को खीच देने मे ही—प्रभावोत्पादक ढग से खीच देने मे—चित्र को प्रभविष्णु और भास्वर बनाया जा सकता है। जिस तरह रेखा-चित्रो मे कुछ ही सार्थक लकीरो द्वारा चित्र को अर्थ पूर्ण बना दिया जाता है उसी तरह बिहारी के दोहो को भी गूढ अर्थ-गर्भ-व्यापारो के चुनाव द्वारा व्यजक बना दिया गया है।

तन्त्री नाद, कवित्त-रस, सरस राग, रति-रंग।

o o o

तन भूषन, अंजन दृगनि, पगनि महावर रंग।

(वस्तु)

o o o

चमक तमक हाँसी ससक मसक झपट लपटानि।

(व्यापार)

अपेक्षित भावो की अभिव्यक्ति मे बिहारी ने कुछ ऐसे वस्तु-व्यापारो का चुनाव किया है जो प्रभावपूर्ण भाव-चित्र खडा करने मे बहुत ही समर्थ हैं। इन वस्तु-व्यापारो मे जो क्रम-स्थापन किया गया है वह भी प्रभावोत्पादन मे विशेष योग देता है। एक दोहा देखिए—

सघन कुंज घन घन तिमिर, अधिक अँधेरी रात।
तऊ न दुरि है स्याम यह, दीप-सिखा-सी जात।।

पहली पक्ति मे तीन वस्तुओ—कुज, तिमिर, अँधेरी रात—को जो क्रम दिया गया है वह रात्रि की भयकर कालिमा को उभारने मे कितना सूक्ष्म है।

इनके चुनाव मे उन्होने प्राय तीन या चार ही वस्तु-व्यापारो को चुना है, इससे अधिक के लिए दोहे मे अवकाश ही कहाँ है? चाहे उपमा, रूपक, असगति, विरोधाभास,

दृष्टात आदि अलकारो का निर्वाह करना हो, चाहे अनुभाव, हाव आदि का चित्रण करना हो सर्वत्र गूढ-अर्थ-गर्भ वस्तु-व्यापारो को चुना गया है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने जिसे व्यापार-शोधन का नाम दिया है उसे सतसई मे सामान्यत सर्वत्र देखा जा सकता है।

कला के प्रति अत्यधिक सचेत होने के कारण इनके दोहो मे टेकनीक सम्बन्धी त्रुटि नही आ पायी है। समूचे हिन्दी-साहित्य मे इतना सचेत कलाकार शायद ही कोई हुआ हो। आधुनिक हिन्दी-साहित्य मे रत्नाकरजी मे जो सचेतता दिखाई पडती है वह बिहारी से अनुप्राणित तथा प्रभावित है। पर जहाँ पहले की सचेतता युग के अनुकूल नही पडती, वहाँ दूसरे की युग के सर्वथा अनुरूप बन पडी है। यही कारण है कि बिहारी का उदात्त रूप-विन्यास शोभन प्रतीत होता है। उनके दोहो के निर्माण मे जिस क्रमागत पद-विन्यास (रेगुलेरिटी) और अग-सघटना (सिमिट्री) का विनियोग हुआ है वह उन्हे रूपात्मक पूर्णता प्रदान करता है।

जिस युग मे बिहारी के दोहे निर्मित हुए वह युग अपनी अलकृति तथा काव्यात्मक बारीकियो के लिए इतिहास मे सदैव याद रहेगा। चित्र तथा वास्तुकला मे सूक्ष्माति-सूक्ष्म भाव-भगिमाओ को ख्यापित करने मे जिस नागरिक रुचि का परिचय मिलता है बिहारी के दोहे भी उसी का प्रतिनिधित्व करते है।

सतसई की परम्परा

डॉ० रणधीर सिन्हा

सस्कृत-साहित्य मे श्लोक का जो महत्त्व है, हिन्दी मे दोहा को वही महत्त्व प्रदान किया गया है। न तो श्लोक सस्कृत-साहित्य का प्रधान छन्द है और न दोहा हिन्दी-साहित्य का। अपभ्रश साहित्य का प्रधान छन्द दूहा अथवा दोहा अवश्य रहा है। सस्कृत-साहित्य मे सौ, सात सौ, एक हज़ार श्लोको की रचना करने की परिपाटी प्राचीन है। 'शतक', 'सप्तशती', 'सप्त शतिका' अथवा 'सप्तशति' के रूप मे क्रमश सौ और सात सौ श्लोको की रचना सस्कृत-साहित्य मे पर्याप्त हुई है। वैसे सौ अथवा सात सौ के लगभग की सख्या मे रचित श्लोको को भी 'शतक' अथवा 'सप्तशती' की सज्ञा दे दी जाती रही। यह आवश्यक नही था कि 'शतक' मे सौ ही श्लोक हो अथवा 'सप्तशती' मे सात सौ ही श्लोक हो। यद्यपि इस नियम का पालन कठोरता से नही किया गया है किन्तु सस्कृत रचनाकारो का ध्यान नियम के अनुसरण की ओर अवश्य रहा है। 'सतसई' 'सप्तगती' अथवा 'सप्तशतिका' शब्दो का ही हिन्दीकरण है तथा तद्‌भव रूप है।[1] सात सौ अथवा इसके लगभग की सख्या मे दोहो की रचना कर उन्हे 'सतसई' के नाम से सगृहीत कर देना हिन्दी के कवियो ने सस्कृत परम्परा से उधार लेकर ही सीखा है।[2] सस्कृत और प्राकृत मे सख्या के आधार पर जो सग्रह रचे गये है उनकी सख्या अधिक है। पचाशिका, शतक, सप्तशती आदि विभिन्न सख्यावाचक सग्रहो की सख्या जार्ज ग्रियर्सन ने ३१ बतायी है।[3] उनकी सूची निम्नलिखित है

१ सप्तशतिका (प्राकृत मे), हाल रचित, पाँचवी शती ईसवी।

२ सूर्यशतक, मयूर रचित, सूर्य की स्तुति मे, सातवी शती (ईसवी) का पूर्वार्द्ध।

३ चण्डीशतक, बाणभट्ट रचित, चण्डी की स्तुति मे, सातवी शती का पूर्वार्द्ध।

---

१ लालचन्द्रिका, सम्पादक : जार्ज अब्राहम ग्रियर्सन, भूमिका, पृ० २-३।

२ बिहारी की सतसई, पद्मसिंह शर्मा, पृ० स० २१।

३ सतसई सप्तक, श्यामसुन्दरदास, पृ० ४।

४ भर्तृहरिशतक, (वैराग्य,नीति तथा शृंगारशतक) भर्तृहरि रचित,सातवी शती।
५ वक्रोक्ति पचाशिका, रत्नाकर रचित, नवी शती का उत्तरार्द्ध ।
६ भल्लटशतक, वल्लट रचित, दसवी शती के पूर्व ।
७ देवी शतक, आनन्दवर्द्धन, नवी शती का उत्तरार्द्ध ।
८ साम्ब पचाशिका, सूर्य की स्तुति, ग्यारहवीं शती के पूर्व ।
९ चौर पचाशिका, ग्यारहवी शती ।
१० आर्या सप्तशतिका, गोवर्द्धन, ग्यारहवी शती के अत मे ।
११ सुन्दरी शतक, उत्प्रेक्षा वल्लभ, सोलहवी शती का पूर्वार्द्ध ।
१२ वैराग्य शतक, अप्पय दीक्षित, सोलहवी शती का अन्त ।
१३ वरदराज शतक, अप्पय दीक्षित, सोलहवी शती का अन्त ।
१४ सभारजन शतक, नीलकठ रचित, सत्रहवी शती का पूर्वार्द्ध ।
१५ अन्यापदेश शतक, वही ।
१६ कलि विडम्बना शतक, वही ।
१७ रोमावली शतक, विश्वेश्वर, सत्रहवी शती का पूर्वार्द्ध ।
१८ ईश्वर शतक, अवतार रचित, सत्रहवी शती का पूर्वार्द्ध ।
१९ शिव शतक, शिव की स्तुति, गोकुलनाथ रचित, अठारहवी शती का अन्त ।
२० उपदेश शतक, गुमानी ।
२१ भाव शतक, नगरराज धारा नरेश के निमित्त किसी राजकवि द्वारा रचित ।
२२ पचशती, मूक रचित, पाँच सौ श्लोक ।
२३ अन्योक्ति शतक, वीरेश्वर भट्ट रचित ।
२४ काव्य भूषण शतक, कृष्णवल्लभ रचित ।
२५ जिन शतक, एक जिन की स्तुति मे लिखित ।
२६ वैराग्य शतक, पद्मानन्द रचित ।
२७ ऋषभ पचाशिका (प्राकृत मे) धनपाल रचित, जैन ऋषभ की स्तुति मे ।
२८ सुदर्शन शतक, कुरुनारायण रचित ।
२९ अन्यापदेश, मिथिला के मधुसूदन द्वारा रचित ।
३० चण्डी कुच पचाशिका, लक्ष्मणाचार्य रचित ।
३१ गीति शतक, सुन्दराचार्य द्वारा रचित ।

इस प्रकार जार्ज ग्रियर्सन की सूची से इतना स्पष्ट हो जाता है कि सख्या वाचक नामो की परम्परा सस्कृत तथा प्राकृत मे सदा रही है। वैसे ग्रियर्सन के मत का अनुसरण करने पर यह स्पष्ट होता है कि प्राकृत से ही इस परम्परा का आरम्भ हुआ है।[१] प्राकृत मे रचित हाल की 'सप्तशतिका' जिसे 'गाथा सप्तशती' भी कहा जाता है, पहला ग्रथ है जो इस परिपाटी का आरम्भ करता है। 'गाथा सप्तशती' के सग्रहकर्ता मे सातवाहन का नाम भी आता है किन्तु हाल की यह रचना है, इसे विभिन्न सूत्रो ने प्रमाणित

---

१ लालचद्रिका सम्पादक : जार्ज अब्राहम ग्रियर्सन, भूमिका।

किया है।[1] हाल की 'गाथा सप्तशती' को इस परिपाटी का पहला ग्रथ अन्य सूत्रो ने भी माना है।[2]

जार्ज ग्रियर्सन के मत के अतिरिक्त अन्य मत ऐसे भी आये है जिनके अनुसार गीता भी सप्तगती है क्योकि उसमे सात सौ श्लोक है। अमरुकशतक की प्रसिद्धि सस्कृत मे पर्याप्त हुई है। श्री मार्कण्डेय पुराणान्तर्गत दुर्गासप्तशती का पता चलता है। प्राकृत मे 'वज्जालग्ग' इसी प्रकार का सग्रह है। ऐसी स्थिति मे ग्रियर्सन द्वारा लिखित सूची को अन्तिम नही माना जा सकता और इस प्रकार के सग्रहो की सख्या अधिक है। अनुमानत इनकी सख्या कई सौ है। सतसई परम्परा को विकसित करने का श्रेय कतिपय ग्रथो को ही दिया जा सकता है जिनमे साहित्य का स्तरीय निर्वाह हुआ है तथा जिनकी रचना मे रस का प्रभाव डालने वाला प्रवाह है। यहाँ सप्तशती ग्रथो का उल्लेख ही समुचित होगा क्योकि हमारा सम्बन्ध उन्ही से है।

प्राकृत की 'गाथा सप्तशती'

प्राकृत भाषा मे रचित महाकवि हाल की यह रचना है। सातवाहन ने इसका सग्रह किया है, किन्तु विद्वानो का मत यह भी है कि हाल का दूसरा नाम सातवाहन था। सातवाहन के नाम का उल्लेख वाण ने 'हर्षचरित' मे किया है।[3] पुराणो मे भी इस नाम का उल्लेख हुआ है। इस आधार पर हाल का समय १२५ ई० पूर्व का निर्धारित होता है। कीथ के अनुसार भी यह रचना अधिक से अधिक २०० ई० पूर्व तक की है। ग्रियर्सन ने इसका रचनाकाल पाँचवी शती ई० बताया है किन्तु ग्रियर्सन का कालनिर्धारण कई स्थलो पर अप्रामाणिक सिद्ध हो चुका है। शोध के आधार पर इसका रचनाकाल प्रथम गताब्दी का, निश्चित हो चुका है। 'गाथा सप्तशती' का विषयाधार लोक जीवन पर आधारित हुआ है। इसमे सात सौ गाथाओ अथवा आर्याओ का सग्रह किया गया है जिनकी भापा महाराष्ट्रीय प्राकृत है।

'गाथा सप्तशती' मे तत्कालीन समाज की रूपरेखा का अकन किया गया है। विप्रलम्भ शृगार, दैनिक जीवन के सुख-दु ख, प्राकृतिक दृश्यो का चित्रण तथा सहज स्वाभाविक ग्राम्य जीवन् का चित्रण करना हाल कवि का उद्देश्य रहा है। पशुचारण करती हुई गोपबालिकाओ, आभीरो की प्रेम-कथाओ, उनके पारिवारिक कार्यो से सम्बन्धित विपयो को ही इस ग्रथ मे स्थान दिया गया है। फलत 'गाथा सप्तशती' का शृगार

---

१ दरबारी सस्कृति हिन्दी मुक्तक, डॉ० त्रिभुवनसिंह पृ० ७४।

२ (क) हिन्दी साहित्य की भूमिका, डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० १११।

(ख) वाणी प्राकृत समुचितरसा बलेनैव सस्कृत नीता।
निम्नानुरूप नीरा कलिंदकन्येव गगनतलम् ॥
—गोवर्द्धनाचार्य, आर्यासप्तशती

३ अविनाशिनम ग्राम्यमकरोत्सातवाहन ।
विशुद्धजातिभि: कोषं रत्नैरिव सुभाषित ॥
—हर्पचरित, श्लोक १३।

लौकिक धरातल के अधिक समीप है तथा इसका सम्बन्ध आध्यात्मिकता से नही जोडा जा सकता। प्राकृत भापा का लोक-जीवन के समीप होना ही इसकी लौकिक शृगारिकता की उत्पत्ति है। यह ग्रथ एक ओर तो सतसई-परम्परा का विकास करने मे सहायक हुआ है, दूसरी ओर शृगार मे लौकिकता तथा यथार्थता का समावेश करने की परिपाटी भी इसी आदि सप्तशती ने आरम्भ की है। इस दृष्टि से इसका महत्त्व अविस्मरणीय है।

'गाथा सप्तशती' को आदर्श मानकर अथवा उसके अनुसरण पर लिखी गई सतसइयाँ दो प्रकार की है, एक प्रकार की जिनमे रचना के माध्यम से सूक्ति अथवा भक्ति-परक छन्दो अथवा दोहो की सृष्टि हुई और दूसरे प्रकार की जिनके माध्यम से शृगारिक ऐहिकतापरक रचनाएँ प्रस्तुत की गयी। सतसई के नाम से सख्यापरक सग्रह प्रस्तुत करने वाले आगे के प्राय सभी कवियो पर 'गाथा सप्तशती' का प्रभाव है जिसका अनुकरण कवियो ने अपनी वर्ण्य वस्तु के अनुसार किया। कुछ कवियो ने सख्या, शैली, विपयवस्तु आदि सभी कुछ को हाल के अनुसार अपनाया है और कुछ कवियो ने केवल सख्या तथा उक्ति वैचित्र्य को ही अपनाया है किन्तु वर्णन-सामग्री को अपनाने मे अपनी रुचि-विशेप का परिचय दिया है। इस प्रकार 'गाथा सप्तशती' से जिस सतसई-परम्परा का विकास हुआ, विपयवस्तु के आधार पर उसके दो स्वरूप हो गये है जिनका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है।[१] परम्परा के विकास के साथ प्रभाव डालने वाले उत्स का रूप विभिन्न स्थितियो से निर्धारित होता है। किसी भी उत्स का प्रभाव इसीलिए विभिन्न रूपो मे स्वीकृत होता है। अत 'गाथा सप्तशती' से विभिन्न रूपो मे सतसईकारो ने प्रभाव ग्रहण किया है। मूलत यह स्पष्ट है कि यह ग्रथ सतसई परम्परा को आदि से अन्त तक प्रभावित करता रहा और इस दृष्टि से यह एक महान् ग्रथ कहा जायगा।

गोवर्द्धनाचार्य की 'आर्या सप्तशती'

सतसई परम्परा मे एक परिवर्तन लाने का प्रयास गोवर्द्धनाचार्य ने अपनी 'आर्या सप्तशती' द्वारा किया। इस ग्रथ की रचना बारहवी शताब्दी मे प० गोवर्द्धनाचार्य ने की, जो वगाल के राजा लक्ष्मणसेन के सभाकवि थे। इसमे भी आर्याओ का सचयन है। गोवर्द्धन ने हाल की रचना से प्रभाव ग्रहण किया है। उन्होने स्वीकार किया है कि अपनी सस्कृत की रचना का आधार उन्होने प्राकृत से लिया और प्राकृत की प्रसिद्ध रचना हाल की 'गाथा सप्तगती' ही है। गोवर्द्धनाचार्य ने विपयवस्तु, सख्या, शृगार-प्रधान अभिव्यजना आदि का चयन हाल के अनुसार ही किया है, किन्तु अपनी मौलिकता को सुरक्षित रखते हुए। 'आर्या सप्तशती' मे भी लौकिक शृगार की प्रधानता है। प्राकृत और सस्कृत के सख्यापरक सग्रहो की परम्परा मे 'आर्या सप्तशती' ने किंचित् रुचि-परिवर्तन करने का प्रयास किया है। इन दो सप्तशतियो के मध्य ८५० ई० के लगभग लिखित अमरुक कवि के 'अमरुक शतक' का भी उल्लेख किया जा सकता है। अमरुक के शृगार मे रस का निर्झर है। परन्तु गाथा और आर्या सप्तशतियो के वीच जिस प्रकार का परम्परागत क्रम है वह अधिक महत्त्व की वस्तु है। 'गाथा सप्तगती' और

---

१ 'दरबारी सस्कृति और हिन्दी मुक्तक', डॉ० त्रिभुवनसिंह, पृ० ७४।

'आर्या सप्तशती' को हम दो प्रमुख स्तम्भो के रूप मे स्वीकार कर सकते है, इस परम्परा मे।

हिन्दी में सतसई की परम्परा

हिन्दी मे सतसई की परम्परा का आरम्भ तुलसीदास तथा रहीम खानखाना की सतसइयो से होता है। वैसे यदि भाव पर बल दिया जाए तो कृपाराम की 'हित तरगिणी', मुबारक के 'अलक शतक' और 'तिलक शतक' तथा बलभद्र मिश्र के 'आर्या सप्तशती' के अनुवाद को भी इस परम्परा के आरम्भ का श्रेय दिया जा सकता है। सम्प्रति अधिकतर न्यायसगत यही प्रतीत होता है कि 'तुलसी सतसई' और 'रहीम सतसई' को ही सम्यक् रूप मे हिन्दी की आरम्भिक परम्परा की कडी के रूप मे स्वीकृति दी जाय। 'तुलसी सतसई' इस दिशा मे पहली सफल रचना है। 'तुलसी सतसई' तथा 'रहीम सतसई' दोनो समकालीन सतसइयॉं है। 'मतिराम सतसई', 'बिहारी-सतसई' तथा 'रसनिधि सतसई' ये तीनो समकालीन सतसइयॉं है। वृन्द, विक्रम तथा राम की सतसइयाँ, बिहारी की सतसई के पश्चात् की रचनाएँ है। 'वीर सतसई' तो आधुनिक काल की ही रचना है।

तुलसी सतसई · इस सतसई की रचना सवत् १६४२ मे हुई। यह सात सर्गों मे विभाजित है। प्रथम सर्ग मे भक्ति का निरूपण किया गया है। दूसरे मे उपासना-परा भक्ति से सम्बन्धित दोहे है। तीसरे सर्ग मे राम-भजन-सम्बन्धी दोहे है। चौथे सर्ग मे आत्मबोध की विवेचना है। पॉचवे सर्ग मे कर्म-सिद्धान्त सम्बन्धी दोहे है। छठे सर्ग मे ज्ञान-सिद्धान्त का निरूपण किया गया है तथा सातवे सर्ग मे राजनीति सम्बन्धी दोहे हैं। इस प्रकार इसमे नीति की प्रधानता है तथा इसका प्रमुख उद्देश्य उपदेशात्मक है। इसमे कुल दोहे ७४७ है। इसमे कुछ ऐसे दोहे भी है जो कबीर की साखियो के जैसे हैं। तुलसीदास ने दोहो की उपयोगिता को उपदेश तथा ज्ञान प्रदान करने का माध्यम ही समझा था। फलत उनकी सतसई मे विवेक और उक्ति-प्रधान बुद्धिशीलता की ही झलक प्राप्त होती है। इसे सूक्ति-प्रधान सतसई कहना समुचित होगा।

रहीम सतसई रहीम सतसई अपूर्ण रूप मे प्राप्त होती है। इसमे भी तुलसीदास की भॉति रहीम ने उपदेशात्मक प्रवृत्ति को प्रधानता देकर सूक्ति-प्रेम का ही परिचय दिया है। नीति तथा अनुभव की बातें कहने मे रहीम के दोहे बडे विलक्षण है। रहीम ने अधिकाशत अनुभव का ही आधार लिया है जबकि तुलसी ने भक्ति और ज्ञान का। तुलसी ने भक्ति के माध्यम से मर्यादावादी मार्ग के अनुसरण पर बल दिया है जबकि रहीम के दोहे सदाचार और आचरणवादी मार्ग के अनुसरण पर बल देते है। रहीम की सतसई मे सासारिक आचार की प्रधानता है, तुलसी की सतसई मे सासारिक तथा नैतिक मर्यादा की प्रधानता है। इन दोनो सतसइयो मे सूक्ति-परम्परा का रूप है।

मतिराम सतसई मतिराम के उत्कृष्टतम नायिका-भेद ग्रथ 'रसराज' की रचना 'बिहारी सतसई' के आरम्भ होने से पूर्व ही सम्वत् १६९० के आसपास हो चुकी थी जिसमे 'मतिराम सतसई' के लगभग १२५ उत्कृष्टतम दोहे पाये जाते है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि जब सवत् १६९१ के आसपास 'बिहारी सतसई' का प्रथम दोहा साभिप्राय लिखा गया तो उस समय तक 'मतिराम सतसई' के उक्त दोहो की रचना हो

चुकी थी।' मतिराम सतसई' किसी परिस्थिति विशेष की न तो रचना ही है और न इसकी रचना 'मोहरो' के नुस्खे पर ही की गयी है। इस कवि ने समय-समय पर अपने मस्ती के क्षणो मे लिखा है जिससे उसके हृदय की सहज एव स्वाभाविक अनुभूतियाँ सरलतम भाषा मे मर्मस्पर्शी प्रभावो के साथ अभिव्यक्त हुई है। इनके दोहो मे बिहारी के दोहो की भाँति न तो 'तराशमठार' है और न ये बुद्धि को ही चमत्कृत करने का प्रयत्न करते जान पडते है।

मतिराम त्रिपाठी प्रसिद्ध रीतिकालीन कवि भूषण त्रिपाठी तथा चिन्तामणि त्रिपाठी के भाई थे, ऐसा कहा जाता है। इनकी सतसई मे अधिकाशत दोहे 'रसराज' तथा 'ललित ललाम' ग्रन्थो से लेकर सग्रहीत कर दिये गए है। मतिराम और बिहारी के दोहो की तुलना करने पर बिहारी के दोहे काव्य की दृष्टि से अधिक समृद्ध है। मतिराम ने अपनी रचना-शक्ति विभिन्न ग्रन्थो के प्रणयन मे लगायी जबकि बिहारी ने अपनी रचना-शक्ति का विभाजन न कर केवल सतसई के प्रणयन मे ही सारी शक्ति लगा दी। फलत बिहारी की सतसई का स्थान श्रेष्ठ है।

रसनिधि सतसई रसनिधि सतसई के कवि रसनिधि का वास्तविक नाम पृथ्वीसिह था। इनके विशाल ग्रन्थ 'रतन हजारा' का सक्षिप्त रूप 'रसनिधि सतसई' है। इनके लिखे अनेक ग्रथ है। ये मुख्यत प्रेम के कवि है। पेम मे इनका कवि-मन इतना तल्लीन है कि उसकी अभिव्यक्ति समय छोड देती है और अश्लीलता की सीमा मे प्रवेश कर जाती है। इनकी भाषा मे उर्दू-फारसी के शब्दो की प्रधानता है। इनका रचनाकाल सम्भवत १६६० और सम्वत् १७१७ के बीच का है। इन दोहो मे लौकिक प्रेम की सरस अभिव्यक्ति को अत्यधिक स्थान मिला है।

वृन्द सतसई इसकी रचना सवत् १७६१ मे हुई। इस प्रकार यह 'तुलसी सतसई' से लगभग १६०—१२० वर्ष बाद की रचना सिद्ध होती है। वृन्द ने 'सत्य स्वरूप' 'भावपचाशिका', 'अलकार सतसई', 'शृगार शिक्षा', 'हितोपदेशाष्टक' आदि कई ग्रथो की रचना की। इनके सभी ग्रथो मे सतसई ही सर्वाधिक प्रसिद्ध हुई। 'वृन्द सतसई' के अन्तर्गत कोरे उपदेशो को ही स्थान नही दिया गया है, वरन् इसमे पायी जानेवाली सूक्तियो मे सर्वत्र विदग्धता है। अपने सरस एव सरल भावो तथा अनोखे दृष्टान्तो के कारण इस रचना को इतनी ख्याति मिली है जितनी गोस्वामी तुलसीदास की सतसई को भी नही मिली।

राम सतसई इसके रचयिता रामसहायदास है। ये काशी-नरेश महाराज उदितनारायणसिह के आश्रित थे। इस सतसई का रचनाकाल सम्वत् १८६० से १८८० तक का ठहरता है क्योकि यह रामसहाय का रचनाकाल है। यह सतसई शृगार प्रधान है तथा इस पर बिहारी का प्रभाव परिलक्षित होता है। शृगार-प्रधान सतसइयो की परम्परा मे इस सतसई का महत्त्व अवश्य है। इस सतसई के अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है कि बिहारी की सतसई ने अपने परवर्ती काल को कितना प्रभावित किया है?

विक्रम सतसई : 'विक्रम सतसई' के रचयिता बुन्देलखण्ड की चरखारी रियासत के राजा विक्रमसिह है जिनका पूरा नाम विक्रमादित्य था। मतिराम के वशज

बिहारीलाल जो सतसईकार बिहारी से भिन्न थे, इन्ही के आश्रय मे थे। इनका राजत्व-काल सवत् १८३९ से सवत् १८८६ तक रहा और इसी बीच इस सतसई की रचना का अनुमान किया जाता है। इनके दोहे उच्चकोटि के नही है किन्तु सतसई-परम्परा और विशेषकर 'बिहारी-सतसई' के प्रभाव का प्रमाण प्रस्तुत करने वाले अवश्य है। शृगारिक सतसइयो मे इस सतसई की विशेषता इसकी सरलता के कारण स्थापित हुई है।

'बिहारी-सतसई' का प्रभाव मतिराम, रसनिधि, रामसहाय, वृन्द तथा विक्रम, सभी की सतसइयो पर पडा है। समकालीन होने के नाते मतिराम और रसनिधि के ऊपर इस कथन को नही घटाया जा सकता किन्तु वृन्द, विक्रम और रामसहाय की सतसइयो पर तो यह कथन सर्वथा सत्य घटित होता है। कुल मिलाकर तथा 'बिहारी-सतसई' को लेकर सत्रहवी शती से उन्नीसवी शती के बीच आठ सतसइयो की रचना हुई जो साहित्यिक दृष्टि से अपना समुचित महत्त्व स्थापित करती है। आधुनिक काल मे 'वीर सतसई', 'दुलारे दोहावली' आदि दोहा-ग्रन्थो की रचना हुई तथा दोहो की रचना आधुनिक काल मे प्राय होती रही है। दोहा-ग्रन्थो की दृष्टि से आधुनिक काल को उतना महत्त्व नही दिया जा सकता जितना भक्ति तथा रीतिकाल को। 'वीर सतसई' से केवल सतसई परम्परा के चालित होने का ही प्रमाण मिलता है।

सतसइयो का वर्गीकरण

हिन्दी की उल्लेखनीय सतसइयो का वर्गीकरण दो रीतियो से किया जा सकता है—एक, काल के अनुसार तथा दूसरा, उनकी प्रवृत्ति के अनुसार। काल के अनुसार विभाजन—

वर्ग क—सत्रहवी शताब्दी मे लिखित

१ तुलसी सतसई, २ रहीम सतसई।

वर्ग ख—अठारहवी शताब्दी के आरम्भ मे लिखित

१ मतिराम सतसई, २ बिहारी सतसई, ३ रसनिधि सतसई।

वर्ग ग—अठारहवी शती के उत्तरार्द्ध मे लिखित

१ वृन्द सतसई

वर्ग घ—उन्नीसवी शती मे लिखित

१ राम सतसई, २ विक्रम सतसई।

वर्ग च—बीसवी शती मे लिखित

१ वीर सतसई।

प्रवृत्ति के आधार पर सतसइयो का विभाजन इस प्रकार किया जा सकता है—

वर्ग क—सूक्तिप्रधान तथा उपदेशात्मक

१. तुलसी सतसई, २ रहीम सतसई, ३ वृन्द सतसई

वर्ग ख—शृगारिकता-प्रधान

१. बिहारी सतसई, २ मतिराम सतसई, ३ रसनिधि सतसई

वर्ग ग—वीर रस प्रधान

१ वीर सतसई

बिहारी ने पूर्ववर्ती सस्कृत,प्राकृत तथा हिन्दी साहित्य से प्रभाव ग्रहण किया है। शृगार-प्रधान रचनाएँ ही उनके लिए अधिकाशत आदर्श की प्रेरणाएँ रही है। 'गाथा सप्तशती', 'आर्या सप्तशती', 'अमरुक शतक' जैसे ग्रन्थो से उन्होने भाव ग्रहण किया है। अपनी मौलिकता को सुरक्षित रखते हुए उन्होने विभिन्न सूत्रो से आधार एकत्र किए है।

सतसई की परम्परा का अध्ययन करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि यह परम्परा दीर्घकालीन तथा सुदृढ है। मुक्तक काव्य मे इसका स्थान समृद्धिपूर्ण है ही, काव्य मे भी इस परम्परा को सुनियोजित स्थान प्रदान किया गया है। मुक्तक रचना मे दोहा तथा आर्या की रचना कठिन साधना का मार्ग समझा जाता है। फलत इतनी लम्बी तथा दीर्घकालीन परम्परा के बीच आर्या तथा दोहा-प्रधान मुक्तक ग्रथो की सख्या थोडी ही गिनी जाती है। यदि केवल सतसइयो की गणना की जाए तथा आर्या और दोहा छदो की ही सतसइयो को लिया जाय तो यह सख्या और भी अल्प हो जाएगी। मुख्यत सतसई-परम्परा मे तीन ही सतसइयाँ सतसई की कसौटी पर सर्वाधिक सफल उतरती है। प्राकृत मे 'गाथा सप्तशती' अथवा 'गाहा सतसई', सस्कृत मे 'आर्या सप्तशती' तथा हिन्दी मे 'बिहारी सतसई'। वैसे 'अमरुक शतक' को भी सस्कृत मे श्रेष्ठ स्थान प्राप्त है किंतु 'अमरुक शतक' को मुक्तक काव्य के अन्तर्गत मानकर भी उसे सतसइयो से भिन्न मानना चाहिए। सख्यापरक ग्रथ होने के कारण इसकी चर्चा सतसइयो के बीच भले ही कर ली जाए किंतु आर्या तथा दोहा छद ही सतसइयो के लिए उपयुक्त छन्द सिद्ध होते है। सख्यापरक नामो मे बाह्य साम्य केवल पद्धति के अनुकरण का होता है किन्तु उनके आन्तरिक सगठन भिन्न छन्दो के माध्यम से होते रहे है। अत नामकरण की पद्धति मे साम्य देखकर इन ग्रन्थो मे साम्य पूर्णत स्थापित करना समुचित नही। हिन्दी मे जो सतसइयो का प्रचलन हुआ है, वह दोहा छद के माध्यम से हुआ है। प्राय सभी सतसइयो मे दोहा छद ही है। इस बात के अनेक स्वस्थ प्रमाण है कि हिन्दी की सतसइयाँ 'गाथा सप्तशती' और 'आर्या सप्तशती' के समीप अधिक है, अन्य ग्रथो के समीप कम तथा हिन्दी सतसई परम्परा का मूल स्रोत ये दोनो सप्तसती ग्रथ ही है। बाह्‌य तथा आन्तरिक दोनो प्रकार से इन रच-नाओ ने हिन्दी की सतसई-परम्परा को सम्पूर्णत प्रभावित किया है और इन्हे इस परम्परा की आदि भूमि के रूप मे स्वीकार करना ही होगा।

सतसइयो मे शृगारिक भावना को जितनी विस्तृत भूमि प्राप्त हो सकी है उप-देशात्मक भावना को उतनी नही अथवा यदि दूसरे प्रकार से कहा जाय तो यह कहना समुचित जान पडता है कि सतसई की समस्त परम्परा मे शृगारप्रधान सतसइयो को प्रमुखता मिली है। सूक्ति सतसइयो का स्थान शृगारिक सतसइयो के पश्चात् आता है। परम्परा का आरम्भ हाल की 'गाथा सप्तशती' से हुआ है जो शृगारिक प्रवृत्तिकी रचना है। फलत शृगारिक सतसइयो को जितनी अधिक तथा स्वस्थ भूमिका प्राप्त हो सकी है उस अनुपात मे उनका विकसित होना आवश्यक था। यही कारण है कि शृगारिक सतसइयाँ अधिक प्रसिद्ध तथा सफल काव्यपूर्ण हो सकी है। प्राकृत की 'गाथा सप्तशती' सस्कृत की 'आर्या सप्तशती' तथा हिन्दी की 'बिहारी सतसई' तीनो ही शृगार-प्रधान सतसइयाँ अपनी भाषा का गौरव बढाती है। यदि उन्हे सतसई परम्परा मे वृहत्त्रयी के नाम से

पुकारा जाए तो वह सर्वथा उचित होगा ।

श्रृगार सतसइयो की सफलता तथा प्रमुखता का कारण उनका रस-प्रधान होना है । इसके अतिरिक्त श्रृगार रस की व्यापक पीठिका का आश्रय लेने के कारण इन सतसइयो के साहित्य के लिए विकास का समुचित क्षेत्र प्राप्त हो गया है । साहित्य-रचना के लिए यो भी श्रृगार रस का आश्रय व्यापक माना जाता रहा है किन्तु दोहा तथा आर्या जैसे छन्द के लिए तो यह सर्वथा उपयुक्त आश्रय प्रतीत होता है । रस के अधीन होकर ही छोटे छन्दो की विशेपता खुल पाती है । विहारी और मतिराम की सतसइयाँ रस से पूर्ण है कितु विहारी की प्रतिभा का सचय एक ही पर हुआ है और मतिराम की प्रतिभा कई स्थानो मे विभाजित हो गयी है । यही कारण है कि यदि दोनो को समान प्रतिभा का कवि मान लिया जाए तब भी बिहारी की सतसई मे प्रतिभा तथा साहित्य की श्रेष्ठता परिलक्षित होती है । वैसे बिहारी को प्रतिभा की दृष्टि से मतिराम से अधिक श्रेष्ठ कहा जाएगा । इतिहास मे विहारी को कवि की दृष्टि से ऊँचा स्थान मिलता आया है । विहारी ने एक सतसई के लिए साधना करके जीवन खोया नही, पाया ही है । इस दूरदर्शिता का परिचय दूसरा कोई रीति कवि नही दे सका ।

सतसई में प्रेम-वर्णन

डॉ० रामरतन भटनागर

विहारी सौन्दर्य के साथ प्रेम के भी कवि है। उनके प्रेम का आदर्श कितना ऊँचा है, यह निम्न दोहे से स्पष्ट है—

गिरि ते ऊँचे रसिक मन, बूडे जहाँ हजार।
बहै सदा पसु नरन को, प्रेमपयोधि पगार॥

—पर्वत से भी अधिक ऊँचे रसिको के मन जिस प्रेम-समुद्र मे हजारो की सख्या मे डूब गये है, वह प्रेम-समुद्र अ-रसिको को उथला लगता है।

विहारी ने साधारणत उस प्रेम का वर्णन किया है जिसका आश्रय रूप है। यहाँ हमे यह भी समझ लेना चाहिए कि बिहारी को रूप-सौन्दर्य बडा ही प्रिय है तथा कृष्ण-भक्ति मे लीला-प्रेम के बाद अथवा उतना ही कृष्ण के रूप-सौन्दर्य-प्रेम का भी स्थान था। उनकी त्रिभगी छवि मे रूप-सौन्दर्य की पूर्णता है। इस रूप-माधुरी से आकर्षित मन की दशा का वर्णन विहारी की सतसई मे कई बार आया है—

डर न टरै, नींद न परै, हरे न कालविपाक।
छिनक छाकि उछकै न फिरि, खरौ विषम छवि-छाक॥
फिर फिर चित उतही रहत, टुटी लाज की लाव।
अग अग छवि झौर में, भयो भौर की नाव॥

इस प्रेम मे विचित्रता और विवशता का भी प्रमुख स्थान है।

क्यो बसिए, क्यो निबहिए, नीति नेहपुर नाहिं।
लगालगी लोचन करै, नाहक मन बँधि जाहिं॥
छुटत न पैयत छिनिक बसि, नेह-नगर यह चाल।
मार्‌यो फिरि फिरि मारिए, खूनी फिरत खुस्याल॥
या अनुरागी चित्त की गति समुझै नहिं कोय।
ज्यो-ज्यो बूड़ै श्याम रंग, त्यो-त्यो उज्ज्वल होय॥

विहारी ने जिस प्रेम का वर्णन किया है वह दृढ प्रेम है। वह क्षण-क्षण परिवर्तित

नही होता। उसमे ऐन्द्रियता नही है। वह भीतर तक प्रवेश कर जाता है—

सब ही तन समुहाति छन, चलति सबन दै पीठि।
वाही तन ठहराति यह, किबुलनुमा लौं दीठि॥

इस प्रेम को सन्देह, ईर्ष्या, द्वेप, ससार-भय कोई भी नही मिटा सकता—

खल-बढई बल करि थके, करै न कुवत-कुठार।
आलबाल उर झालरी, खरी प्रेम-तरु डार॥

इस प्रेम की चरमावस्था पर पहुँचकर प्रेमी की यह दशा होती है—

वहके सब जी की कहत, ठौर कुठौर लखै न।
छिन औरे छिन और से, ये छवि-छाके नैन॥

उस समय प्रिय की प्रत्येक वस्तु उसके लिए आलम्बन बन जाती है—

ऊँचे चितै सराहियत, गिरह कबूतर लेतु।
झलकत दृग, मुलकित बदनु, तनु पुलकित, किहि हेतु॥

आर प्रेम का कष्ट, कष्ट नही रह जाता, वरन् प्रेमपात्र के विरह-दु ख मे प्रेमी के प्राण रहते है—

इहि कॉंटौ, मो पाइ गडि, लीनी मरति जिवाइ।
प्रीति जतावत भीति सौं, मीत जु काढ्यो आइ॥

बिहारी इस मानुषी प्रेम की उच्च तन्मयासक्ति की दशा की कल्पना करते है जब प्रिय मे तल्लीनता इतनी बढ जाती है कि प्रेमी अपने मे ही प्रेमपात्र का आरोप कर लेता है—

पिय कै ध्यान गही गही, रही वही ह्वै नारि।
आपु आपु ही आरसी, लखि रीझति रिझवारि॥

इससे ऊँचा प्रेम क्या होगा ?

बिहारी के प्रेम-सम्बन्धी दोहो और उक्तियो को पढने से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रेम के सम्बन्ध मे उनका एक विशिष्ट दृष्टिकोण है। प्रेमी पहले सौन्दर्य से आकर्षित होता है। वह रूप-रस-गध (इन्द्रियो के विपयो) पर मुग्ध हो जाता है। उसके प्रेम मे वासना का प्राधान्य है। परन्तु धीरे-धीरे वह प्रेम भीतर प्रवेश कर जाता है। वह ऐसी वस्तु नही रहता जिसका आधार बाह्यरूप ही हो। फिर वही प्रेम प्रेमी का सर्वस्व हो जाता है। उसी मे उसकी सारी आकाक्षाएँ केन्द्रित रहती हैं।[1] उसकी प्रत्येक वस्तु उसे प्रिय हो जाती है। उसकी उडाई हुई पतग की छाया पाने को प्रेमी दौडता है।[2] उसकी दशा चकई की तरह हो जाती है।[3] जैसे-जैसे विरह काट करता जाता है, समय बीतता है वैसे-वैसे

---

१ छला छबीले छैल को, नवल नेह लहि नारि।
चूमति, चाहति, लाय उर, पहिरति, धरति उतारि॥

२ उडत गुडि लखि ललन की, अगना अगना माँह।
बौरी लौं दौरी फिरति, छुवति छबीली छाँह॥

३ उत तें इत, इत तें उतहिं, छिनक न कहु ठहराति।
जक न परति चकरी भई, फिर आवति फिर जाति॥

प्रेम दृढ होता जाता है, ।[१] प्रेमी के प्राण प्रेमपात्र के हाथ मे चले जाते है ।[२] मन, वचन, कर्म, आत्मा—कुछ भी उसका नही रहता, वह सम्पूर्ण रूप से प्रेमपात्र को समर्पित हो जाता है ।[३] उसको यह दृढ निश्चय रहता है कि प्रेमी उसकी बात समझता है । इस उच्च दशा तक पहुँचकर सदेश (पत्र) का स्थान ही नही रह जाता । हृदय स्वय सदेशवाहक हो जाता है ।[४]

इस अवस्था मे यदि प्रेमपात्र से उसकी भेट हो गई तो वह उसी को देखता है, उसी के विषय मे श्रवण करता है, उसी का चितन करता है ।[५] परन्तु यदि प्रेमपात्र की भेट सम्भव भी नही हो, तो भी प्रेमी को कोई चिन्ता नही । वह प्रत्येक क्षण प्रेमपात्र के ध्यान-दर्शन मे लीन रहता है । यही उसके लिए प्रत्यक्ष दर्शन के समान वास्तविक है ।[६]

परन्तु क्या बाह्य रूप-रग ही सब-कुछ है ? बिहारी रूप-रग और सौन्दर्य के चितेरे होते हुए भी उनकी असारता जानते है । सौन्दर्य वस्तु मे नही होता, चाहनेवाले के मन मे होता है, बिहारी जैसे रसिक के लिए यह समझना कठिन नहीं । वे कहते है कौन जाने, कोई किसी को कब सुन्दर लगने लगे । मन की भावना है, जहाँ एक बार प्रेम उत्पन्न हुआ कि सुन्दरता बढी—

> समै समै सुन्दर सबै, रूप कुरूप न कोय ।
> मन की रुचि जैती तितै, तित तेती छवि होय ।।

विरह-वर्णन

बिहारी का विप्रलभ काव्य भी विशद है । उसमे रूढि और परम्परा का अधिक प्रभाव पडा है । फारसी के साहित्यिक वातावरण का प्रभाव भी दृष्टिगोचर है । इन्ही कारणो से उनकी विरह-सम्बन्धी उक्तियाँ अधिकतर ऊहात्मक हो गई है । विरह-वर्णन मे बिहारी ने चमत्कार-वक्रता, व्यग्य अतिशयोक्ति और अत्युक्ति का आश्रय लिया है। उनका पद-विन्यास भी वातावरण-सृष्टि मे सहायता देता है । उदाहरण के लिए, विरह-ताप की प्रबलता के सम्बन्ध मे कई अतिशयोक्तियाँ मिलेगी—

---

१ करत जात जेती कटनि, बढ़ि रस सरिता सोत ।
आलबाल उर प्रेम तरु, तितौ-तितौ दृढ होत ।।

२ मन न धरति मेरो कह्यो, तू आपने सयान ।
अहै परनि पर प्रेम की, पर-हथ पारन प्रान ।।

३ कहा भयौ जो बीछुरे, मो मन तो मन साथ ।
उड़ी जाति कितऊ गुड़ी, तऊ उडायक हाथ ।।

४ कागद पर लिखत न बनत, कहति सदेश लजात ।
कहिहै सब तैरो हियो, मेरे हिय की बात ।।

५ "तत्प्राप्य तदेवालोकयति तदेव शृणोति तदेव चिन्त्ययति ।"
(नारद भक्ति सूत्र)

६. ध्यान आनि ढिग प्रान पति, मुदित रहत दिन राति ।
पल कम्पति, पुलकति पलक, पलक पसीजति जाति ।।

सीरे जतननि सिसिर रितु, सहि बिरहिन-तन-ताप ।
बसिबै को ग्रीसम दिननि, पर्‌यौ परोसिनि पाप ।।
आड़े दै आले बसन, जाड़े हू की राति ।
साहस कै कै नेह बस, सखी सबै ढिग जाति ।।
औंधाई सीसी सुलखि, बिरह बिथा बिललात ।
बीचहि सूखि गुलाब गौ, छीटौं छुई न गात ।।
जिहि निदाघ दुपहर परै, भई माह की राति ।
तिहि उसीर की रावटी, खरी आवटी जाति ।।

वियोगिनी के लिए प्राकृतिक गुण भी उलटे हो जाते है—

हौं ही बौरी बिरह बस, कै बौरौ सब गाम ।
कहा जानि ये कहत है, ससिहि सीतकर नाम ।।

प्रिय के वियोग मे वह इतनी कृश हो जाती है कि—

इत आवत चलि जात उत, चली छ-सातक हाथ ।
चढी हिंडोरे सी रहै, लगी उसासनि साथ ।।

यह कृशता की पराकाष्ठता हुई । नायिका इतनी बदल जाती है कि सखियाँ कठिनता से पहचान पाती है या किसी विशेष सकेत आदि से ही पहचान पाती है—

कर के भीड़ै कुसुम लौ, गई बिरह कुम्हिलाय ।
सदा समीपिनि सखिनिहूँ, नीठि पिछानी जाय ।।

मौत को वह दिखलाई नही पडती या मौत उस तक किसी प्रकार पहुँच ही नही सकती—

करी बिरह ऐसी तऊ, गैल न छाँडतु नीच ।
दीने हूँ चसमा चखनि, चाहै लखै न मीच ।।
नित ससौ हसौ बचतु, मानौ इहि अनुमान ।
बिरह अगनि लपटानि सकै, झपट न मीच सिचान ।।

मरने की चेष्टा करने पर भी नायिका मर नही पाती—

मरिबै को साहस कियौ, बढ़ी बिरह की पीर ।
दौरति है समुहैं ससी, सरसिज, सुरभि समीर ।।

स्पष्टत , इन दोनो मे चमत्कार की प्रवृत्ति ही अधिक है। यह उस युग का तथा विदेशी साहित्य का प्रभाव है। इस प्रकार के दोहो को हम इस तरह श्रेणीवद्ध कर सकते है—

१ कृशता-सम्बन्धी दोहे—हवा के साथ हिलना, मौत का ढूँढ न पाना ।
२ ताप-सम्बन्धी दोहे—पत्रिका का हाथ लगते जल जाना, लुओ का चलना, इत्र का शीशी से गिरते ही भाप बन जाना ।
३ निश्वास मे झूले-सा झूलना ।
४ आँसू की नदी बहा देना ।

बिहारी की ये बिरह-वर्णन-सम्बन्धी सूझे विदेशी प्रेम-कविता की परम्परा से

प्रभावित है। उस समय दरबारो मे फारसी भाषा का प्रभाव था और बिहारी का अपने वातावरण से प्रभावित हो जाना असम्भव नही हो सकता। फिर बिहारी जिस मुक्तक कविता (गाथा, आर्या, अमरुक शतक) को आदर्श बनाकर चले थे, अन्तरग और बहिरग दोनो की दृष्टि से वह विदेशी कविता के बहुत निकट पडती थी।

फारसी कविता की शैली भी मुक्तक है। छन्द का नाम गजल है। प्रत्येक गज़ल मे पाँच, सात, नौ, ग्यारह अथवा पन्द्रह शेर होते है। प्रत्येक शेर मे दो चरण (मिसरे)। गज़ल मे कई प्रकार की छन्दो का प्रयोग होता है। भाषा मे काफी वैचित्र्य है। कुछ कवियो ने सीधी-सादी भाषा मे प्रेम की वेदना का चित्रण किया है। परन्तु अधिकाश मे भाषा की वक्रता और आलकारिक प्रयोग पाये जाते है परन्तु ऐसे स्थलो पर भी भाषा की सफाई को हाथ से नही जाने दिया जाता और मुहावरो का प्रचुर प्रयोग उस काव्य को सर्वसुगम बना देता है।

अतरग की दृष्टि से फारसी प्रेम-कविता विरह या विप्रलम्भ प्रधान है। विरह-सम्बन्धी उक्तियो मे चमत्कार, अतिशयोक्ति, सूक्ष्मता से काम लिया गया है। सैकडो शेर प्रेमी की कृशता के सम्बन्ध मे मिलेगे। वाग्वैदग्ध्य और नाटकीयता को भी स्थान मिला है। विरह की जलन और तीव्रता की व्यजना के लिए प्रकृति को प्रेमी की निगाहो से देखा गया है। उसका स्वतन्त्र अस्तित्व नही, कवि उसे उद्दीपन के रूप मे ही सामने लाता है। प्रकृति के स्वतन्त्र चित्र बहुत कम है, जो है भी वे रूढि से प्रभावित। भावपक्ष जहाँ एक ओर सूफी-प्रेम से प्रभावित है, वहाँ दूसरी ओर लौकिक प्रेम से। सूफी-कविता मे प्रेम के खुमार या नशे (मद) का विशेष स्थान है। इसलिए फारसी साहित्य मे इस प्रकार के अनेक शेर मिलेगे। सूफी लोगो की प्रेमिका (माशूक) परमात्मा होता था। उन्हे आत्मा की कठोर साधना और कठोर विरह-वेदना को इगित करना था। इस कारण इन्होने एक नयी शैली की कल्पना की जहाँ प्रेमिका अत्यन्त कठोर है, और प्रेमी पद-पद पर बलिदान करता है। प्रेमिका की यह कठोरता सूफी-काव्य की विशेषता है, परन्तु पारलौकिक इगित के कारण यह अस्वाभाविक नही लगती। परन्तु जहाँ इस प्रकार का सदर्भ उपस्थित नही होता, वहाँ अस्वाभाविक और हास्यास्पद हो जाती है।

परन्तु विरह दशा के ऐसे वर्णन भी मिलते है जहाँ बिहारी ने स्वाभाविकता को हाथ से जाने नही दिया—

विरह विपति दिन परत ही, तजे सुखनि सब अग।
रहि अवलौंऽव दुखौ भये, चलाचली जिय सग॥
मरन भलौ वरु विरह तें, यह विचार चित जोय।
मरन छुटै दुख एक कौ, विरह दुहूँ दुख होय॥
चलत चलत लौं ले चले, सब सुख सग लगाय।
ग्रीषम वासर सिसिर निशि, पिय मो पास बसाय॥[1]

---

१ अहो अहो निर्भाहिमा हिमागमे पयभि प्रपेदे प्रति ता स्मरार्दिताम
तपर्तु पूर्तायपि मद सांभरा विभावरी निर्विभरा बभूविरे
(श्री हर्ष—दमयन्ती का विरह-वर्णन)

मैं लै दयौ लयौ सुकुर, छुवत छनक गौ नीर।
लाल तिहारो अरगजा, उर ह्वै लग्यौ अबीर ।।[१]

कही कही स्वाभाविकता और अतिशयोक्ति का इतना सुन्दर मेल हुआ है कि देखते ही वनता है—

सुनत पथिक मुँह माह निसि, लुएं चलति उहि गाम।
विन बूझे बिन ही सुने, जियति विचारी बाम ।।

इस प्रकार हम देखते है कि विहारी के प्रेम का रूप अत्यन्त सुन्दर एव परिष्कृत है, यद्यपि कही कही वह अपने ऊँचे स्थान से गिर भी जाता है। ऐसा केवल वही होता है जहाँ विहारी अपने व्यक्तित्व से हट जाते है अथवा वाह्य प्रभावो से प्रभावित हो जाते हैं। ये प्रभाव तीन हैं—

१ तत्कालीन परिस्थिति का प्रभाव—

विहारी के युग की रुचि दूपित हो चुकी थी। 'अली कली सौ विंध रह्यौ'—यह दोहा उस समय की मनोवृत्ति का ठीक-ठीक चित्र हमारे सामने उपस्थित करता है। इस शृगार रुचि के अस्वस्थ होने का प्रभाव विहारी की रचना पर स्पष्ट रूप से लक्षित है, जैसे इस दोहे मे—

लरिका लेवे के मिसुनु, लगर मो ढिग आइ।
गयो अचानक आगुरी, छाती छैल छुवाइ ।।

२ साहित्य परम्परा का प्रभाव—

साहित्य परम्परा का प्रभाव कई ढग से विहारी-सतसई मे आया है। एक, उसमे शृगार के रसराजत्व पर इतना वल दिया गया है कि अन्य रसो की उपेक्षा ही नही की गई हे, उन्हे उसके मेल से दूपित वना दिया गया है। प्रमाण यह दोहा है—

विहस बुलाइ विलोकि उत, प्रौढ़ तिया रसघूमि।
पुलकि पसीजति पूत को, पिय-चूम्यौ मुख चूमि ।।

जिसमे वातसलय से शृगार की उद्भावना की गई है। दूसरे, उसमे प्राचीन साहित्य पद्धति को आधार मानकर सुरतारम्भ, सुरतात, विपरीतरति, गर्भिणी आदि के चित्र उपस्थित किये गए है। यद्यपि विहारी ने इन प्रसगो के अवसरो पर अत्यन्त सयम से काम लेना चाहा है , परन्तु वे स्पष्ट ही सफल नही हुए है। वे काजल की कोठरी मे घुसे है, इसीसे वे विना 'लीक लगे' नही रह सके। सूरदास के काव्य मे सुरत और विपरीत का वर्णन है, परन्तु उस पर आध्यात्मिकता के आरोपण की चेष्टा की गई है, इससे उसके दूपणो का परिहार हो जाता है। विहारी का काव्य प्रकृत-काव्य है। यद्यपि सुरत और विपरीत का भी प्रकृत जीवन मे स्थान है, परन्तु सभी प्रकृत वातो को काव्य का

---

१ घेत्तूण चुराण मुट्ठि इठि सूमसि आए वेपमाणए
मिसणे भित्ति मियअय इत्थे गन्धोदअ जा अम्
(गृहीत्वा चूर्णमुष्टि हर्षोत्सुकिताया वे पयानीया
अवकिरमीति प्रियतम हस्ते गन्धोदक जातम् ।

विषय बनाया जाय, यह आवश्यक नही है । तीसरे, उस पर 'गाथा' और 'दोहा' अपभ्रंश-प्राकृत साहित्य का प्रभाव है जिससे नागरिकता से हटकर कवि सामान्य ग्राम्य जीवन की ओर मुड आये थे—

दृग थिरकौहै अधखुले, देह थकौहै ढार ।
सुरत-सुखित-सी देखियति, दुखित गरभ के भार ।।

ण विरह आइगरुएण वि तम्मइ हिअए भरेण, गवमए ।
जह विपरीअरित हुअण विअम्भि सोहग अपावन्त ।।
(गाथासप्तशती ५—८३)

चौथा प्रभाव है तत्कालीन साहित्यिक आन्दोलन का जिसके कारण शृगार रस के भावो को अलकार निरूपण और नायिका-भेद का ढाँचा भरने के लिए उपस्थित किया जाता था । यह अवश्य है कि विहारी ने अपने दोहो को अत्यत स्वतन्त्रता से बनाया और बनाते समय वे किसी रीति परम्परा से बद्ध नही हुए , परन्तु कुछ दोहो मे अवश्य नायिका-भेद और अलकार-निरूपण उनके लक्ष्य रहे है ।

३ फारसी साहित्य का प्रभाव —

फारसी साहित्य के प्रेम-निरूपण का प्रभाव कुछ दोहो मे है । इन दोहो मे विहारी भारतीय सस्कृति से हट गये है, यह प्रभाव विशेष रूप से विरह-वर्णन पर पडा है ।

सतसई में नीति-वर्णन

डॉ० भगवतस्वरूप मिश्र

'नीति' शब्द जिन अर्थो मे प्रयुक्त होता है उन सभी के मूल मे जीवन-यात्रा को सुखपूर्वक आगे बढाने की युक्ति एव आकाक्षा का भाव अवश्य अन्तर्हित रहता है। 'ले जाना या आगे 'बढाना' यह अर्थ नीति शब्द को अपनी धातु से ही प्राप्त हुआ है। धर्म ही जीवन को आगे बढाने का मूल प्रेरक और साधन है अत मूलत धर्माचरण या कर्त्तव्या-कर्त्तव्य की विभिन्न पद्धतियाँ ही नीति है। 'एवम् कर्त्तव्यमेवम् न कर्त्तव्यमित्यात्मको यो धर्म ना नीति' नीति मजरी घाद्विवेद पर एक दूसरे प्रयोग मे धर्म और नीति के अर्थो मे एक सूक्ष्म अन्तर भी है। धर्म मे ऐहिक लाभ-हानि अथवा व्यवहार की दृष्टि हमेशा मानदण्ड नही रहती। धर्म और ऐहिक का दृष्टि मे पारस्परिक विरोध भी सम्भव है। धर्म ऐसी व्यवस्था मे लाभ-हानि या व्यवहार बुद्धि की अपेक्षा भी कर सकता है। धर्म मे अभ्युदय एव नि श्रेयस का समन्वय है। उसके स्वरूप मे चिर-न्तनता है पर नीति ऐहिक लाभ-हानि या व्यवहार बुद्धि के अनुकूल बदलती रहती है। दूसरे शब्दो मे नीति सामयिक धर्म कही जा सकती है। वह जीवन की गुत्थियो को सुल-झाने की, उसे सुखपूर्वक आगे बढाने की कोई युक्ति, उपाय या चाल भी हो सकती है। धर्माचरण के प्रकार या गुत्थियो को सुलझाने के उपाय-इन दोनो ही अर्थो के मूल मे जीवन का दृष्टिकोण नियामक बनकर रहता है। अत एक प्रकार से जीवन तथा उसके विभिन्न पक्षो के दृष्टिकोण नीति ही है। अर्थनीति, राजनीति आदि शब्दो मे नीति का यही अर्थ है। नीति का दृष्टिकोण वाला अर्थ अन्य अर्थो का नियामक होने के कारण उन सबके अन्तस्तल मे प्रवाहित रहता है। इस प्रकार कुल मिलाकर नीति के दो अर्थ हैं एक व्यापक और दूसरा सकुचित। मगल विधान एव धर्माचरण के विभिन्न प्रकार व्यापक अर्थ है तथा व्यवहार पटुता या कुशलता के विभिन्न उपाय युक्ति और दृष्टिकोण सकुचित। इन दोनो ही दृष्टियो से काव्य का मूल्याकन अपेक्षित है।

बिहारी के नीति सम्बन्धी दोहो मे मगल विधान के किसी व्यापक, उदार एव महान् विचारधारा की अपेक्षा जीवन की सुख-सुविधा के लिए अपेक्षित व्यवहार पटुता की नीतियाँ एव सामान्य जीवन के अनुभवो को ही प्रमुख स्थान मिला है। वस्तुत बिहारी

ने अपने सम्पूर्ण काव्य मे जीवन की जो कल्पना की है वह केवल हास्य-उल्लास, राग-रग एवम् भोग-विलास का ही सामान्य जीवन है। उस जीवन के कोई महान् आदर्श नही है, उसका कोई उच्च दर्शन नही है। उनके नीति सम्बन्धी दोहो की सख्या शृगार सम्बन्धी दोहो की अपेक्षा है भी बहुत कम और उनमेसे शृगारके स्वर झकृत हो रहे है। अधिकाश मे तो अनेक स्थानो पर वही स्वर अधिक मुखरित प्रतीत होता है। जैसे—

सम्पति केस सुदेस नर नमत दुहुक इक जानि।
विभव सतर कुच नीच नर नरम विभव की हानि॥
जेती सपति कृपनि की तेती सूमति जोर।
बढत जात ज्यो-ज्यो उरज त्यो-त्यो होत कठोर॥
सगति दोषु लगे सबनु कहेति साचे बैन।
कुटिल बक भ्रू सग भए कुटिल बक गति नैन॥

उपरोक्त दोहो मे शृगार के स्वर इतने स्पष्ट एव मुखर है कि नीति का केवल उन पर क्षीण आवरण भर रह गया है जैसे—प्रकृति चित्रण के अनेक स्थलो पर तुलसी का हृदय प्रकृति की अपेक्षा अप्रस्तुतविधान के रूप मे लाये गए नीति-सिद्धातो मे अधिक रम गया है वैसे ही बिहारी का हृदय अप्रस्तुतविधान के लिए भी प्रयुक्त शृगार की अनुभूति मे ही अधिक रमा है। 'नही पराग नहि मधुर मधु,' 'जिन-दिन देखे वे कुसुम' जैसे प्रसिद्ध दोहो की मूल व्यजना भी वास्तव मे शृगार ही है। पर बिहारी मे शुद्ध नीति के दोहो का भी अभाव नही है। उनके विषय भी बहुविध है उन पर आगे विचार किया गया है।

किसी भी कवि पर नीति की दृष्टि से विचार करने से पूर्व नीति और काव्य के पारस्परिक सम्बन्ध को भी स्पष्ट रूप से निश्चित करके चलने की आवश्यकता है। काव्य का नीति से विषय और प्रयोजन दोनो ही दृष्टियो से सम्बन्ध है। नीति काव्य का प्रयोजन है, यह सिद्धात चाहे सर्वमान्य न हो, पर कम से कम साहित्य चितको का एक समुदाय काव्य को नीति से विच्छिन्न करके कभी नही देख सकता। 'शिवेतरक्षति तथा कान्तासम्मित' उपदेश भी काव्य के प्रधान प्रयोजनो मे से है। यह भारतीय चिन्तन की सर्वमान्य धारणा है। पाश्चात्य चिन्तको का भी एक बहुत बडा समुदाय उपदेश और नीति को काव्य का प्रमुख प्रयोजन मानता है। काव्य नीति का प्रत्यक्ष उपदेष्टा भी हो सकता है और परोक्ष प्रेरक भी। नीति के उपदेश उससे व्यजित भी हो सकते है। व्यवहार पटुता की युक्ति, चाल आदि वाले अर्थ को ध्यान मे रखकर नीति को काव्य का प्रयोजन मानने वाले समीक्षको की सख्या भले ही बहुत थोडी ही हो, उनका सिद्धान्त कम दृढ आधार भित्ति पर खडा हुआ भी माना जा सकता है। पर मगल विधान के व्यापक सिद्धान्तो के अर्थ मे नीति काव्य के मूल प्रयोजनो मे से एक है, इस सिद्धात को मानने वाले समीक्षको की सख्या कम नही है और उनके द्वारा अपनाई गई भूमि भी पर्याप्त है।

काव्य और नीति का दूसरा सम्बन्ध विषय और विषयी का है। काव्य के अन्य विषयो की तरह 'नीति भी काव्य का एक विषय है। बिहारी के परिप्रेक्ष्य मे पहले की अपेक्षा दूसरे ही पक्ष का अधिक महत्त्व है। पर इसका यह अभिप्राय नही है कि बिहारी

के काव्य का नैतिक मूल्याकन नितान्त असमीचीन एव आरोप मात्र है। हाँ, यह निश्चित है कि विहारी रूढ एव सकुचित अर्थ वाली सदाचार या धर्म-नीति के प्रत्यक्ष उपदेष्टा तो नही कहे जा सकते हैं। वे तो शृगारी जीवन के उन्मुक्त हास-विलास और उल्लास के कवि है। वे प्रेय के कवि हैं—श्रेय के उतने नही।

भक्ति-साहित्य ने जन-जीवन को एक उदार, व्यापक एवं स्वस्थ जीवन-दर्शन दिया। उससे मानवता के उस स्वरूप की प्रतिष्ठा हुई जिसमे आचार, व्यवहार आदि की सभी नीतियो का 'शाश्वत मगल' से समन्वय हो सका। यह जीवन-दर्शन आज भी अधिकाश भारतीयो के जीवन-मूल्यो की आधार-शिला है। यद्यपि आज आमूल क्रान्ति लाने वाले परिवर्तनो के लक्षण भी स्पष्ट दीख रहे है। मध्यकाल मे ही भक्ति, ज्ञान और वैराग्य के सम्मिलित दृष्टिकोण का एक रूप रूढिग्रस्त होकर पवित्रतावादी अतिवादिता को भी पहुँच गया तथा जीवन की सहज आकाक्षा काम और शृगार को कुत्सित कहकर अस्वाभाविक रूप से उन्हे कुचलने का दम्भ भी भरने लगा। शृगार सच्चे विरक्त के लिए चाहे आकर्षण का विषय न हो पर सामान्य जन के लिए तो वह जीवन का सहज रूप है। उसका अस्वाभाविक रीति से हनन केवल पाखण्ड है। इस शृगार के प्रति वढती हुई हीन दृष्टि तथा जीवन के सहज उल्लास के विरुद्ध वढते हुए तथाकथित पवित्रतावादी निषेधात्मक दृष्टिकोण के विरुद्ध क्रान्ति के परिणामस्वरूप ही रीतिकाल मे शृगार का नद उमड पडा था। जीवन को अति पवित्रतावादी जड कारा से मुक्ति दिलाकर जीवन के उन्मुक्त उल्लास की अनुभूति मे ही रीतिकाल का महत्त्व है। इसमे अतिरेक अवश्य हो गया था। यह वृद्धि उस जड कारा से मुक्ति दिलाने के लिए तथा तत्कालीन परिस्थितियो मे सहज और स्वाभाविक थी। पर मूलत जीवन का शृगारमय उल्लास ही रीतिकालीन साहित्य की देन है। जीवन-मूल्य का यही स्वरूप उसके द्वारा स्वीकृत हुआ है। रीतिकाल के इस महत्त्व एव स्वरूप की प्रतिष्ठा मे विहारी का योगदान किसी से भी कम नही है। भक्ति साहित्य द्वारा उद्भावित स्वस्थ, मगलमय एव व्यापक जीवन-दर्शन को जीवित रखना, उसमे नूतन प्राण स्पन्दन फूंक सकना या उदात्त जीवन-दर्शन दे सकना तो रीतिकाल की प्रतिभाओ के लिए सम्भव न था, पर काम-भावना को दमित होकर कुण्ठा मे परिणत होने से वचा लेने का कार्य रीतिकाल ने किया। इससे जीवन पुन स्वस्थ दिशा को अपना सका। जीवन आध्यात्मिकता और पारलौकिकता मात्र को जीवन का लक्ष्य न समझकर ऐहिक जीवन के उल्लास का भी स्वागत कर सका। यह भी मगल-विधान ही है। इसका भी नीति के व्यापक स्वरूप मे अन्तर्भाव है। इसी व्यापक दृष्टि से रीतिकाल और विहारी का मूल्याकन अपेक्षित है। इस प्रकार एक सीमा तक जीवन के सहज उल्लास एव उसकी यथार्थ अनुभूति के चितेरे विहारी के काव्य का मगल के व्यापक स्वरूप से अन्तर्विरोध नही। रीतिकाल के इस नैतिक मूल्य मे विहारी का योगदान महत्त्वपूर्ण है। शृगार के प्रति वढती हुई अस्वाभाविक लज्जा एव हीन-भावना तथा तद्जनित कुण्ठा को रोकने के लिए विहारी को स्थान-स्थान पर समाज के द्वारा मान्य आचार नीति से घोषित निषिद्ध पथो का भी वर्णन करना पडा है। सयोग शृगार के नग्न-चित्रण एव परकीया प्रसग इसके प्रमाण हैं। मोटे रूप मे यह कहना भी असमी-

चीन नही है कि वे शृगार, नीति के प्रेरणादायक कवि तो है ही । पाठक 'शृगार' और 'काम कला' की व्यवहार कुशलता एव चतुराई का पाठ तो कुछ पढ ही लेता हे । रीति-काल के काव्य के मूल प्रयोजनो मे से यह भी एक प्रयोजन है । रीतिकाल के परिप्रेक्ष्य मे इस प्रयोजन का भी व्यवहारविदे मे अन्तर्भाव है । बिहारी इस क्षेत्र के सीधे उपदेशक या शिक्षक तो नही है जो काम-शास्त्र के प्रणेता की तरह आचरण का सीधा आदेश देते । पर उनका शृगार-चित्रण इतना आकर्षक एव सूक्ष्म निरीक्षण पर आधारित प्रतीत होता है कि पाठक मे सहज ही अनजाने मे इस कला की चतुराई के सस्कार जमा देता है । शृगार नीति के अतिरिक्त बिहारी समय की पहिचान, सहिष्णुता, अपने पराये का भेद ज्ञान आदि व्यवहार-पटुता के लिए अपेक्षित अन्य नीतियो की भी सामान्य प्रेरणा दे देते है ।

बिहारी के दोहो को विषय की दृष्टि से शृगार, भक्ति, नीति, प्रकृति आदि अनेक शीर्षको मे बाँट सकते है । पर उनका प्रधान विषय शृगार ही है । प्रत्येक युग की परिस्थितियाँ उस युग के साहित्य को नियन्त्रित करती हे । रीतिकाल की सामाजिक एव राजनीतिक अवस्थाओ तथा उस काल के जीवन-दर्शन ने बिहारी के नीति साहित्य को भी स्वरूप प्रदान किया है । शृगार भावना एव उन्मुक्त भोग की आकाक्षा उस युग के जीवन के प्रमुख स्वर है । इनके साथ ही उस काल मे राजनीतिक चेतना का भी नितान्त अभाव नही था । बिहारी का जीवन-दर्शन प्रमुखत शृगार भावना से ही आक्रात है पर उसमे, राजनीतिक चेतना भी स्पष्ट है । इस सबका बिहारी के नीति-साहित्य पर गहरा प्रभाव हे । बिहारी का प्रकृति चित्रण शृगार परक है, उसका तो उद्दीपन विभाव मे साधारणत अन्तर्भाव माना ही जा सकना है । इस प्रकार वह शृगार का पोषण करती है । पर बिहारी के नीति तथा भक्ति सम्बन्धी दोहो पर भी शृगार की गहरी छाप है । यह अस्वीकार नही किया जा सकता कि कतिपय दोहे तो नीति के आवरण मे वास्तव मे शृगार की ही अनुभूति है । ऊपर इस प्रसग को कई उदाहरणो से स्पष्ट किया जा चुका है । बिहारी की नीति सम्बन्धी धारणा मे काम-कला की पटुता के उपदेशो तथा युक्तियो का कम महत्त्व नही है । इस प्रकार बिहारी की शृगार भावना का स्वर उसके अधिकाश नीति साहित्य के मूल मे है । पर शृगार भावना से मुक्त दोहे भी है । धर्माचरण सामाजिक व्यवहार, राजनीति, अर्थनीति, सामान्य ज्ञान, जीवन के विश्वास आदि से सम्बन्ध रखने वाले बिहारी के नीति वाक्यो मे भी अनुभूति की तीक्षणता एव ज्ञान की सूक्ष्मता तथा विस्तार के दर्शन होते है ।

बिहारी के नीति साहित्य मे अपने युग का जीवन सम्बन्धी दृष्टिकोण पूर्णत ओत-प्रोत है । उससे स्पष्ट है कि बिहारी जीवन से आँख बन्द करके केवल कल्पनालोक मे शृगार के भावलोक मे विचरण करने वाले मात्र नही थे । उन्हे राजनीतिक पराधीनता एव समाज तथा व्यक्ति के जीवनादर्शो की पतनशीलता के प्रति सजगता भी थी । हिन्दू राजाओ मे पराधीन वृत्ति के कारण विवेक नही रह गया था । वे अपनो को ही सताने मे शूरवीरता, कर्त्तव्यपरायणता एव धर्म के दर्शन करने लगे थे । इससे बिहारी के मर्म को आघात लगा है और उससे अन्योक्ति के आवरण मे उन राजाओ को चेतावनी दी

है ।[1] वादशाह तथा देगी राजाओ के दुहरे शासन से प्रजा कितनी दुखी थी इस व्यथा की चेतना भी बिहारी मे है ।[2] युग की परिस्थितियो, बिहारी की अपनी अभिरुचियो तथा मुक्तक शैली ने इस मर्म-व्यथा को इतना अधिक स्पष्ट एव मुखर नही होने दिया है कि यह काव्य का एक स्वतन्त्र विषय वन पाती । इस व्यथा मे सम्पूर्ण युग को नव चेतना से अनुप्राणित कर देने की क्षमता थी । पर यह उस युग की और बिहारी की शक्ति से परे की वात भी थी । उसके पास इतनी व्यापक, उदार एव महान जीवन दृष्टि तथा अन्याय के विरोध के लिए अपेक्षित आक्रोश और साहस का अभाव था । फिर भी यह अनुभूति बिहारी मे नीतिकाव्य का रूप धारण किये विना भी नही रह सकती थी । मर्म को स्पर्श करने वाली उक्त प्रकार की अनुभूतियाँ जब किसी कवि मे बिम्ब-विधान का प्रश्रय लेकर रस-सृष्टि नही कर पाती, स्वतन्त्र काव्य नही वन पाता, सहृदयश्लाघ्यत्व के प्रधान एव स्वतन्त्र विषय नही हो पाती, जब वे स्वय नही अपितु उनके द्वारा ध्वनित एव सहज निष्कर्ष के रूप मे प्राप्त उपदेशात्मक तत्त्व ही प्रधान हो जाते है तो इस काव्य की सृष्टि नही होती अपितु कवि हृदय से नीति वाक्य ही निसृत होते है । बिहारी के इस प्रकार के नीति वाक्यो के लिए भी यही बात कही जा सकती है । बिहारी का यह आक्रोश, यह मर्मव्यथा जन-जागरण नही कर पाये वे जन-जीवन को वीर रस या रौद्र रस मे आह्लावित नही कर सके । इनसे या तो विवशता की अनुभूति जागी अथवा व्यवहार कुशल वनने की आकाक्षा मात्र । वह आकाक्षा ही बिहारी मे नीति वन गई ।

भक्ति की तरह नीति भी अत्यन्त व्यापक भाव है । उसमे जीवन की अनेक अनुभूतियाँ पोषक होकर आ सकती है । शृगार-भक्ति, वात्सल्य-भक्ति आदि मे जैसे शृगार वात्सल्य आदि भक्ति के विषय या उपाधि मात्र है । मूलत वह अनुभूति भक्ति है । इसी प्रकार नीति भी अपने आपको अनेक उपाधियो मे अभिव्यक्त करती है । जब उत्साह, करुणा आदि स्वय प्रधान रूप से सहृदयश्लाघ्यता को प्राप्त होते है तो वीर, करुण आदि काव्यो की सृष्टि होती है । पर जब वे अनुभूतियाँ मगल या धर्म रूप नीति अथवा ऐहिक जीवन की गति को सहज और सरल वनाने के उपायो की आकाँक्षा एव उपदेशात्मकता के विषय वनकर गौण हो जाती है और अपनी रमणीयता को धर्म या नीति की रमणीयता मे पर्यवसित कर देती है तब नीति काव्य की सृष्टि होती है । इसके भी तीन स्तर हैं जैसा कि आगे स्पष्ट किया गया हे । नीति अपनी सात्त्विकता की चरम परिणति पर धर्म की ही अनुभूति हे । अत मूलत विशुद्ध एव व्यापक नीति काव्य धर्म का ही रसात्मक वोध है । ऐहिक जीवन की सुख-सुविधा के लिए अपेक्षित युक्ति या उपाय वाले अर्थ मे भी नीति काव्य स्तर पर पहुँचकर रसात्मक होती है । पर साधारणत यह स्तर सूक्ति का ही स्तर है । यह अत्यन्त स्पष्ट है कि बिहारी धर्म के रसात्मक वोध वाले स्तर को

---

१ स्वारथ सुकृत न श्रम वृथा देखि विहग विचारि ।
वाज पराए पानि परि तू पछीनु न मारि ॥

२ दुसह दुराज प्रजानि कौं, क्यो न वढै अति द्वद ।
अधिक अधेरो जग करें, मिलि मावस रवि चद ॥

तो छू भी नही सके । ऐहिक स्तर वाली नीति की भी रस के स्तर की अनुभूतियो मे प्राय विरलता ही है । वे प्रधानतः सूक्ति स्तर के कवि है ।

मानव-स्वभाव एव लोक-व्यवहार के ज्ञान ने भी बिहारी को नीति के दोहो के लिए अनेक विपय दिये है, जैसे सगति का दोष, नीच का स्वभाव[१], सत्पुरुष की विनम्रता[२], धनमद, गुणो का आदर, असहृदय एव गुण-ग्राहकता से हीन व्यक्ति का आचरण[३], याचक की हीन भावना, खल से भय की नीति[४], गुणहीन का सम्मान, वैभव से विगडा स्वभाव, अपात्र की प्रतिष्ठा, बडो की मर्यादाहीनता[५], स्वभाव की दुरतिक्रमता[६], समय का फेर,[७] अवसर की पूजा,[८] पुराणमित्येव न तु साधु सर्वम्,[९] पद का लोभ,[१०] अनुपयुक्त व्यक्ति

---

१ नए बिससिये लखि नये, दुर्जन दुसह सुभाय ।
आटें परि प्रानन हरे, काटें लौं लगि पाय ।।

२ नर की अरु नल नीर की गति एकै करि जोइ ।
जेतौ नीचौ ह्वै चलै, ते तौ ऊँचौ होइ ।।

३. को कहि सके बड़ेनु सो, लखे वडे हू भूल ।
दीनै दई गुलाव की, इनु डारनु ये फूल ।।

४ बसै बुराई जासु तन, ताही कौ सनमानु ।
भलौ भलौ कहि छोड़िये, खोटे ग्रह जपु दानु ।।

५ ओछे बड़े न ह्वै सकें, लगौ सतर ह्वै गैन ।
दीरघ होहिं न नैक हूँ, फारि निहारैं नैन ।।

६ अरे परेखौ को करै, तुम्हीं विलोकि विचारि ।
किहिं नर, किहिं सर राखियै, खरै वढ़ै परिवारि ।।

७ मरतु प्यास पिंजरा पर्यौ, सुआ समै के फैर ।
आदरु दै दै वोलियत, वायसु वलि की वेर ।।

८ दिन दसु आदरु पाइकें, करि लै आपु वखानु ।
जौं लगि काग सराध पखु, तौं लगि तो सनमानु ।।

९ जदपि पुराने वक तऊ, सरवर निपट कुचाल ।
नये भये तु कहा भयो, ये मनहरन मराल ।।

१० गहै न नैकौ गुन-गरवु, हँसौ सवै ससारु ।
कुच उच पद-लालच रहै, गरै परैं हूँ हारु ।।

का साथ,[१] प्रेम की अनन्यता,[२] सच्चे प्रेमी का स्वभाव,[३] सूम का स्वभाव,[४] तुच्छ का महत्व,[५] धन-सचय,[६] आदि। विहारी के उपर्युक्त विपयो के दोहे सूक्तियाँ है। रस-प्रवाह मे वहा देने वाली भाव प्रवणता के दर्शन इन दोहो मे प्राय दुर्लभ हैं। इनमे हल्की भाव-चमत्कृति के साथ जीवन के विभिन्न क्षेत्रो की दृष्टियाँ मिलती है। अत ये सूक्तियाँ ही है। इनका मूल प्रयोजन व्यवहार कुशलता का उपदेश है, इससे इन सभी का अन्तर्भाव नीति साहित्य मे हो जाता है। विहारी का कोई उच्च एव उदात्त जीवन-दर्शन तो नही, पर उनमे व्यावहारिक जीवन के अनुभवो की समृद्धि का अभाव भी नही। यह इन नीति के दोहो से अत्यन्त स्पष्ट है। विहारी के गणित, ज्योतिप आदि शास्त्रो के ज्ञान का प्रभाव भी इन दोहो मे मिलता है। विहारी ने अपनी नीति सम्बन्वी दृष्टियो के प्रतिपादन मे शास्त्र-ज्ञान एव लोक प्रचलित विश्वासो का उपयोग अप्रस्तुत विधान या अलकार विधान के साधन के रूप मे किया है। इससे विपय को हृदयगम कराने मे अधिक सफलता मिल सकी है। विहारी मे नीति के किसी भी क्षेत्र की सर्वागीणता अथवा पर्याप्त विस्तार के दर्शन नही होते। इससे आचार-नीति, कूटनीति, अर्थनीति आदि मे से किसी भी एक विषय को लेकर विहारी का अपना स्वतत्र सर्वागीण दृष्टिकोण या दर्शन हे, ऐसा कहना सभव नही। विहारी के इन दोहो मे उनके अनेक विपयो पर केवल फुटकर विचार मात्र है। इन दोहो मे विहारी के सामान्य लोक व्यवहार के ज्ञान एव व्यवहार-कुशलता के सकेत मात्र मिलते है। गुण-ग्राहकता के अभाव

---

१ जनमु जलधि, पानिपु विमलु, भौ जग आधु अपारु।
रहै गुनी ह्वै गर पर्यौ, भलै न मुकता-हारु॥

२ चितु दै देखि चकोर त्यो, तीजें भजै न भूख।
चिनगी चुगै अगार की, चुगै कि चद मयूख॥
और भी—
ढेर ढार, तेहीं ढरत, तीजें ढार ढरै न।
क्यो हूँ आनन आन औं, नैना लागत नैन॥

३ सरस कुसुम मडरात अलि, न झुकि झपटि लपटात।
दरसत अति सुकुमारता, परसत मन न पत्यात॥

४ जेती सपति कृपन कौं, तेती सूमति जोर।
वढत जात ज्यो-ज्यो उरज, त्यों-त्यो होत कठोर॥

५ विषम विषादित की तुषा, जिये मतीरनु सोधु।
अमित, अपार, अगाध-जलु, मारो मूड पयोधि॥
और भी—
कैसै छोटे नरनु तें, सरत वडन कै काम।
मढ्यौ दमामा जातु क्यो, कहि चूहे के चाम॥

६ मीत न नीत गलीतु ह्वै, जो धरिये धनु जोरि।
खाएँ खरचै जौ जुरै तौ जोरिये करोरि॥

असहृदय व्यक्तियो के सहवास[1] तथा समय के फेर से जनित वेदना मे बिहारी की अपने व्यक्तिगत जीवन की अनुभूति भी झाँक रही है। बिहारी के सम्पूर्ण साहित्य का प्रधान स्वर तो काम-कला का उपदेश देना माना जा सकता है। पर व्यक्तिगत जीवन की व्यथा तथा उसके परिणामस्वरूप अगीकृत सहिष्णुता आदि की व्यवहार कुशलता की नीति को हम बिहारी के नीति साहित्य की प्रमुख स्थापनाओ मे स्थान दे सकते है।

अनुभूति की हृदय-स्पर्शिता तथा अभिव्यक्ति की रम्यता के स्तर के आधार पर नीति काव्य के तीन रूपो की कल्पना की जा सकती है, नीतिकाव्य, सूक्ति काव्य तथा पद्य। यह नीति काव्य का विभाजन नही अपितु उसके काव्यत्व के स्तरो का निरूपण मात्र है। शुक्लजी के शब्दो मे 'जो उक्ति हृदय मे कोई भाव जाग्रत कर दे वह तो है काव्य, जो उक्ति केवल कथन के ढग के अनूठेपन, रचना-वैचित्र्य, चमत्कार, कवि के श्रम या निपुणता के विचार मे ही प्रवृत्त करे, वह है सूक्ति। जब कोई विचार, घटना या वर्णन गद्य का आश्रय न लेकर पद्यात्मकता का आश्रय ले लेता है तब उसे हम कविता नही 'पद्य' कहते है। उसमे भाव-सौंदर्य और काव्यत्व का सस्पर्श नही हो पाता है। उसे काव्य कहना काव्य शब्द का शास्त्रीय एव वैज्ञानिक प्रयोग नही अपितु शिथिल एव अशास्त्रीय प्रयोग मात्र है। प्राचीन काल मे गणित जैसे विषय भी पद्य मे लिखे जाते थे। पर वे काव्य पद से अभिहित नही होते थे। काव्य के कुछ विषय ही अपने आप मे इतने स्थायी महत्त्व के होते है कि वे हर स्तर के कवि को सृजन की प्रेरणा देते हैं। काव्य की रमणीयता के दो आधार है, एक विषय ओर दूसरा कवित्व। नाटक के प्रसग मे इन दोनो तत्त्वो को क्रमश लोकधर्मी एव नाट्यधर्मी के नाम से अभिहित किया गया है। काव्य अथवा नाटक मे इन दोनो तत्त्वो का नितान्त पृथक्करण अथवा दोनो मे से एक का अभाव तो सभव नही। हाँ, समझने भर के लिए इनको पृथक् करके देखा जाता है और उनमे से एक का पलडा भारी भी हो सकता है। कुछ विषय ऐसे होते है जिनमे जन-मानस को तरगायित तथा जन-जीवन को प्रभावित करने की क्षमता स्वत अन्य विषयो से अधिक होती है। नीति भी उनमे से एक है। यही कारण है कि भारतीय वाङ्-मय मे नीति साहित्य का बहुत अधिक महत्त्व है। नीति-साहित्य की दृष्टि से भारतीय वाङ्-मय विश्व मे सर्वोपरि—इस बात को तो विण्टरनित्ज ने भी स्वीकार किया है। नीति की सूक्ति और पद्य स्तर की रचनाओ की भी साहित्य का पाठक उपेक्षा नही कर

---

१ कर लै सूँघि सराहि कै, रहे सबै गहि मौन।
गधी अध गुलाब को गवई गाहकु कौनु॥

रे हसा वा नगर मे जैयो आपु विचारि।
कागनि सो जिनि प्रीति करि कोकिल दई बिड़ारि॥

करि फुलेल को आचमनु मीठो कहत सराहि।
रे गधी ! मति अध तू इतर दिखावत काहि॥

पाता है। यही कारण है कि नीति-साहित्य के परिपेक्ष्य मे इन तीन स्तरो का विवेचन अपेक्षाकृत अधिक समीचीन प्रतीत होता है। शृगार आदि किसी भी विपय को लेकर रची जाने वाली रचनाओ के सम्वन्ध मे काव्य के इन स्तरो की वात कही जा सकती है। पर नीति के सम्वन्ध मे इस प्रकार के स्तर-विभाजन की उपयोगिता व्यवहार की दृप्टि से अधिक है।

धर्म या मगल-रूप नीति की रमणीयता को हृदय से साक्षात्कार कराने वाले रस-सिद्ध कवि विरले होते हैं। इसके लिए जीवन की दार्शनिक एव आध्यात्मिक गहराई के साथ उसके अत्यन्त उदात्त तथा विराट् स्वरूप के हृदय से साक्षात्कार की आवश्यकता होती है। कवि को उस अनुभूति मे उस जीवन-दर्शन मे अपने अह को तदाकार करना पडता हे। यह तो उपनिपदो के ऋपियो, वाल्मीकि, कालिदास, तुलसी, कवीर जैसी महान् आत्माओ के लिए ही सभव है। इसी कारण नीति क्षेत्र मे इस स्तर के कवियो की विरलता है। विहारी इस स्तर के कवि तो नही है। उनकी नीति सम्वन्धी धारणाएँ धर्म और मगल के उस स्वरूप का साक्षात्कार नही करा पाती है। यह तो हम ऊपर भी स्पप्ट कर चुके हैं। पर विहारी के नीति सम्वन्धी दोहो मे कतिपय ऐसे छन्द अवश्य है जिनको हम ऐहिक नीति काव्य की श्रेणी मे रख सकते है। बस, इन दोहो मे हृदय को स्पर्ग करने की क्षमता अन्यो की अपेक्षा अधिक है। पर ये भी रस प्लावित एव आत्म-विभोर कर देने वाले दोहे नही है। विहारी के दोहो मे रस-प्लावन की अपेक्षा कथन का अनूठापन ही प्राय अधिक मिलता है। शुक्ल जी ने मुक्तक रचनाओ मे रस-प्रवाह की ही नही अपितु रस के छीटो की ही स्थिति मानी है। वैसे मुक्तक रचनाओ मे भी सहृदय को रस-सिन्धु मे डुबो देने की क्षमता जाग सकती है। विहारी के शृगारी दोहो के ऐसे उदाहरण विरल नही। विहारी के नीति सम्बन्धी दोहो मे ऐसे प्राय नही है। इन नीति सम्वन्धी दोहो मे मूल मे भी विशुद्ध नीति की अपेक्षा शृगारिकता, व्यवहारज्ञान या राज-नीति के अनुभवो से जनित मर्मस्पर्शिता ही अपेक्षाकृत अधिक है। इससे इनमे भी मगल विधान की उच्च-भूमिका को स्पर्श कर सकने की गरिमा नही अपितु तत्कालीन नागर एव शिप्ट लोगो के लिए अपेक्षित व्यवहार-पटुता या हृदय की द्रवणशीलता भर का साक्षात्कार होता है।

नहि पराग नहि मधुर मधु, नहि विकास इहि काल।
अली कली ही सो विध्यो, आगे कौन हवाल॥

जिन दिन देखे वे कुसुम गई सु बीति वहार।
अब अलि रही गुलाव की अपट कटीली डार॥

हल्की-सी सहानुभूति के साथ एक उपदेश की जो वृत्ति इन दोहो मे है, वही इनको नीति काव्य वना रही है अन्यथा ये शृगारी दोहे है। शृगार भावना की गूढ व्यजना का स्पर्श इनकी मार्मिकता को वढाने वाला है। इसी प्रकार अपने स्वामी को प्रसन्न करने के लिए निर्दोप एव क्षीण-शक्ति वाले अथवा अपने ही व्यक्तियो को न सताने की मर्मस्पर्शी प्रेरणा भी एक स्थान पर विहारी ने दी है

स्वारथ सुकृत न श्रम वृथा देखि विहग विचारि।
बाज पराए पानि परि तू पंछीनु न मारि॥

इसमे तत्कालीन राजनीति को ध्यान मे रखते हुए जयसिंह को उपदेश भी है।

जब कोई कवि आभ्यन्तर रमणीयता तक नही पहुँच पाता है तो उसे बाह्य सौन्दर्य से सन्तोष करना पडता है। वह भाव की रमणीयता के स्थान पर उक्ति, चमत्कार, विचारो की सूक्ष्मता, तीक्ष्णता अथवा प्रौढता के आनन्द को ही प्रतिष्ठित कर लेता है। सर्जन जब काव्य स्तर तक—रस की अवस्था तक—नही पहुँच पाता है तो चमत्कार, उक्तिवैचित्र्य या बौद्धिकता तक रह जाता है। आधुनिक साहित्य की सृजनात्मकता मे रस की भूमिका तक पहुँचने वाली रचनाओ की कमी है। वे प्राय चमत्कार या बौद्धिकता के स्तर तक ही रह जाती है। उनकी रमणीयता का मूल बौद्धिकता ही है और उनका सवेदन भी बुद्धि के स्तर तक ही रहता है, हृदय मे कम ही प्रवेश कर पाता है। जीवन की सामयिक समस्याओ पर विचार या दृष्टिकोण देना आज के साहित्य का प्रधान उद्देश्य है। अत आधुनिक साहित्य को व्यापक अर्थ मे नीति साहित्य कह सकते है। सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर आज साहित्य का मूल प्रयोजन रसबोध नही अपितु जीवन-दृष्टि देना है। इस प्रकार व्यापक अर्थ मे नीति ही उसका मुख्य प्रयोजन है। ऐसे ही स्थलो को काव्य के प्रकृत स्वरूप से पृथक् करने के लिए सूक्ति शब्द का प्रयोग करना पडता है। इससे नीचे तो कवि सूक्ति के स्तर पर भी नही टिक पाता और छद के आवरण मे उसका शुद्ध उपदेशक या चिन्तक रूप ही प्रकट हो पाता है। ऐसे सूक्ति और पद्य के स्थलो की मध्यकालीन नीति-साहित्य मे प्रचुरता है। विहारी के नीति-साहित्य का कवित्व प्राय बौद्धिकता, चमत्कार और कथन के वैचित्र्य पर ही आधारित है। अत उनके नीति सम्बन्धी दोहो मे से अधिकाश का अन्तर्भाव सूक्तियो मे ही होता है, नीति काव्य मे नही। ऊपर हमने कतिपय ऐसे दोहो का विश्लेषण किया है जिनमे कवित्व के दर्शन होते है और वे नीति काव्य की श्रेणी मे आते है। पर ऐसे दोहो की सख्या बहुत कम है। विहारी के कुछ दोहो मे केवल तथ्य-कथन अथवा सिद्धान्त निरूपण भर है। इनमे चमत्कार जनित हृदयस्पर्शिता का वह रूप भी नही है, जिससे उनको सूक्ति भी कहा जा सके। ऐसी रचनाओ को पद्य कहना अधिक समीचीन है। राजा, पातक और रोग की अदम्य शक्ति का निरूपण करने वाले इस दोहे मे पद्यत्व ही है।[1] वैसे खीच-तान कर इसमे वैयक्तिक अनुभूति की ध्वनि से कवित्व का स्पर्श भी सिद्ध किया जा सकता है। पर यह अत्यन्त गूढ व्यजना का उद्घाटन भर होगा। कुछ पद्यो मे अलकार के प्रयोग से हल्का चमत्कार भी आ गया है।[2] इससे कुछ और बढकर अन्योक्ति, अर्थान्तरन्यास आदि के आवरण मे कही हुई उक्तियाँ ऊपर से पद्य प्रतीत होती हुई भी वास्तव मे सूक्ति ही

---

१ कहै इहै सब स्रुति सुमति, इहै सयाने लोग।
तीनदबावत निसक ही, पातक, राजा, रोग॥
२ नए बिससिये लखि नये, दुर्जन दुसह सुभाय।
आँटे परि प्रानन हरैं, काटे लौ लगि पाय॥

है।[1] कवित्व के स्तर की दृष्टि से विहारी के नीति सम्वन्धी दोहो को पद्य, सूक्ति और काव्य इन तीन विभागो मे वॉट ही सकते है। पर पद्यत्व के सूक्ति मे तथा सूक्ति के कवित्व मे क्रमश सक्रमण के उदाहरण भी विहारी के नीति सम्वन्धी दोहो मे मिल जाते है। इस प्रकार कवित्व के अनेक स्तरो के उदाहरण विहारी के नीति-साहित्य मे उपलब्ध है। पद्य से काव्यत्व की ओर क्रमश बढते हुए स्तर की दृष्टि से विहारी के दोहो का सकलन करने से अनेक स्तर अत्यन्त स्पष्ट दृष्टिगत होने लगते है। वैसे विहारी का मन शृगार मे जितना रमा है उतना नीति मे नही। अत उसके नीति-साहित्य मे काव्य स्तर के दोहो की विरलता और सूक्ति स्तर के दोहो का प्राचुर्य तो स्पष्ट है ही।

धर्म के रसात्मक वोध रूप नीति काव्य की तो शैली ही रसोक्ति होती है। अत शैली का प्रसाद गुण तो उस काव्य के प्राण ही है। पर ऐहिक स्तर के नीति साहित्य का प्रमुख प्रयोजन रस बोध अथवा चमत्कार सृष्टि की अपेक्षा धर्माचरण की शिक्षा अधिक होता है। इस उपदेशात्मकता तथा वौद्धिकता के कारण नीति-साहित्य का अभिव्यजना पक्ष अपेक्षाकृत अधिक सरल-स्पष्ट एव सुवोध होता है। नीति कवि गूढ व्यजना तथा लाक्षणिकता वाली शैली का प्रयोग प्राय कम ही करता है। वह व्यजना तथा लक्षणा की अपेक्षा अभिधा के क्षेत्र मे अधिक विचरण करता है। उसकी व्यजना और लक्षणा भी अगूढ ही अधिक होती है। वह उलझे हुए अलकारो अथवा अलकारो की झडी से अपनी रचना को वोझिल नही कर सकता है। कारण स्पष्ट है। नीति-काव्य का पाठक सामान्य जन होता है। थोडी सवेदन-शीलता के साथ लोक-व्यवहार के लिए अपेक्षित युक्तियो या दृष्टिकोणो को ग्रहण कर लेना अथवा उनके कथन के अनूठेपन से चमत्कृत हो जाना, यही नीति-साहित्य के पाठको से अपेक्षा है। शृगार, भक्ति, दर्शन, आदि के लिए सहृदयता और बौद्धिकता का जो स्तर तथा प्रकार अपेक्षित है, वह इस नीति-साहित्य के लिए नही। नीति-साहित्य और उसके पाठक की मूल प्रकृति ने उसे अभिव्यजना की सरलता और स्पष्टता प्रदान की है। यही कारण है कि अत्यधिक गूढ दार्शनिक अभि-रुचि, कल्पना की ऊँची उडान या वक्रोक्ति शैली का कवि प्राय नीति-साहित्य का सृजन नही करता है। अगर करता है तो वह अपेक्षाकृत बहुत ही सरल एव सुबोध स्तर पर उतर आता है। इस प्रकार रसोक्ति और स्वभावोक्ति ही वक्रोक्ति नही, नीति-साहित्य की प्रकृति के अनुरूप शैलियाँ है। यही कारण है कि विहारी भी अपने नीति के दोहो मे प्राय स्वभावोक्ति के स्तर पर ही है।

विहारी के शृगार साहित्य मे पद-पद पर परिलक्षित होने वाले भाव का गाम्भीर्य एव गूढता कल्पना की सजीवता एव उडान, कथन का अनूठापन अलकारो को सूक्ष्म व्यजना तथा भाषा की लाक्षणिकता नीति-साहित्य मे नही है। अभिव्यजना, अलकार-नियोजन, एव शब्द-चयन सभी दृष्टियो से विहारी का नीति-साहित्य अपेक्षाकृत सरल

---

१ सीतलतारु सुवास की घटै न महिमा मूर।
पीनस वारे ज्यौं तज्यो सोरा जानि कपूर॥

एव सुबोध है । शिक्षा ग्रहण करने अथवा उपदेश देने की भावना मूल मे होते हुए भी विहारी ने उपदेशात्मक शैली को नही अपनाया है । उन्होने सूक्ति अथवा अन्योक्ति पद्धति को ही ग्रहण किया है । विहारी के नीति दोहो मे अर्थान्तरन्यास, उदाहरण[1] आदि कई अलकारो का पर्याप्त प्रयोग है । पर वास्तव मे अन्योक्ति ही प्रधान है । अन्य अलकारो वाले भी कई दोहे ऐसे है जिनके मूल प्रयोजन पर विचार करने से उनमे अन्योक्ति की ध्वनि स्पष्ट परिलक्षित होती है । अन्योक्ति तो नीति साहित्य के प्राण ही है ।

बहकि बडाई आपनी कत राचति मति मूल ।
बिनु मधु मधुकर के हिये, गडे न गुडहर फूल ।।

इसमे मधुकर आदि मे श्लेष का सौन्दर्य है । पर वास्तविक सौन्दर्य अन्योक्ति के पर्यवसान मे ही है । 'जिन दिन देखे वे कुसुम', 'नहि पराग नहि मधुर मधु' 'स्वारथ सुकृत न श्रम व्यथा' आदि मे जो विहारी का कवित्व निखरा है उसका मुख्य श्रेय अन्योक्ति को ही है । विहारी की अन्योक्तियो की गणना हिन्दी साहित्य की सर्वोत्कृष्ट अन्योक्तियो मे नि सकोच की जा सकती है ।

---

१ अर्थान्तरन्यास—

बडे न हुजै गुनन विन विरद बडाई पाय ।
कहत धतूरे सो कनक गहनो गढो न जाय ।।

दृष्टान्त—

नीच हियै हुलसौ रहे गहै गेंद को पोत ।
ज्यो ज्यो माथे मारिये, त्यो त्यो ऊ चो होत ।।

प्रतिवस्तूपमा—

चटक न छॉड़त घटत हूँ सज्जन नेह गम्भीर ।
फीके परै न वरु घटै रग्यौ चोल रग चीर ।।

उदाहरण—

बुरो बुराई जो तजै तो चित खरौ सकात ।
ज्यो निकलक मयक लखि गनें लोग उतपात ।।

सतसई में प्रकृति-चित्रण

डॉ० किरणकुमारी गुप्ता

आदि मानव ने जब नेत्रोन्मीलन किया तो धरित्री ने उसे अपनी दुलार भरी गोद मे ले लिया, मृदु समीर ने झुलाया, वीचियो ने लोरियाँ गाई, अरुण ने अनुराग-रंजित आलोक दिया और इन्दु-रश्मियों ने चारु चुम्बन से उसे गद्गद् कर दिया। मानव और प्रकृति का यह साहचर्य चिरन्तन हो गया। इस शाश्वत सम्बन्ध के परिवेश मे ही वह कभी उसके अभिनव शृगार पर मुग्ध होता, कभी उसकी क्षुब्ध भगिमा से भीत होता कभी नतजानु हो उससे उपदेश और आदेश प्राप्त करता, कभी अपने प्रिय के अग-प्रत्यगो का उसमे सादृश्य ढूंढता, कभी अपने प्रिय के हर्ष-विषाद को प्रकट कर हृद्-भार को हलका करता और कभी प्रकृति के अन्तर मे प्रवेश कर सूक्ष्मातिसूक्ष्म परम सत्ता का अनुभव करता। मानव का प्रकृति के प्रति यह अनेकागी सम्बन्ध सर्वदेशीय और सर्वयुगीन हो गया। युग-युग मे देश और काल की सीमा ने उसके दृष्टिकोण की दिशा भले ही परिवर्तित कर दी हो किन्तु उसका प्रवाह अवरुद्ध कभी नही हुआ।

रीतियुग सामन्तीय युग था। स्वय सम्राट् और उनके अधिकृत नृपति, उच्च पदो पर प्रतिष्ठित कर्मचारी एव भू-स्वामी सभी विलास, वैभव और ऐश्वर्य के सागर मे निमज्जित थे। जहाँगीर की विलास-प्रियता और शाहजहाँ के कला-प्रेम ने एक ओर सुरा, सुन्दरी, चषक, नृत्य, सगीत तथा ललित कलाओ को महत्त्व दिया, दूसरी ओर कलाकारो तथा काव्यकारो को प्रश्रय एव सम्मान। इस युग के काव्यकारो को कृष्णभक्त कवियो से शृगार का क्षेत्र तैयार मिल गया था। राधाकृष्ण के गूढातिगूढ परम प्रेम की मधुर वर्षा हो चुकी थी, उनके रूप सौन्दर्य के सजीव चित्र अकित हो चुके थे, इस युग के काव्यकारो ने आध्यात्मिक को भौतिक और अलौकिक को लौकिक नायक-नायिका मानकर अपने आश्रयदाताओ की प्रेयसी नायिकाओ को अपनी काव्यकला का विषय बनाया। नायिकाओं की काम-क्रीडा वकिम भ्रू-विलास, हास-परिहास, कुटिल अलक जाल, श्वास-नि श्वास, सयोग-वियोग और शृगार के विभाव, अनुभाव, सचारिभाव, हिडोला, वन विहारादि के अश्लीलतम वर्णनो से आश्रयदाताओ की रुग्ण एव जर्जर सौदर्य-प्रियता को

परितृप्त करने का प्रयास किया। ऐसे ही अस्वस्थ और रीति-बद्ध युग मे काव्य-मर्मज्ञ कविवर बिहारी का प्रादुर्भाव हुआ।

बिहारी राजा जयसिह के आश्रित कवि थे। उनका काव्य प्राकृत जन-सुखाय था। अपने प्राकृत आश्रयदाता के वन, उपवन, पशु-पक्षी, सरोवर और राजभवन मे उनकी दृष्टि वन्दिनी थी, प्रकृति के उन्मुक्त क्षेत्र मे स्वच्छन्द विचरण के लिए न उनके पास समय था न आवश्यकता ही थी, अत प्रकृति के मुक्त वैभव का, उनके काव्य मे अपेक्षाकृत अभाव है। फिर भी उन्होने यत्र-तत्र ऋतु-वर्णन के परम्परागत वर्णन मे कही कही प्रकृति के आलम्बन रूप मे मनोमुग्धकारी सुन्दर चित्र प्रस्तुत किये है—

छवि रसाल सौरभ सने, मधुर माधवी गंध।
ठौर ठौर झौंरत झंपत, भौर-झौर मधु अन्ध॥

उक्त दोहे मे कवि ने वासन्ती वैभव का अत्यन्त सूक्ष्म, आकर्षक, मोहक, सहज और सश्लिष्ट चित्र अकित किया है। बसन्त की सौम्यश्री की सजीवता की अपूर्व अभिव्यक्ति है। एक दोहे मे प्रकृति की उन्मद सुषमा की इतनी प्रभावोत्पादक अभिव्यजना बिहारी जैसे काव्य-मर्मज्ञ कलाकार से ही अपेक्षित है। यद्यपि यह वर्णन यथातथ्य है किन्तु कवि की सौन्दर्य-प्रियता एव रसमयता इसी प्रकार छलक रही है जैसे अर्द्ध प्रस्फुटित कलिका मे सुरभि की व्यापकता। शृगार-रस-प्रिय वातावरण मे भी इनका प्रकृति के साथ रागात्मक सम्बन्ध स्पष्टत लक्षित होता है।

रीतिकाल सौन्दर्य-प्रियता-विशिष्ट काल था। बिहारी इसके अपवाद नही है, किन्तु ग्रीष्म की प्रचण्डातप और पशु-पक्षियो की विकलता उनके अन्तर को आकुल कर देती और भयकर ऊष्मा से सतप्त जगत् उन्हे तपोवन के समान प्रतीत होने लगता है—

कहलाने एकत बसत, अहि-मयूर मृग बाघ।
जगत तपोवन सो कियौ, दीरघ दाघ निदाघ॥

पावस के घनान्धकार का भी कवि ने आलम्बन रूप मे वर्णन किया है—

पावस घन अन्धियार महँ, रहयौ भेद नहिं आनु।
राति द्यौस जान्यौ परै, लखि चकई-चकवानु॥

ग्रीष्म और पावस के ऋतु-वर्णन मे कवि का सूक्ष्म निरीक्षण तो व्यक्त होता है, किंतु प्रकृति के प्रति कोमल अनुभूति अथवा रागमयी दृष्टि नही लक्षित होती।

इसी प्रकार हेमन्त मे विभावरी के बढने, कोकी के दु खित होने और शिशिर के सूर्य मे चन्द्र की सुभग शीतल किरणो का सा सुख प्राप्त करती हुई चकोरी का वर्णन अतिशयोक्तिपूर्ण होने पर भी प्रकृति के आलम्बन स्वरूप को चित्रित करता है, किन्तु उसमे परम्परा निर्वाह अधिक है सौन्दर्य कम।

बिहारी चमत्कारवादी कवि थे। उनका सौन्दर्य-बोध अत्यन्त परिष्कृत और सूक्ष्म था। अत जहाँ कही उन्होने प्रकृति के स्वरूप मे चैतन्य की प्रतिष्ठा कर उसे अलकृत कर दिया है वहाँ प्रकृति के चित्र अनूठे है—

चुवत स्वेद मकरन्द कन, तरु-तरु तर बिरमाइ।
आवत दक्खिन देस तैं, थक्यो बटोही बाइ ।।

शीतल-मन्द-सुगन्धित मलय-मारुत का यह रूपक मय चित्र कवि का प्रकृति के साथ रागात्मक सम्बन्ध व्यक्त करता है। "रनित भृङ्ग घटावली" और "रुक्यौ साकरे" मे भी इसी प्रकार कुंजर और तुरग के रूप मे वासन्ती वायु के अलकृत चित्र है। वसन्त की मृदुल स्निग्ध समीर कवि को इतना मुग्ध करती है कि वह उसमे नवोढा सुन्दरी की भी कल्पना कर लेता है—

लपटी पुहुप पराग पट, सनी स्वेद मकरन्द।
आवति नारि नवोढ़ लौं, सुखद वायु गति मन्द ।।

इस दोहे मे रूपक और उपमा के सगम को सरस्वती सी चेतना और भी अधिक मनोरम वना देती है। मानव रूप के वर्णन मे नवोढा उपमान एक ओर वायु की मृदुलता व्यक्त करता है और दूसरी ओर कवि की सुकुमार अनुभूति एव अलौकिक प्रतिभा का परिचय देता है।

इसी प्रकार शरत सुन्दरी कवि के हृदय मे आनन्द और उल्लास का सचार कर देती है—

अरुन सरोरुह कर चरन, दृग खजन मुख चन्द।
समय आइ सुन्दरि सरद, काहि न करत अनन्द ।।

आलम्बन रूप मे प्रकृति की शारदीया शोभा कवि को सवेदनशील वना देती है और उसकी स्वान्त सुखाय स्वानुभूति रस-धारा प्रवाहित कर देती है। प्रकृति के साथ ऐकात्म्य स्थापित होने पर वह प्रकृति मे मानव-चेष्टाओ का अवलोकन करने लगता है। इसी प्रकार जेठ की दुपहरी मे वृक्ष मे आयामित छाया को देखकर वह उसे भी छाया की अभिलाषिणी समझ लेता है।

मानव-क्रिया-कलाप की पार्श्व-भूमि के रूप मे भी विहारी ने प्रकृति का प्रयोग किया है। यद्यपि ऐसे वर्णन अभिसारिका नायिका के मिलन-स्थल के सकेत मात्र है तथापि उनमे प्रकृति के यथातथ्य चित्र भी उपलब्ध होते है—

गोप अथाइन तैं उठे, गोरज छाई गैल।
चलिचलि अलि अभिसारिके, भली सझौली सैल ।।
घाम घरीक निवारिये, कलित ललित अलिपुज।
जमुना-तीर तमाल-तरु, मिलत मालती कुज ।।

प्रथम दोहे मे अभिसारिका के प्रति दूती की उक्ति है। नायक से मिलन की पृष्ठभूमि मे गो-धूलि-वेला का यथार्थ चित्रण हुआ है, इसी प्रकार द्वितीय दोहे मे दूती का नायक के प्रति कथन है जिसमे सकेत स्थल की विजनता का वर्णन करते हुए नायक को लक्षणा द्वारा अभिसार के लिए उत्तेजित किया जा रहा है। ऐसे वर्णनो मे उक्ति वैचित्र्य के साथ-साथ प्रकृति की मनोरम झाँकियाँ प्रस्तुत की गई हे। नायक-नायिका के मिलन की पार्श्व-भूमि मे अकित ये चित्र आश्रयदाताओ के उपवनो और खसखानो के अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन नही है, वरन् प्रकृति के स्वाभाविक और सहज चित्र है।

विहारी मूलत श्रृगारी कवि थे अत रीति परिपाटी के अनुसार उन्होने प्रकृति को मानव भावनाओ की अभिवृद्धि और मानव के शरीरावयवो के उपमान के रूप मे अधिकाशत प्रयुक्त किया है। श्रृगार के सयोग और विप्रलभ दोनो रूपो मे प्रकृति मानव की सवेदनाओ और भावनाओ को उद्दीप्त करती रही है। सयोग मे हिडोला, जल-क्रीडा, वन-विहार और फाग आदि प्रेमी-प्रेमिका के रतिभाव को जाग्रत करते और सात्विक भावो को उद्दीप्त करते है, किन्तु वियुक्त हो जाने पर प्रेमी-प्रेमिका की मन -स्थिति ही अन्य प्रकार की हो जाती है। सयोग मे बिहारी के जल-विहार वर्णन की छटा दर्शनीय है—

छिरके नाह नवोढ दृग, कर पिचकी जल जोर।
रोचन रग लाली गई, बिय तिय लोचन कोर॥

नायक-नायिका के नेत्रो मे जल छिडकता है और नायिका के नेत्रो मे अनुराग की लालिमा छा जाती है। होली के अवसर पर दोनो गुलाल भर कर एक दूसरे पर फेकना चाहते है किन्तु प्रेमातिशयता के कारण सात्विक स्वेदाधिक्य से गुलाल गीला हो जाता है और गुलाल फेकने के प्रयास मे दोनो असफल हो जाते है। रस-सिक्त नायक-नायिका को स्थूल पिचकारी की भी आवश्यकता नही रहती और वे नेत्रो से प्रेम रस की वर्षा करते है—

गिरै कपि कछु-कछु रहै, कर पसीजि लपटाइ।
लैयो मुठी गुलाल भरि, छुटत झुठी ह्वै जाइ॥
रस भिजए दोऊ दुहुन, तऊ टिकि रहे टरै न।
छवि सौं छिरकत प्रेम-रगु, भरि पिचकारी नैन॥

सयोग-वर्णन की अपेक्षा विहारी के वियोग-वर्णन के अधिक मनोरम और प्रभावशाली चित्र अकित किये है। वियोग-वर्णन कही तो रूढ और परम्परागत है, कही सवेदनात्मक और हृदय-स्पर्शी है और कही सहानुभूति-परक है। पावस ऋतु को प्राय सभी भावुक कवियो ने वियोग-व्यथा को उद्दीप्त करने वाली वर्णित किया है। कालि-दास का मेघदूत तो वर्षा के प्रथम पयोद के आगमन से उद्दीप्त यक्ष की मनोव्यथा की अश्रुलडियो से ही गुम्फित है। तुलसी जेसे मर्यादावादी भक्त के आराध्य राम को भी दु ख भार के असह्य होने पर कहना पडा था—"घन घमण्ड नभ गरजत घोरा। प्रिया हीन डरपत मन मोरा।" विहारी ने पावस को विरहियो के लिए अत्यन्त उत्पीडक चित्रित किया है। वियोगिनी नायिका पावस के प्रथम नीरद को देखकर कल्पना करती है कि ये बादल नही है वरन् धुआँ है जो विरहियो को जलाता आ रहा है। वह क्षुब्ध हो उठती हे और कहती हे—

कौन सुनै कासौं कहा, सुरति बिसारी नाह।
बदाबदी ज्यौं लेत ह, ए बदरा बदराह॥

उसे बादल भी अपने प्रियतम के समान निष्ठुर प्रतीत होते है। वियोग-सन्तप्ता नायिका को सम्मिलन-सुख की समस्त वस्तुएँ सभ्रमित करती है। वह कराह उठती है—

औरै भाँति गए सबै, चौसरु, चन्दन, चन्द।
पति बिनु अति पारत बिपतु, भारत मारुत मन्द ।।

चौसर, चन्दन, चन्द्र और शीतल, मन्द पवन सभी उसकी व्यथा को उद्दीप्त करते है। इन्हे देखकर प्रियतम की स्मृति तीव्र हो जाती है। विरहोन्माद मे वसन्त का मजु मृदुल स्निग्ध शृगार भी उसे आकर्षित नही करता, समस्त कुसुमित दिशाएँ और विपिन-समाज उसे वसन्त के शर-जाल से प्रतीत होते है। उसे अनुभव होता है जैसे वायु मडल मे 'मारो-मारो' का स्वर गूंज रहा हो और वह अनाथ, निराश्रिता, निरवलम्बना सुख की खोज मे भटक रही हो —

बन-बाटनु, पिक बटपरा, लखि बिरहनु मत मैन।
'कुहौ-कुहौ' कहि-कहि उठे, करि-करि राते नैन ।।

वियोग-ज्वाला विचित्र है, जो निरन्तर अश्रु-वर्षा से बुझती नही वरन् और भी अधिक प्रज्वलित होती है। वस नेत्र प्रियतम के सम्मिलन-सुख के स्थलो को ही ढूँढते है —

जहाँ-जहाँ ठाढौ लख्यौ, सुभग स्याम सिर-मौर।
बिनहू उन, छिनु गहि रहत आँखि अजौं वहि ठौर ।।

जीवन मे निराशा और निरीहता वियोगिनी को इतनी अधिक सवेदनशील और कोमल बना देती है कि प्रकृति उसके अन्तरतम की सहचरी बन जाती है। उसके दु ख-सुख की साथिन प्रकृति उसके लिए सजीव और सप्राण हो जाती है, और सचेतन मानव की भाँति वह भी अपने प्रियतम वसन्त के वियोग मे दीर्घ नि श्वास लेती है। नायिका का वियोग-व्यथित हृदय अपनी सखी की पीडा से उद्विग्न हो उठता है —

नाहिन ए पावक प्रबल, लुबै चलत चहुँ पास।
मानहु बिरह बसन्त के, ग्रीषम लेत उसास ।।

अपन्हुति अलकार की छटा और नायक वसन्त की विरहिणी नायिका ग्रीष्म की व्यथा दर्शनीय है।

विप्रलभ शृगार की काम दशाओ के चित्रण मे प्राय सभी शृगारी कवियो के काव्य मे ऊहात्मकता का समावेश है। बिहारी भी वियोगिनी कामोत्तप्त दशा की अभिव्यक्ति मे अपने युग की परम्परा से अछूते नही रहे है। वियोगिनी नायिका का विरह्-ताप इतना अधिक बढ जाता है कि शीतोपचार के लिए प्रस्तुत गुलाब जल उसके शरीर तक पहुँच नही पाता और बीच मे ही सूख जाता है—

औंधाई सीसी, सुलखि, बिरह बरति बिललात।
बीच ही सूखि गुलाब गौ, छीटौं छुई न गात ।।

यह तो मनोवैज्ञानिक सत्य है कि प्रिय-सान्निध्य मे सुख और उल्लास का सचार करनेवाली समस्त वस्तुएँ स्मृति को तीव्र कर, विरह-व्यथा को उद्दीप्त कर देती है। ऐसी स्थिति मे वियोगिनी नायिका अति उद्विग्न हो जाती है और 'जुगनुओ' को 'अगार' समझ लेती है। इस विरहोन्माद मे वह शशि, सरसिज और सुरभित समीर को काल के समान घातक समझ लेती है और मृत्यु की कामना करती हुई इधर-उधर

बिहारी

मपादक
डॉ० ओम्प्रकाश
रीडर
दिल्ली विश्वविद्यालय
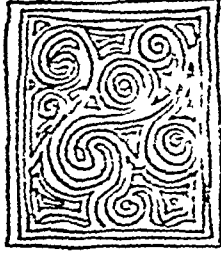
राधाकृष्ण प्रकाशन

मूल्य
६ रुपये ५० पैसे
पक्की जिल्द ८ रुपये ५० पैसे

प्रकाशक
ओम्प्रकाश
राधाकृष्ण प्रकाशन
२, अन्सारी रोड, दरियागंज, दिल्ली-६

मुद्रक
श्यामकुमार गर्ग
राष्ट्रभाषा प्रिंटर्स
शिवाश्रम, क्वीन्स रोड, दिल्ली-६

राधाकृष्ण मूल्यांकन माला

क्रम

विहारी का जीवन-वृत्त	जगन्नाथदास रत्नाकर	६
विहारी-सतसई	विश्वम्भर मानव	१६
सतसई का परिचय	हरदयालुसिंह	२३
विहारी की भाषा	विश्वनाथप्रसाद मिश्र	३०
विहारी की निपुणता	रामसागर त्रिपाठी	४०
विहारी की शास्त्रीय दृष्टि	विजयेन्द्र स्नातक	४६
विहारी की भक्ति भावना	हरवशलाल शर्मा	५७
मुक्तक दोहा	वच्चनसिंह	६७
सतसई की परम्परा	रणधीर सिन्हा	७५
सतसई मे प्रेम-वर्णन	रामरत्न भटनागर	८४
सतसई मे नीति-वर्णन	भगवतस्वरूप मिश्र	६१
सतसई मे प्रकृति-चित्रण	किरणकुमारी गुप्ता	१०३
तिरुवल्लुवर और विहारीलाल विरह वर्णन की तुलना	सु० शकर राजू नायडू	११२
राधा-नागरी की कलावती शिष्याएँ	ओम्प्रकाश	१२१
चित्र क्यो न वन सका	पद्मसिंह शर्मा	१३३
विहारी सतसई के अध्ययन की नवीन दिशाएँ	भगीरथ मिश्र	१३६
विहारी सतसई की टीकाएँ	रमेश मिश्र	१४५
रीति काव्य मे रस रीति	गणपतिचन्द्र गुप्त	१५८
रीति काव्य मे श्रृगारिकता	नगेन्द्र	१६७
रीति काल मे कला की स्थिति	सावित्री सिन्हा	१७४
कतिपय सन्दर्भ ग्रन्थ		१८४
इस सकलन के लेखक		१८६

बिहारी-काव्य के प्रथम सहपाठी

गौतना ग्रामवासी

श्री हरि नारायण वार्ष्णेय

को

सस्नेह

सम्पादकीय

बिहारीलाल ब्रजभापा के प्रमुख कवियो मे से है और शृगारी कवियो मे उनका स्थान अन्यतम है। सामती कला की जितनी पच्चीकारी बिहारी मे है उतनी अन्यत्र दुर्लभ है। केवल एक पुस्तक, और वह भी सात सौ दोहे की, लिखकर जितना यश तथा अर्थ बिहारी ने प्राप्त किया उतना किसी अन्य कवि ने नही। अनुकरण, परम्परा, टीका तथा समीक्षा की दृष्टि से भी बिहारीलाल औरो की अपेक्षा अधिक भाग्यशाली रहे है। सूर-तुलसी के पश्चात् साहित्यिको की दृष्टि पाण्डित्य के लिए केशवदास और रसिकता के लिए बिहारीलाल पर ही टिकती थी।

एक ऐसा युग था जब बिहारी आधुनिको की समीक्षा के भी केन्द्र थे। मिश्र-बन्धुओ से प्रारम्भ होकर भगवानदीन, कृष्णबिहारी मिश्र, पद्मसिह शर्मा और जगन्नाथ दास रत्नाकर तक की परम्परा बिहारी-सतसई के माध्यम से ब्रजभापा-काव्य के मन्थन मे अनवरत रत रही। सतसई का प्रामाणिक सस्करण भी सभव हो सका और उसकी टीका-समीक्षा भी। आलोचना के शुक्ल-युग मे बिहारी की कुछ उपेक्षा रही, उनके स्थान पर जायसी आ गये, स्वय शुक्ल जी ने विशेप प्रसगो मे बिहारी से तुलना करते हुए जायसी की ओर पाठक का ध्यान आकृष्ट किया है।

तदनन्तर बिहारी के सौन्दर्योद्घाटन मे एक प्रकार की अगति-सी दिखलाई देती है। शुक्लोत्तर आलोचको मे प० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र का नाम ही इस प्रसग मे उल्लेखनीय है। कतिपय अच्छे शोध-प्रबन्ध लिखे गये है, स्वान्त सुखाय समीक्षा नही। प्रस्तुत सकलन का कार्य प्रारम्भ करते हुए यह अभाव मुझको सबसे अधिक कचोटता रहा है। सभवत बिहारी की उपेक्षा ब्रजभाषा-काव्य की सामान्य उपेक्षा का विकासवादी अग-मात्र हो।

हिन्दी-भापी-प्रदेशो से बाहर इस क्षेत्र मे जो कुछ भी हुआ है वह सकेतयोग्य है। कलकत्ता-निवासी प्रसिद्ध विद्वान् श्री कालीप्रसाद खेतान, बार-एट-लॉ, ने बिहारी-सतसई का एक नवीन उद्देश्य से अध्ययन किया है, सहमत न होते हुए भी, जिसके महत्त्व को मै

स्वीकार करता हूँ । मद्रास निवासी वन्धु डॉ० सु० शकरराजू नायडू ने तमिल-वेद 'तिरुक्कुरल' के रचयिता कवि तिरुवल्लुवर के कामखण्ड (इन्बम) की तुलना विहारी के समानान्तर प्रसगो से की है, जिसका कुछ अश प्रस्तुत सकलन मे भी समाविष्ट है। हिन्दी के प्रत्येक कवि के ऐसे अध्ययनो की आज महती आवश्यकता है।

प्रस्तुत सकलन मे मेरा प्रयत्न यह रहा है कि केवल उन समीक्षाओ को सकलित किया जाय जो एक वार प्रकाशित होकर पाठक के सामने आ चुकी है और उनके दृष्टि-कोण से पाठक परिचित हो चुका है। 'नीति-वर्णन' 'प्रकृति-चित्रण' तथा 'टीकाएँ' विषयक निबन्ध इसका अपवाद है, परन्तु इनके लेखक इन विषयो से काफी सम्बद्ध रहे हैं। प्रकाशित रचना से एक बात और स्वय सिद्ध हो जाती है कि लेखक इस विपय का विशेषज्ञ है। एक आलोचक का केवल एक लेख ही यहाँ लिया गया है, जिससे पाठक वैचित्र्य से, सक्षेप मे ही, परिचित हो सके। सकलन को युग, कवि तथा रचना तीनो को दृष्टि मे रखकर पूर्ण वनाने का प्रयत्न किया गया है। सकलन को वैज्ञानिक वनाने के लिए अन्त मे सन्दर्भ-ग्रथ-सूची तथा लेखक-सूची को भी जोड दिया गया है। आशा है इस सकलन से पाठक के दृष्टिकोण को एक सतुलित मार्ग प्राप्त हो सकेगा और सामान्यत ब्रजभापा-काव्य एव विशेषत विहारी के ध्वनिजीवी काव्य के प्रति उनके अनुराग मे स्थिरता आ सकेगी। मैं उन सभी विद्वानो का आभारी हूँ जिनके समीक्षात्मक लेखो का मैंने इस सकलन मे यथावश्यकता उपयोग किया है।

ओम्प्रकाश

तुलसी-जयन्ती
स० २०२४ वि०

बिहारी का जीवन-वृत्त

जगन्नाथदास रत्नाकर

विहारी का जन्म सवत् १६५२ मे ग्वालियर मे हुआ था। उनके एक भाई तथा एक वहिन और भी थे। अनुमान यह होता है कि भाई उनसे वडे थे, और वहिन छोटी। उनकी बहिन के जन्म लेने के थोडे ही दिनो पश्चात् उनकी माँ का देहान्त हो गया, जिससे उदासीन हो उनके पिता ग्वालियर छोडकर सवत् १६५९-६० मे ओडछे चले आए। वहाँ उस समय रामशाह राजा थे। उन्होने राजकाज का सब भार अपने छोटे भाई इद्रजीत को दे रखा था। यह इद्रजीत साहित्य तथा सगीत-विद्या के बडे जानकार, प्रेमी तथा आश्रयदाता थे। सुप्रसिद्ध कवि केशवदास तथा प्रवीणराय पातुरी, जो कि नृत्य, गान तथा साहित्य मे वडी निपुण थी, इन्ही की सभा को सुशोभित करते थे।

वहाँ से थोडी दूर पर सुप्रसिद्ध महात्मा श्री नरहरिदासजी रहते थे। वे श्री स्वामी हरिदासजी के सप्रदाय के वैष्णव थे।

सवत् १६६५ मे, श्री स्वामी हरिदासजी की निधिवन की गद्दी के महत, श्री सरसदेवजी ने वुदेलखड पधारकर श्री नरहरिदासजी को विधिवत् अपना शिष्य वनाया। उसके पश्चात् विहारी के पिता अपनी सतान-सहित श्री नरहरिदासजी के शिष्य हो गए। उस समय बिहारी की अवस्था वारह-तेरह वर्ष की थी। बिहारीदास नाम श्री नरहरिदास ही का रखा हुआ प्रतीत होता है, क्योकि उनके सप्रदाय के सेव्य ठाकुर का नाम 'विहारीजी' है, और उक्त सप्रदाय के शिष्यो का नाम प्राय दासात होता है।

श्री नरहरिदासजी के पास इद्रजीत तथा केशवदासजी भी कभी-कभी आते-जाते रहते थे। किसी दिन उन्होने केशवदासजी को बिहारी का परिचय देकर कहा कि यह लडका वडा होनहार है, यदि आप इसको अपने पास रखकर कुछ पढाने की कृपा कर दे तो वडा उपकार हो, और यह कदाचित् वडा कवि हो जाए। केशवदासजी ने भी बिहारी की वुद्धि अच्छी देखकर इस वात को सहर्ष स्वीकृत कर लिया और उनको जी खोलकर पढाने लगे। अपने रसिकप्रियादि ग्रथो के अतिरिक्त उन्होने तीन-चार वर्षो मे बिहारी

को भापा, सस्कृत तथा प्राकृत के अनेक काव्य-साहित्य तथा अन्यान्य उपयोगी ग्रन्थ पढा तथा गुना दिए, जिनका प्रभाव विहारी के अनेक दोहो पर पडा है।

केशवदासजी के साथ विहारी इद्रजीत की सभा मे भी आया-जाया करते थे, जिससे उनको प्रवीणराय पातुरी का नाच देखने का सयोग कभी-कभी मिल जाता था। उसकी नृत्य-निपुणता का प्रभाव विहारी के सौन्दर्यग्राही हृदय पर स्थिर रूप से अकित हो गया था, जो सतसई के निम्नलिखित दोहे मे स्पष्ट झलकता है—

सब-अग करि राखी सुघर नाइक नेह सिखाइ।
रसजुत लेति अनत गति पुतरी पातुरराइ ॥२८४॥

विहारी को केशवदासजी से पढने का अवसर थोडे ही दिनो तक मिला। सवत् १६६४ के पूर्व ही इद्रजीत का रग-अखाडा सर्वथा भग और अस्तव्यस्त हो गया, और केशवदास को छोडकर उसके सब लोग नष्ट-भ्रष्ट हो गए। पश्चात् विहारी के पिता ने ओडछे मे रहना व्यर्थ तथा अनुचित समझा, क्योकि एक तो वहाँ के रहने के निमित्त अव कोई विशेष कारण अथवा वृत्ति न रह गई थी, और दूसरे कदाचित् उस प्रात मे अनेक विप्लव भी हो रहे थे।

सवत् १६७० के आस-पास, नरहरिदासजी से आज्ञा लेकर, केशवदेवजी ने विहारी इत्यादि के साथ व्रज की ओर प्रस्थान किया। वृन्दावन मे उस समय श्री नरहरिदासजी के दीक्षागुरु श्री सरसदेवजी निधिवन की गद्दी पर थे। श्री सरसदेवजी के एक और शिष्य श्री नागरीदासजी थे। वे टट्टियो की कुटिया बनाकर कुछ और वैष्णवो के साथ यमुनाजी के तट पर रहते थे। केशवदेवजी ने कदाचित् उन्ही के स्थान मे डेरा किया। उस स्थान मे रहकर भी विहारी ने कुछ दिनो श्रमपूर्वक विद्याध्ययन तथा काव्याभ्यास किया और सगीतविद्या मे भी निपुणता प्राप्त की। विवाह होने के पश्चात् बिहारी अपनी ससुराल मे रहने लगे, और उनके पिता वृन्दावन ही मे रहे। पर पठन-पाठन के निमित्त विहारी भी प्राय वृन्दावन आया-जाया तथा रहा करते थे। श्री नरहरिदासजी ने विहारी की प्रशसा शाहजहाँ से की और उनका गाना तथा काव्य भी उसको सुनवाया। बिहारी ने शाहजहाँ की प्रशसा की और कुछ कविता पढी। शाहजहाँ ने प्रसन्न होकर उनको आगरा आने की आज्ञा दी, और फिर बिहारी आगरा आकर रहने लगे। आगरा मे रहकर विहारी ने कुछ फारसी (उर्दू) भी पढी और उस भाषा की कविता का भी कुछ अभ्यास कर लिया।

सतसई के अतिरिक्त और कोई कविता बिहारी की प्राप्त नही होती। यदि बीस वर्ष की अवस्था से उनका कविता करना माना जाय तो, सतसई आरम्भ करने के पूर्व १८-२० वर्ष तक बिहारी ने क्या कविता की, इसका कुछ पता नही चलता। यदि इस अतराल की उनकी कविता हाथ आती, तो आशा थी कि, उससे उस समय का उनका कुछ जीवन-वृतात विदित होता। अनुमान होता है कि यद्यपि विहारी मे काव्य-प्रतिभा तथा स्वाभाविक कवि के अन्यान्य गुण तो पूर्णतया विद्यमान थे तथापि उनकी रुचि कविता बनाने की अपेक्षा सुन्दर-सुन्दर प्राचीन काव्यो के आस्वादन तथा विद्योपार्जन मे अधिक थी।

विहारी का सस्कृत-व्याकरण से पूर्णतया अभिज्ञ होना तथा व्याकरण के

अनुसरण करने का लडकपन ही से स्वभाव पड जाना, उनका अपनी भाषा के निमित्त एक परम सुशृंखल, प्रयोगसाम्य-सपन्न तथा व्याकरण-नियमवद्ध ढाचा वनाकर तदनुसार कविता करने मे सफलीभूत होने से लक्षित होता है, और अनेकानेक प्रकार के छोटे-वडे समासो को वहुत सफलतापूर्वक प्रयुक्त करने से भी सिद्ध होता है । उनके उक्त ढाचे का 'वाक्य-सौष्ठव' स्पष्ट है, और उनके समासो का प्रयोगौचित्य उनके दस-वीस दोहो के पढने से ज्ञात हो सकता है, क्योकि सतसई के अधिकाश दोहो मे समासो का प्रयोग वडी सुन्दरता से हुआ है । समास-सौष्ठव के निमित्त १०४, १२७, १५२, १५३, १७३, १७५, ४०३ और ५२७ अको के दोहे विशेपत द्रष्टव्य है ।

विहारी को सस्कृत-कोप का गभीर ज्ञान होना उनके अनेक सस्कृत शब्दो को ऐसे रूपो तथा अर्थो मे प्रयुक्त करने से प्रतीत होता है, जिनमे भाषा के सामान्य कवियो ने उनको प्रयुक्त नही किया है, जैसे—

मन (१८,१५०), वारी (१९), वेसरि (२०), करवर (कर्वर, ५०), मुवा-दीधिति (९२), अनूप (१०२), सक्रोनु (सक्रमण, २७४), आघु (अर्घ्य, ३१६,३७६), कर्पूरमनि (कर्पूरमणि, ३६२), वृपादिन (वृपादित्य, ३६७), वास (४६४), नदित (४६६), वारद (वार्द, ४७५), कुसुम (५१२), आभार (५५१), परिपारि (परिपालि ६१६), पर (६४८) इत्यादि ।

इन शब्दो मे कितने शब्द तो ऐसे है, जिनका प्रयोग सस्कृत के भी किसी ही कवि ने इन अर्थो मे किया है, जैसे—मन (मनस्, १८), वारद (वार्द, ४७५), परिपारि (परिपालि, ६१६) ।

सस्कृत के अच्छे-अच्छे काव्यो मे विहारी का पूर्ण प्रवेश होना, उनके अनेक सस्कृत ग्रथो के कठिन श्लोको को दोहे मे वहुत सफलतापूर्वक उद्धृत करने से प्रमाणित होता है । इन दोहो मे केवल विहारी का सस्कृत-पाडित्य ही नही, प्रत्युत उनकी काव्य-प्रतिभा का वैलक्षण्य तथा उत्कर्प भी, लक्षित होता है । जिन भावो को उन्होने लिया है, उनको वैसा ही नही रहने दिया है, प्रत्युत उनमे कुछ न कुछ विशेप रग-ढग तथा काव्य-चमत्कार से नया प्राण फूंक दिया है ।

सस्कृत कोप तथा साहित्य के अतिरिक्त, विहारी के कितने ही दोहो से उनका ज्योतिप तथा वैद्यक शास्त्रो मे भी प्रवेश प्रतीत होता है । ज्योतिप के सम्वन्ध मे उनके ४२, १०५, ६६०, ७०७ अको के दोहे द्रष्टव्य है, और वैद्यक के सम्वन्ध मे १२०, ४७६ अको के दोहे ।

सस्कृत के यथेष्ट विपयो के पडित होने के अतिरिक्त, विहारी के कितने ही दोहो से प्रतीत होता है कि, वे प्राकृत तथा अपभ्रश के व्याकरणो तथा काव्यो के भी अच्छे ज्ञाता थे । उक्त भापाओ के व्याकरणो का ज्ञान, गैन (गगन, गअन, गयन, गैन), कैम (कदव, कदम, कअम, कयम, कइम, कैम), नै (नदी, नई, नइ, नै), निय (निय, निज, निय) इत्यादि शब्दो के प्रयोग मे लक्षित होता है, क्योकि ये रूप साहित्यिक व्रजभाषा मे सामान्यत देखने मे नही आते, पर प्राकृत तथा अपभ्रश के व्याकरणो से सिद्ध होते है तथा ये अथवा इनके कई पूर्व रूप उक्त भापाओ मे वरते भी जाते है । विहारी का प्राकृत

काव्यों का ज्ञान, उनके 'गाथासप्तशती' की कितनी ही गाथाओं के भावों को, अपनी प्रतिभा का विशेष चमत्कार देकर, दोहों में निबद्ध करने से सिद्ध होता है।

बिहारी ने ७०० दोहे बनाकर अपने ग्रंथ का नाम सतसई रखा, उससे भी उनका गाथा तथा आर्या-सप्तशतियों का पढ़ना, तथा उन्हीं की जोड़ पर अपनी सतसई बनाना, अनुमानित होता है।

यह अनुमान होता है कि उनको कविता करने की अपेक्षा विद्योपार्जन का व्यसन अधिक था, कविता वे आवश्यकतानुसार कभी-कभी किया करते थे। पर तो भी, सतसई के अतिरिक्त उनकी और स्फुट कविताओं अथवा किसी ग्रंथ का प्राप्त न होना आश्चर्य-जनक अवश्य है। यदि और कुछ नहीं तो, समय-समय पर उन्होंने शाहजहाँ तथा आगरा के सरदारों इत्यादि के सुनाने को कुछ कविताएँ अवश्य ही बनाई होंगी।

यदि उन स्फुट कविताओं का भी कोई संग्रह होता, तो आशा है कि न्यून-से-न्यून सतसई के बराबर का उनका एक ग्रंथ और भी होता। पर, 'बिहारी-रत्नाकर' में स्वीकृत दोहों तथा कतिपय अन्य दोहों के अतिरिक्त, जो सतसई के भिन्न-भिन्न क्रमों तथा टीकाओं में बिहारी के नाम से दृष्टिगोचर होते हैं, उनकी और कोई रचना प्राप्त नहीं होती। अतः यह अनुमान युक्तियुक्त जान पड़ता है कि वे समय-समय पर कुछ स्फुट कविता तो अवश्य करते रहे, पर उनके हृदय में एक सुशृंखल तथा प्रयोगसाम्य साहित्यिक ब्रजभाषा का ढाँचा स्थिर करने की उत्कंठा बनी रहती थी। यह कार्य बड़ा कठिन तथा समयसाध्य था, जिसको वे, अपने संतोष के योग्य, कदाचित् अपने आमेर जाकर टिकने के कुछ ही पूर्व, कर पाए। उक्त कार्य में इतना समय लग जाना कोई आश्चर्य नहीं था। श्री पाणिनिजी ऐसे महर्षि के भी जीवन का बड़ा भाग ऐसे ही कार्य में लग गया था, यद्यपि उनकी सहायता के निमित्त उनके पूर्व के अनेक संस्कृत-व्याकरण उपस्थित थे। बिहारी के लिए तो, जहाँ तक ज्ञात होता है, कोई ऐसा सहायक साधक भी नहीं था। वे भाषा का यथेष्ट ढाँचा बनाने में कहाँ तक कृतकार्य हुए, इसका अनुमान पाठकगण, जो कुछ उनके दोहों की भाषा के विषय में लिखा गया है, उससे कर सकते हैं। ज्ञात होता है कि जब उनके हृदय में उक्त ढाँचा बनकर तैयार हो गया, तो अपनी पूर्व रचनाओं की भाषा को उन्होंने उससे न्यूनाधिक विचलित पाकर, उनको दबा रखा, और विख्यात न होने दिया। कारण जो हो, इस समय तक सतसई के अतिरिक्त बिहारी का और कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं हुआ है। हाँ, एक 'दूहा संग्रह' नामक १५-१६ सौ दोहों के ग्रन्थ का जोधपुर में होना सुना जाता है, और यह भी ज्ञात हुआ है कि उसमें से कुछ दोहे बिहारी की सतसई के हैं। इससे यह अनुमान हो सकता है कि आश्चर्य नहीं, जो उक्त ग्रन्थ सर्वथा बिहारी ही के दोहों का संग्रह हो, क्योंकि देवकीनंदन टीका में भी बिहारी की रची का १८०० दोहा होना माना गया है। हमको स्वयं उक्त ग्रन्थ देखने का सौभाग्य नहीं हो सका।

संवत् १६७७-७८ से संवत् १६९१ तक बिहारी मथुरा, वृन्दावन तथा आगरा में यथारुचि और यथावसर, रहकर अपनी विद्या की उन्नति करते रहे। इस अवसर में वे प्रतिवर्ष उन राजाओं में से, जिन्होंने उनका वर्षाशन नियत कर दिया था, कतिपय के यहाँ जाकर धनोपार्जन कर लाया करते थे। जोधपुर तथा बूँदी इत्यादि में जो उनका

जाना सुना जाता है, वह भी सगत प्रतीत होता है ।

सवत् १६९१ के अन्त, अथवा सवत् १६९२ के आरम्भ मे, बिहारी अपना वर्षाशन लेने आमेर गए। उस समय वहाँ के महाराज जयसिह कोई नवीन रानी ब्याह लाए थे, और उसके सौन्दर्य तथा वय सधि की छटा पर ऐसे मुग्ध हो रहे थे कि रात-दिन उसी के महल मे पडे रहते थे, और राजकाज सर्वथा भूल गए थे। उनके मत्री, कर्मचारी तथा सभासद बहुत चितित थे, पर कर कुछ नही सकते थे। उनके वहाँ पहुँचने पर, मुख्य मत्री जी ने सब वृत्तात सुनाने के पश्चात् कहा—यदि आप महाराज को कोई चेतावनी देने का साहस करे तो बडा काम हो, क्योकि राजकाज मे बडी हानि पहुँच रही है। महाराज के बाहर निकलने से चौहानी रानीजी भी आपसे बहुत प्रसन्न होगी।

बिहारीजी कवि तो थे ही, जिन बातो पर उन लोगो ने महीनो मे विचार किया था, वे उनके हृदय मे क्षणमात्र मे घूम गई। बिहारी ने—

नहिं परागु, नहिं मधुर मधु, नहिं बिकासु इहिं काल।
अली कली ही सौं बध्यौ, आगैं कौन हवाल ॥ ३८ ॥

यह दोहा लिखकर एक वर्षवर (ख़ाजेसरा) को दिया, और उसने उसको ड्योढी पर ले जाकर किसी परिचारिका के हाथ राजा के पास पहुँचवा दिया।

इधर तो ये लोग दोहा भेजकर बडी उत्सुकता से परिणाम की प्रतीक्षा करने लगे, उधर जब राजा के पास दोहा तथा बिहारी के आने का सवाद पहुँचा, तो दोहे के सरस अन्योक्तिगर्भित उपदेश की छीट से उसकी आँखे खुल गई। दोहे के 'आगै कौन हवाल' पद के गूढार्थ का भी उस पर यथेष्ट प्रभाव पडा। बिहारी को बुलाकर, उनकी बडी प्रशसा कर और स्वर्ण मुद्राएँ दे, कहने लगा कि हम आपसे बहुत प्रसन्न हुए। यह भी कहा कि आपका दोहा बडा उत्तम है, आप ऐसे ही और दोहे बनाएँ, प्रति दोहा मै एक मोहर आपको भेट करूँगा।

जब राजा के बाहर निकल आने का समाचार चौहानी रानी ने सुना, तो वे बडी प्रसन्न हुई और बिहारी को अपनी ड्योढी पर बुलवाकर बहुत कुछ पारितोषिक तथा काली पहाडी ग्राम प्रदान किया, और कहा कि, आप हमारी ड्योढी के कवि होकर आमेर मे निवास करे। उन्होने उक्त घटना-सम्बन्धी बिहारी का एक चित्र भी बनवाया, जो कि अभी तक जयपुर के एक महल मे विद्यमान है।

उक्त घटना के दो-तीन ही महीने पश्चात्, चौहानी रानी के गर्भ से महाराज जयसिह के उत्तराधिकारी, कुमार रामसिह, उत्पन्न हुए। उस अवसर पर अनेक कवियो ने महाराज जयसिह की प्रशसा मे कविताएँ की। बिहारी ने भी यह दोहा पढा—

चलत पाइ निगुनी गुनी धनु मनि-मुत्तिय-माल।
भेट होत जयसाहि सौं भागु चाहियतु भाल ॥ १५६ ॥

फिर उक्त अवसर के उपलक्ष्य मे, महीने-दो महीने के पश्चात्, कोई बडा दरबार 'दर्पण-मन्दिर' मे हुआ। उसमे बिहारी ने महाराज जयसिह की शोभा का वर्णन इस दोहे मे किया—

प्रतिबिंबित जयसाहि-दुति-दीपति दरपन-धाम ।
सब जगु जीतन कौ कर्‌यौ काय-ब्यूहु मनु काम ।। १६७ ।।

इसी बीच मे ज्ञात होता है कि किसी 'लाखन' नामक व्यक्ति की सेना को जयसिंह ने मार भगाया था, जिस पर बिहारी ने यह दोहा बनाया था—

रहति न रन, जयसाहि-मुखु लखि लाखनु की फौज ।
जाचि निराखरऊँ चलै लै लाखनु की मौज ।।८०।।

इसी प्रकार बिहारी समय-समय पर दोहे बनाते, और पुरस्कृत होते रहे । समयानुकूल दोहो के अतिरिक्त, वे और भी पाँच-पाँच, सात-सात दोहे बनाकर दरबार मे ले जाने और मोहरे लाकर सुख से जीवन व्यतीत करने लगे । इस प्रकार बिहारी का जीवन आठ-दस वर्ष तक बडे सुख से अन्य कवियो के सग-सग व्यतीत हुआ ।

बिहारी कभी-कभी अपने प्राप्त ग्राम 'काली पहाडी' भी आया करते थे, क्योकि एक तो कुछ प्रबन्ध करना होता था, और दूसरे वह उनकी जन्मभूमि के सन्निकट था । इन्ही यात्राओ मे कदाचित् ग्राम-वधूटियाँ के भाव देखकर उन्होने समय-समय पर उनका वर्णन भी अपने दोहो मे कर दिया है, जैसे—९३, २४८, ७०८ इत्यादि अको के दोहो मे । यह भी प्रतीत होता है, कि ग्वालियर इत्यादि मे उनकी कविता का सम्मान अधिक नही होता था । यह बात उनकी कई एक अन्योक्तियो से लक्षित होती है ।[1]

बिहारी का गाथासप्तशती तथा आर्यासप्तशती का ज्ञाता होना तो ऊपर कहा जा चुका है । कुछ दोहो के बनने के पश्चात् या तो उन्होने स्वय ही उक्त सतसइयो के जोड पर एक सतसई बनाना निश्चित किया, अथवा महाराज जयसिह के कहने से । जो कुछ हो, सतसई-निर्माण पर उनका लक्ष्य होना इस दोहे से विदित होता है—

हुकुम पाइ जयसाहि कौ हरिराधिका-प्रसाद ।
करी बिहारी सतसई भरी अनेक सवाद ।।७१३।।

सवत् १७०४ के जाडो मे, ज्ञात होता है कि, उन्होने अपनी सकल्पित सतसई पूरी कर दी । उसी साल महाराज जयसिह औरगजेब के साथ बलख की चढाई पर गए थे और वहाँ से बडी चतुरता तथा वीरता से बादशाही सेना को पठानो तथा बर्फ से बचा लाए थे, जैसा कि 'यो दल काढे० ७११' इस दोहे की टीका मे कहा गया है । उक्त कार्य के निमित्त उनको आगरा आने पर बडा सम्मान प्राप्त हुआ था। आमेर लौटने पर, उनके ऐसी कठिन चढाई पर से सकुशल लौट आने तथा बादशाही दरबार मे विशेष रूप से सम्मानित होने के उपलक्ष्य मे, बडा उत्सव मनाया गया और कोई दरबार भी किया गया । 'बिहारी-सतसई' के 'हुकुम पाइ' दोहे को मिलाकर ७१० दोहे तैयार हो चुके थे, अत उन्होने उक्त घटना की प्रशसा के—

सामाँ सेन, सयान की सबै साहि कै साथ ।
बाहु-बली जयसाहि जू, फते तिहारै हाथ ।।७१०।।
यौं दल काढे बलक तैं, तैं जयसिह भुवाल ।
उदर अघासुर कै परैं ज्यो हरि गाइ, गुवाल ।।७११।।

---

१ देखिये बिहारी रत्नाकर, दोहे अक ४१८, ६२४ ।

घर-घर तुरकिनि हिंदुनी देति असीस सराहि ।
पतिनु राखि चादर, चुरी तैं राखी, जयसाहि ।।७१२।।

ये तीन दोहे वनाकर, और उनको 'हुकुम पाइ० ७१३' इत्यादि दोहे के पूर्व रखकर, कदाचित् उक्त दरवार ही मे अपनी सतसई, ग्रथरूप से महाराज की भेट कर दी।

इस घटना के कुछ पूर्व ही, विहारी की स्त्री का देहान्त हो गया था, जिससे उनका चित्त ससार से कुछ विरक्त-सा हो रहा था। एक तो वे आरम्भ ही से वृन्दावन के भक्त थे, और दूसरे उस समय की चित्त-वृत्ति ने उनका हृदय वृन्दावन की ओर और भी आकर्पित किया। अत वे महाराज से विदा होकर आमेर से चले आए।

किसी-किसी का यह भी कथन है कि विहारी आमेर से विदा होने पर जोवपुर, बूँदी इत्यादि राज्यो मे भी गए थे, और वहुत सभव है कि उन्होने वर्षाशन के उगाहने के निमित्त ऐसा किया हो। पर, जो हो, यह निश्चित प्रतीत होता है कि वे आमेर छोड कर, चाहे सीवे, चाहे और राज्यो मे घूमते-फिरते, अपने गुरु श्री नरहरिदास के पास वृन्दावन गए, और अपना शेप जीवन वही शातिपूर्वक भगवद्भजन मे व्यतीत करके, सवत् १७२१ मे परमधाम को सिधारे।

जिस प्रकार विहारी की सतसई के पूर्व की कोई रचना नही मिलती, उसी प्रकार उसके पश्चात् की भी कोई कृति देखने मे नही आती। ज्ञात होता है कि वृन्दावन निवास करने पर विहारी सर्वथा भगवद्भजन तथा महात्माओ के सत्सग मे लगे रहते थे। कविता का व्यसन उन्होने सर्वथा छोड दिया था। हमने स्वय वृन्दावन जाकर श्री मौनीदासजी की टट्टी इत्यादि स्थानो मे खोज की, पर उनकी कविता का कही कुछ पता नही मिला। इधर-उधर से कुछ बातें एकत्रित करके, उन पर अनुमान को अवलवित कर यह जीवनी सुश्रृखल रूप मे लिखने का यत्न किया गया है। इसमे अनेक त्रुटियो तथा अशुद्धियो की सभावना है।

बिहारी-सतसई

विश्वम्भर मानव

पिछले एक हजार वर्ष की काव्य-निधि मे से यदि हम दस सर्वश्रेष्ठ ग्रथो को चुनना चाहे, तो उनमे 'बिहारी-सतसई' का नाम आएगा। ये ग्रथ है—'पृथ्वीराज रासो', 'पद्मावत', 'सूरसागर', 'रामचरितमानस', 'रामचन्द्रिका', 'बिहारी-सतसई, 'कामायनी', 'प्रिय-प्रवास', 'साकेत' और 'दीपशिखा'। इनमे से अधिकतर ग्रथ प्रबन्ध-काव्य है। जीवन की विविधता का गहराई और सूक्ष्मता के साथ चित्रण करने के कारण प्रबन्ध-काव्य के श्रेष्ठ ग्रथो मे परिगणित होने और उसके रचयिता को महाकवियो की श्रेणी मे आसन मिलने की, मुक्तककार से अधिक सम्भावनाएँ रहती है। फुटकर प्रसगो पर लिखने की अपेक्षा मुक्तककार भी उस समय अधिक सफल होते देखे गए है जब उनके सग्रह-ग्रथो के पीछे किसी प्रकार की एकसूत्रता, जो वास्तव मे प्रबन्ध का गुण है, विद्यमान हो। सूरसागर, दीपशिखा और बिहारी-सतसई मे यह एकसूत्रता भक्ति, रहस्य और प्रेम को लेकर है।

बिहारी ने मुगल-साम्राज्य के समृद्धि-काल मे अपनी काव्य-साधना की। ऐसा युग काव्य-श्री के निखार के लिए सदैव उपयुक्त होता है। उस समय प्रजा सुखी थी और शासको ने देश मे शान्ति स्थापित कर दी थी। वे कलानुरागी थे, इसी से अनेक रूपो मे उसका विकास हो रहा था। विद्रोह की भावना एक प्रकार से मिट चुकी थी। यह विद्रोह की भावना ऐसी है कि आँधी की भाँति उठती है, शान्त हो जाती है और फिर उठती है। उस आँधी के फिर उठने मे अभी देर थी। जैसा जयसिह द्वारा बलख से शाहजहाँ की सेना को बचाकर लाने के वर्णन से पता चलता है, आक्रमण के समय हिन्दू-मुसलमान कन्धे से कन्धा भिडाकर लडते थे। राजनीतिक बातो मे शासन थोडा हस्तक्षेप अवश्य करता रहा होगा, क्योकि एक स्थान पर बिहारी ने 'दुराज' शब्द का प्रयोग करते हुए उसके विषम परिणाम की चर्चा की है। धर्म की दृष्टि से यह युग साम्प्रदायिक कट्टरता का युग न था। कबीर के समय से ही कवि लोग इस प्रकार की कट्टरता का विरोध कर रहे थे और धर्म को वे बहुत उदार बनाने मे समर्थ हुए। बिहारी ने वैष्णव धर्म और

निर्गुण मत, दोनो का समर्थन समान भाव से किया है। धर्म के सम्बन्ध मे पूरी स्वतन्त्रता उस समय लोगो को थी। एक पुराण-वाचक के प्रसग मे हमारे कवि ने उसे व्यभिचारी दिखलाया है और मन्दिर भी प्रेमियो के मिलन-स्थल बतलाए है। इससे सिद्ध होता है कि धर्म मे थोडा ढोग उस समय भी बना हुआ था। पर सबसे अधिक मनोरजक है बिहारी द्वारा प्रस्तुत समाज का चित्र। हो सकता है कि जिस समाज का वर्णन बिहारी ने किया हो, वह बहुत ही सीमित हो। कुछ वर्णन तो निश्चित रूप से राधा-कृष्ण के काल का है। पर बिहारी के नायक-नायिका उनके अपने काल के भी हैं। मै कभी-कभी सोचता हूँ वह कैसा युग रहा होगा जब युवतियाँ काम के बाण से मर्माहत हो अभिसार करती थी, वन, खेत, कुजो, खण्डहरो मे अपने प्रेमियो से मिलती थी और इस निर्द्वन्द्व जीवन मे कोई अधिक हस्तक्षेप नही करता था ।

वैसे तो श्रेष्ठ-काव्य के सौन्दर्य को ग्रहण करने के लिए पाठक मे सदैव ही एक प्रकार की ग्राहिका-शक्ति चाहिए, पर 'बिहारी-सतसई' के वास्तविक महत्त्व को समझने के लिए तो बिना वैसी क्षमता के काम ही नही चल सकता। यह क्षमता काव्यशास्त्र के ज्ञान पर निर्भर करती है। बिहारी मे प्रतिभा तो थी ही, साथ ही इस प्रतिभा को अध्ययन के द्वारा उन्होने निखारा था और अपने इस अध्ययन का उपयोग उन्होने पूरी शक्ति के साथ किया था।

'बिहारी-सतसई' की मूल प्रवृत्ति शृगारी है। सतसई की रचना की प्रेरणा के सम्बन्ध मे जो यह कहानी कही जाती है कि बिहारी ने जयपुर पहुँचने पर एक दोहे की मार से ही अपनी नयी रानी के प्रेम मे आबद्ध महाराज जयसिह को अन्त पुर के घेरे से मुक्त किया, उसे लेकर सभी आलोचको ने प्राय एक-सी ही बात कही है। यह घटना यदि सच हो तो भी इससे प्रमाणित यही होता है कि प्रारम्भ से ही बिहारी की प्रवृत्ति शृगारी थी। उस दोहे को लीजिए—

नहिं परागु, नहिं मधुर मधु, नहि बिकासु इहि काल ।
अली कली ही सौं बध्यौ, आगै कौन हवाल ॥

इस दोहे का आशय यह नही है कि रज और रसहीन कली से ही जो भौरा इतना बँधा हुआ है, अर्थात् जो नायिका की यौवन-प्राप्ति से पहले ही उसके रूप पर मुग्ध होकर कर्त्तव्य-ज्ञान भूल गया है, उसकी आगे क्या दशा होगी, वरन् यह कि जो समय से पूर्व ही अपने आकर्षण का परिचय दे रहा है वह रस का समय आने पर अपने अनुराग की दृढता और भी प्रमाणित करेगा। इस प्रकार यह दोहा बोधोदय के लिए न लिखा जाकर रसोदय के उद्देश्य से ही लिखा गया होगा। जयसिह ने जो बिहारी से मिलना चाहा होगा वह इसलिए कि आदमी कैसा ही हो, पर है रसज्ञ और इसी से अशर्फियो के मोल उन्होने उनके दोहो को खरीदा, यद्यपि यह मोल बहुत कम था।

सयोग-काल की कोई ऐसी स्थिति नही जो बिहारी की दृष्टि से बची हो। रूप-दर्शन से आकर्षण होता है। रूप के ये वर्णन नायिका के है और इस दृष्टि से नायिका से अधिक नायक के आकर्षण का वर्णन होना चाहिए था, पर ऐसा है नही। नायक से अधिक यहाँ भी नायिका पर कवि की दृष्टि है। नायिका आकर्षित होती है। आकर्षित

तो पुष्ट तर्कों के आधार पर सगुण से बढकर निर्गुण का समर्थन वे कर वैठे है। प्रतिबिंब-वाद और अद्वैतवाद दोनो की पुष्टि मे भी उन्होने कुछ-न-कुछ कहा है। नाम-स्मरण पर भी वे जोर देते पाए जाते है, ऐसी दशा मे पाठको के लिए यह निर्णय करना कठिन है कि उन्हे किस मत के अन्तर्गत वे माने। उनका विशेष झुकाव राधा-कृष्ण की लीलाओ की ओर है। भक्तो के समान वे कृष्ण पर विश्वास करते, उनके यश का वर्णन करते और उन्हे उलाहना देते पाए जाते है। पर मेरी दृष्टि से बिहारी भक्त नही थे, केवल कवि थे। जैसे प्रत्येक महाकवि अपने प्रिय विषय के अतिरिक्त अन्य विषयो पर भी समान सामर्थ्य के साथ लेखनी चलाता है, वैसे ही बिहारी ने भी प्रेम के अतिरिक्त भक्ति और नीति पर लिखा। भक्त का हृदय उन्हे प्राप्त हुआ ही न था। राधा और कृष्ण के जीवन को जैसा घोर शृगारी और वासनात्मक उन्होने चित्रित किया है, उससे तो इस बात मे और भी सन्देह नही रह जाता। बिहारी अनुराग के कवि थे, विराग के नही। भक्तो के हृदय की-सी पवित्रता, आर्द्रता, कोमलता, कातरता, दीनता और भाव-मग्नता उनमे सामान्यत नही पायी जाती—

कीजै चित सोई तरे जिहिं पतितनु के साथ।
मेरे गुन-औगन-गननु गनौ न गोपीनाथ॥
यह बरिया नहिं और की, तू करिया वह सोधि।
पाहन-नाव चढाइ जिहिं कीने पार पयोधि॥
पतवारी माला पकरि और न कछु उपाउ।
तरि ससार-पयोधि कौ, हरि-नावैं करि नाउ॥
मै समुझ्यौ निरधार, यह जगु काँचो काँच सौ।
एकै रूपु अपार, प्रतिबिम्बित लखियतु जहाँ॥

प्राचीन कवियो मे सेनापति जैसे एकाध कवि को छोडकर प्रकृति का स्वतन्त्र वर्णन पाया ही नही जाता। प्रकृति को वहाँ कही आध्यात्मिक भाव की व्यजना के लिए, कही रहस्य के लिए, कही उपदेश के लिए और कही अलकार-विधान के लिए प्रयुक्त किया गया है। बिहारी ने भी अप्रस्तुत के रूप मे प्रकृति से अनन्त मर्म-छवियो को चुना, पर सन्तोष की बात है कि षड्ऋतु-वर्णन के अन्तर्गत उन्होने प्रकृति की स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार करके उसमे व्याप्त अनेक भावनाओ को भी चित्रित किया है। लोक की क्रीडा को चित्रित करने के उपरान्त प्रकृति मे चलने वाली क्रीडा पर भी उनकी दृष्टि गई—

छकि रसाल-सौरभ, सने मधुर माधवी-गंध।
ठौर-ठौर झौंरत झपत भौंर-झौंर मधु-अंध॥
रनित भृंग-घण्टावली, झरित दान मधु-नीरु।
मन्द-मन्द आवतु चल्यौ कुंजर कुंज-समीरु॥

प्रकृति और मनुष्य को वे एक-दूसरे के पास लाए और स्थान-स्थान पर उन्होने यह प्रदर्शित किया कि मनुष्य के व्यवहार का बहुत बडा अंश प्रकृति से प्रभावित रहता है। वर्षा और शिशिर दोनो का प्रभाव मानव-हृदय पर देखिए—

तिय-तरसौंहे मन किए, करि सरसौंहे नेह।
धर-परसौहै ह्वै रहे, झर-बरसौंहे मेह ।।
तपन-तेज, तपु-ताप-तपि, अतुल तुलाई माँह।
सिसिर-सीतु क्यौहुं न कटै, बिनु लपटे तिय-नाँह ।।

प्रकृति सम्बन्धी कुछ चित्र तो विहारी के ऐसे है जो हिन्दी के आधुनिक काव्य की तुलना मे भी कम शक्तिशाली नही ठहरते। नीचे के दोहो मे जो ग्रीष्म का वर्णन है उसमे प्राचीन-काल के अलकार-विधान की मार्मिकता और सूक्ष्मता तो है ही, आधुनिक युग की मूर्तिमत्ता और चेतनता भी विद्यमान है। इन दोनो खण्ड दृश्यो से प्रकृति की कैसी सजीवता झलक रही है ! ग्रीष्म और छाया दोनो ही जैसे यहाँ स्पन्दन और गति से युक्त हो उठे है। पहले दोहे मे तो प्रस्तुत और अप्रस्तुत दोनो ही प्रकृति के क्षेत्र से चुने गए है। यह विशेषता आधुनिकतम हिन्दी काव्य मे, एक महादेवी की 'दीपशिखा' को छोडकर, शायद ही कही पायी जाती हो—

नाहिन ए पावक प्रबल लुवैं चलैं चहुँ पास।
मानहु विरह बसन्त कै ग्रीसम लेत उसास ।।
वैठि रही अति सघन वन पैठि सदन-तन माँह।
देखि दुपहरी जेठ की छाँहौं चाहति छाँह ।।

हास्य विहारी मे नही के बराबर है। ढोग से इन्हे भी चिढ थी, इसी से कथा-वाचको और अधकचरे वैद्यो को लेकर उन्हे ऐसी स्थिति मे दिखाया गया है जिससे हँसी आती है। विहारी निश्चित रूप से नगर के जीवन और नागरिक रुचि के पक्ष मे थे। नागरिको के प्रति गाँववालो के व्यवहार से ये बहुत क्षुब्ध दिखाई देते हैं, अत जहाँ कही हास्य की स्थिति आयी भी है, वहाँ उसमे व्यग्य के समावेश के कारण और गाँव वालो के प्रति थोडी हीन-भावना रखने के कारण ऐसे स्थल शुद्ध हास्य के नही रह पाए है। हमारा अनुमान है कि भारत के गाँवो और वहाँ के निवासियो के स्वभाव का विहारी को बहुत अच्छा अनुभव न था। हास्य के कुछ उदाहरण लीजिए—

बहु धनु लै, अहसानु कै, पारौ देत सराहि।
वैद-बधू, हँसि भेद सौं, रही नाह-मुँह चाहि ।।
परतिय-दोषु पुरान सुनि लखि पुलकी सुखदानि ।
कसु करि राखी मिश्र हू मुँह-आई मुसकानि ।।
कन दैबो सौंप्यौ ससुर, बहू थुरहथी जानि।
रूप-रहचटै लगि लग्यौ, मागन सबु जुग आनि ।।

भावना के क्षेत्र से हटकर कवि लोग कभी-कभी अपने जीवन के अनुभवो को भी चित्रित करते देखे जाते है। ऐसी बाते इस धारणा को लेकर लिखी जाती हैं कि शेष ससार उनसे लाभ उठाए। मात्र अनुभव को चित्रित करने वाली ऐसी रचनाएँ सूक्तियाँ कहलाती है जिनमे बहुत-सी नीति की बाते भी सम्मिलित रहती है। जहाँ तक होता है बात को सीधे-सीधे कह दिया जाता है। पर तथ्य कैसा ही हो उसे हृदयगम कराना तो होता ही है, इसी से ऐसी उक्तियो मे तर्क और अलकार के सहारे चिन्तन के पल अकित

किए जाते है। बहुत-सी बाते बिहारी ने सज्जन-दुर्जन, गुनी-निगुनी, दाता-सूम आदि को लेकर कही है। कुछ सूक्तियाँ कला, प्रेम और मनुष्य के स्वभाव को लेकर भी हैं—

मीत, न नीति गलीतु ह्वै जो धरियै धनु जोरि।
खाए खरचै जो जुरै, तौ जोरियै करोरि॥
कैसै छोटे नरनु तैं, सरत बडनु के काम।
मढ्यौ दमामौ जातु क्यौं, कहि चूहे के चाम॥
बड़े न हूजै गुननु बिनु बिरद बडाई पाइ।
कहत धतूरे सौं कनकु, गहनौ गढ्यौ न जाइ॥

बिहारी की कला हृदय की सहज उपज का परिणाम नही। वह अभ्यास-साध्य है। वहाँ अभिव्यक्ति का फूल वैसे नही खिलता जैसे बसन्त मे डालियो पर फूल खिलते है। कवि के भाव को ठीक से समझने के लिए उसकी कला से परिचित होना आवश्यक है। यह कला कई बातो पर निर्भर करती है जैसे—(१) रस, (२) अलकार, (३) नायिका-भेद, (४) शब्द-शक्ति, (५) प्रसग-विधान और (६) भाषा। पाठक को यदि इनमे से एक का भी अच्छा ज्ञान नही है, तो वह बिहारी के काव्य-सौन्दर्य से अपरिचित ही रहेगा। उदाहरण के लिए इस दोहे को देखिए जिसका अर्थ इस प्रकार की बातो के ज्ञान के बिना खुल ही नही सकता—

लिखन बैठि जाकी सबी, गहि-गहि गरब गरूर।
भये न केते जगत के, चतुर चितेरे कूर॥

बिहारी के भाव-पक्ष और कला-पक्ष की सीमाएँ हो सकती है और हिन्दी-साहित्य मे उनके स्थान पर आलोचको मे मतभेद भी, पर मुझे जो उनके सम्बन्ध मे सबसे अच्छी बात लगती है वह यह कि उन्होने अपने से पूर्व छ सौ वर्ष के काव्य को धर्म के प्रभाव से मुक्त करके जीवन की ओर मोडा। यही काम आज के युग मे यदि किसी ने किया होता तो वह 'काव्य मे विद्रोह' कहलाता। लौकिक जीवन के एक बडे पक्ष के सौन्दर्य, क्रीडा और आनन्द का जैसा सजीव वर्णन बिहारी मे पाया जाता है, वैसा आज तक के किसी कवि के काव्य मे नही। यह जीवन कही-कही गन्दला है, पर धरती का जीवन ऐसा ही है, क्या किया जाए। इतना तो निश्चित ही है कि उनके काव्य का एक ऐतिहासिक महत्त्व है। जैसे चन्दबरदाई, कबीर, जायसी, सूर, तुलसी, हरिश्चन्द्र, मैथिलीशरण गुप्त और जयशकरप्रसाद के बिना काव्य के विभिन्न युगो का इतिहास नही लिखा जा सकता, वैसे ही रीतिकाल के दो सौ वर्ष की कडी टूटी हुई दिखाई देगी, यदि उसमे से बिहारी का नाम निकाल दिया जाए।

सतसई का परिचय

हरदयालुसिह

जहाँ अन्य कवियो ने वहुत-मे काव्य-ग्रन्थ लिखकर जनता मे सम्मान प्राप्त किया, वहाँ विहारीलाल ने केवल सतसई नामक मुक्तक काव्य लिखकर। हिन्दी मे देव ने लगभग वावन ग्रथ लिखे, तव कही वैसी प्रसिद्धि पायी। यही दशा सस्कृत कवियो की भी है। थोडो रचना करके विहारी की-सी ख्याति किसी विरले ने ही प्राप्त की होगी। इससे यही सिद्ध होता है कि परिमाण का महत्त्व नही हुआ करता, गुण का महत्त्व हुआ करता है। अच्छे-अच्छे कवियो ने चाहे कई रचनाएँ लिख डाली हो, किन्तु विवेचन करके देखा जाए तो उनकी एक ही रचना उनके महत्त्व का प्रतिपादन करने के लिए पर्याप्त होती है। यदि कालिदास के अन्य ग्रथ न होते, केवल एक 'मेघदूत' ही मिलता, तो भी उनकी काव्य-प्रतिभा का पता चल गया होता और उनकी ऐसी ही ख्याति होती। यह सहज-शक्ति प्रतिभा कहलाती है। यह सव मे एक ही प्रकार की नही होती। जिसमे सहज-प्रतिभा होती है और उत्कृष्ट प्रतिभा होती है वही उत्तमोत्तम रचनाएँ करने मे समर्थ होता है। विहारी मे यही प्रतिभा थी।

कविवर अमरुक ने सौ श्लोक लिखकर सस्कृत साहित्य के क्षेत्र मे अपनी विजय-वैजयन्ती फहरा दी। क्या वात थी जिससे अमरुक को इतनी ख्याति मिली? कहना न होगा कि अमरुक मुक्तक रचना के रहस्य को समझते थे, प्रसग उपस्थित करना जानते थे जो मुक्तको के लिए नितान्त आवश्यक है।

मुक्तक किसे कहते है? मुक्तक वह काव्य कहा जाता है जो विना किसी प्रकार के प्रसग के अपना अर्थ स्वय व्यक्त कर सके। उसमे पूर्वापर सम्वन्ध वाछनीय नही। यद्यपि वह अनुवन्धहीन एव स्वच्छन्द होता है, पर उसका कुछ ढग ही ऐसा होता है कि उसके द्वारा अर्थ प्रतीत कराने मे देर नही लगती। ऐसी कृति का नाम लोगो ने मुक्तक रखा है। काव्य कई प्रकार के होते है। इनमे मुक्तक, खण्ड तथा महाकाव्य विशेप रूप से उल्लेखनीय है।

विहारी-सतसई मुक्तको मे है। मुक्तक मे प्रवाह होता ही नही और होता है तो

स्थिर । कुछ मुक्तक रचनाएँ सरस तो होती है पर सब ऐसी नही होती । कोई-कोई रचना तो शिथिल तक होती है । इनमे वह सानुबन्धता नही होती जो मुक्तक का विशेष अग है ।

मुक्तक की रचना सरस और नीरस दोनो प्रकार की होती है और इस प्रभाव से ससार की कोई रचना बची नही है । रामचरितमानस महाकाव्य है, जहाॅ तुलसीदासजी ने अपनी प्रतिभा का सारा बल लगाकर उसे काव्यक्षेत्र मे अमरता देने का प्रयास किया है, वहाँ रामायण मे कुछ प्रसग ऐसे भी रह गए है जिन्हे यदि शिथिलता के उदाहरण मे दिया जाय तो वे वहाॅ खूब बैठेगे, परन्तु इसका अर्थ यह नही है कि तुलसीदासजी सफल कवि न थे । यथार्थ बात तो यह है कि कोई भी पौरुपेय निर्माण गुण-दोप के समन्वय से अछूता नही रहता । यही हाल मुक्तको का है ।

मुक्तको मे, प्रवाहाभाव के कारण, नीरसता तुरन्त खटकने लगती है, परन्तु प्रबन्ध-काव्य मे वह प्रवाह-धारा मे ऐसे बह जाती है कि उसका पता लगना कठिन हो जाता है । यहाॅ प्रसगवश काव्य की सरसता और नीरसता के विषय मे भी कुछ कह देना आवश्यक है । नीरसता से यह न समझ लेना चाहिए कि उसमे चमत्कार-विधायकता का भी अभाव है । जहाॅ हम नीरस पद का प्रयोग करेगे वहाॅ पर हमारा अभिप्राय भावेतर अन्य रचनाओ से होगा । मुक्तको की तो कोई बात ही नही है, उनमे यदि नीरसता होगी तो थोडी ही देर मे मालूम होने लगेगी । प्रबन्ध-काव्य भी कभी-कभी नीरस होते है परन्तु उनमे नीरसता कुछ देर मे मालूम हो पाती है, क्योकि प्रवाह के कारण इसका पता देर मे लग पाता है ।

यहाॅ पर यह प्रश्न उपस्थित किया जा सकता है कि यदि वह काव्य है तो फिर नीरस कैसा ? काव्य नीरस होना ही न चाहिए । महामति प० विश्वनाथ के मत मे 'वाक्य रसात्मक काव्यम्', अर्थात् रसात्मक वाक्य काव्य कहलाता है । ऐसी दशा मे जब काव्य रसात्मक वाक्य हो चुका हो तो उसमे नीरसता कहाँ से आयी और यदि उसमे नीरसता रह गई तो वह काव्य कैसे कहलाया ? पडितराज जगन्नाथ रमणीयार्थ-प्रतिपादक शब्द को काव्य मानते है । रमणीयार्थ के प्रतिपादक शब्द कभी नीरस न होगे क्योकि रमणीयता और नीरसता दोनो ही परस्पर-विरोधी भाव के शब्द है । अत निष्कर्ष यह निकला कि रमणीयार्थ-प्रतिपादक शब्द नीरस न होगे, इसलिए काव्य भी नीरस न होगा, और यदि वह नीरस होगा तो उसकी गणना काव्य की परिधि के अन्तर्गत न की जा सकेगी ।

मुक्तक मे शिक्षा और नीति के उपदेश तथा शृगारी रचनाएँ खूब गठती है; क्योकि इनमे पूर्वापर प्रसग बहुत सापेक्ष नही रहते । नीति-उपदेशार्थ उपदेष्टा के लिए पर्याप्त अनुभव की आवश्यकता है । उन्ही के आधार पर जब वह मुक्तक बनायेगा और उनके भाव-उद्रेक के लिए अनुकूल परिस्थिति भी तैयार कर लेगा तब जाकर उन मुक्तको मे सरसता आयेगी । यदि कवि अनुकूल वातावरण भी उत्पन्न कर सका तो भाव-उद्रेकता के बिना वे मुक्तक कोरे धर्मशास्त्र के उपदेश रह जायेगे । मुक्तक के सम्बन्ध मे सबसे बडी बात यह है कि इनमे मानव-जीवन के किसी अग को लेकर अथवा किसी प्रकार के

व्यग्य का आश्रय ग्रहण करके कुछ कहना चाहिए, तब जाकर उसमे कुछ भाव-उद्रेकता और प्रभावोत्पादकता आयेगी, अन्यथा सरसता से वह वहुत दूर रहेगा और उसका प्रभाव कुछ भी न होगा। मुक्तको का अनुवृत्त निर्वाचन भी स्पष्ट होना चाहिए और वह भर सामान्य जीवन-क्षेत्र से। ऐसा होने से पाठको को उसके समझने मे कठिनाई नही पडेगी और वह सबका अनुरजन कर सकेगा। जिन मुक्तको के प्रसग समझने मे ही कठिनाई पडती है, उनका कोई महत्त्व नही और न साहित्यानुरागी ही उन्हे आदर की दृष्टि से देखते है।

सस्कृत-साहित्य मे कई मुक्तक काव्य है। इनमे आर्यासप्तशती, गाथासप्तशती, अमरुक-शतक और भामिनीविलास आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इन सब मे भामिनीविलास को पढिएगा तो पता लगेगा कि पडितराज जगन्नाथ ने ऐसे-ऐसे रसाप्लावित प्रसगो की योजना की है कि उन पर दृष्टिपात करते ही पाठक ब्रह्मानन्द-सहोदर काव्यानन्द मे मग्न हो जाता है। कविवर अमरुक ने भी अपने शतक के निर्माण मे ऐसा ही प्रशसनीय प्रयास किया है। उन्होने ऐसे सरस प्रसगो का आयोजन किया है कि उनको पढते ही पाठक रस के समुद्र मे अवगाहन करने लगता है। उसकी प्रसग-योजना पर मुग्ध होकर सस्कृत-साहित्य के ख्यातनामा आलोचक श्री आनन्दवर्द्धनाचार्य ने उनकी प्रशसा की है।

गाथा और आर्या-सप्तशतियो के प्रसग-योजना-सौन्दर्य के सम्बन्ध मे इतना ही कह देना पर्याप्त है कि ये आनन्दवर्द्धनाचार्य और सातवाहन की रचनाएँ है। सिंह के परिचय के लिए सिंह कह देना ही अलम् है। अधिक परिचय देने से उसके प्रभाव पर आघात होता हे। परिचय की आवश्यकता अप्रसिद्ध बातो को होती है। लोकविश्रुत बातो को इसकी आवश्यकता नही रहती।

अब हिन्दी के मुक्तको की ओर आइए। सूरदासजी का सारा काव्य मुक्तक है। उन्हे उस लोकविश्रुत आख्यायिका के आधार पर कोई प्रबन्ध-काव्य लिखने मे अडचन नही पड सकती थी, परन्तु ऐसा न करके उन्होने मुक्तको का आश्रय लिया। क्यो ? क्या उनमे प्रबन्ध-काव्य लिखने की क्षमता न थी, या क्षेत्र न था ? उत्तर मे यही कहना पडेगा कि क्षेत्र भी था और क्षमता भी थी, परन्तु यदि कोई कमी थी तो कृष्णपरक आदर्श महाकाव्य की थी जिसके आधार पर सूर अपना महाकाव्य निर्माण करते। यदि कोई कृष्णपरक रचना है तो श्रीमद्‌भागवत है। वह भी पुराण है, आख्यायिका दे सकता है, परन्तु महाकाव्य के लिए मार्ग नही प्रशस्त कर सकता। इधर रामपरक महाकाव्य वाल्मीकि-रामायण पहले से था। इसका आधार लेकर तुलसीदासजी को रामचरितमानस के निर्माण करने मे कोई कठिनाई न पडी। महाकाव्य लिखकर भी गोस्वामीजी को सन्तोष न हुआ। इस समय तक गोस्वामीजी पूरे वैरागी हो चुके थे। उन्होने मुक्तको पर हाथ साफ करने के अभिप्राय से गीतावली और कृष्णगीतावली लिखी। इनके पद निरपेक्ष है, परन्तु इस निरपेक्षता के रहते हुए भी पाठक इसका अध्ययन करके उसी प्रकार रस-सागर मे निमग्न होने लगता हे जिस प्रकार रामचरितमानस पढकर। इसका कारण यह है कि गोस्वामीजी ने इनमे चुन-चुनकर ऐसे-ऐसे मार्मिक चित्र खीचे है जो मर्मस्थान पर गुदगुदी पैदा करने वाले हैं और मानवी हृदय-

विकारो मे उद्बोधन पैदा करते है। लोग जो गीतावली को रामचरितमानस की अपेक्षा अधिक रसप्लावित मानते है, उसका कारण यही है कि गोस्वामीजी ने उसमे एक-से-एक सरस प्रसगो की आयोजना की है और कोमल भावो के उद्दीपनकारी प्रसगो का निर्वाचन भी बडी सरलता के साथ किया है।

हिन्दी के अन्य मुक्तक काव्यो मे यह बात नही आने पायी। इन मुक्तककारो ने मर्मस्पर्शी प्रसगो के निर्वाचन की ओर ध्यान ही नही दिया। इसलिए वे काव्य अपने मुक्तक सौन्दर्य के कारण इतने प्रसिद्ध नही हुए। उनकी प्रसिद्धि का कारण कुछ और ही था, और वह था भगवान राम-कृष्ण का कथा-गौरव, जिसके लिए जनता ने उनका स्वागत किया। जो लोग ऐसे ग्रथो को प्रबन्ध-काव्य मानते है, वे भूल करते हे। यद्यपि इनमे एक ही कथा से वर्ण्य प्रसग लिये गए है, परन्तु सानुबन्ध न होने के कारण इनमे यथेष्ट सौन्दर्य नही आने पाया।

रसाप्लावित मुक्तको मे आनन्द आता है और सूक्तियो मे भी, तो फिर इन दोनो मे अन्तर क्या है ? बिहारी सतसई के मुक्तको मे नीति-गर्भित उपदेश देने वाले मुक्तक के अतिरिक्त सूक्तियाँ भी है। सूक्तियो का काम यह नही है कि वे रस अथवा भाव व्यजना का उद्रेक भी करे। उनके कार्य की इतिश्री चमत्कारविधायकता के साथ ही साथ हो जाती है। जब हम काव्य के लक्ष्य पर दृष्टिपात करते है तब हमे यह कहने के लिए विवश होना पडता है कि सूक्तियाँ वास्तव मे आदर्श रचनाएँ नही ह। पर इससे क्या ? भले ही वे आदर्श रचनाएँ न हो परन्तु उनमे चमत्कार-विधान रहता है। अन्त मे कहना पडता है कि नीति की उक्तियाँ अथवा रूखे-सूखे राजनैतिक उपदेश कभी काव्य का रूप नही ग्रहण कर सकते, भले ही उन्हे कोई पद्यात्मक निबन्ध कहा करे। निबन्ध की पद्यात्मकता को किसी भी आचार्य ने स्वीकार नही किया है, परन्तु काव्य बहुधा पद्यात्मक ही होते है इसलिए हमारे कान पद्यात्मक निबन्ध सुनने ही के अधिक अभ्यासी हो गए ह और भ्रमवश ऐसे निबन्ध को काव्य मान बैठते हे, जो पद्यबद्ध हो। काव्य मे बिलकुल सच्ची बातो का सग्रह भी नही हो सकता। किसी को यह समझने मे भूल न करनी चाहिए कि जो दृष्टान्त काव्य मे आए हैं, वे सब सत्य ही हैं। यह तो लोगो का दृष्टिकोण है। यदि वे दृष्टान्त की योजना मे और अलकार के चमत्कार से किसी विषय को काव्य मान बैठे, तो यह उन्ही की भूल हे। वे काव्य की परीक्षा ही न कर सके।

सूक्तियो मे यह गडबड नही रहती। भले ही उनमे भाव की कमी हो परन्तु उनमे ऐसी सुन्दर वक्रोक्ति होती हे जो हृदय मे गुदगुदी पैदा करने लगती ह। जहाँ बिहारी ने सूक्तियाँ कही हे वहाँ उनके दृष्टान्त या युक्ति उस तथ्य की सार्थकता को प्रमाणित करने मे साहाय्य प्रदान करती ह। बिहारी प्रसगो की ऊहा करने मे बडे पटु थे, यद्यपि उन्होने प्रेम का सविस्तार वर्णन नही किया। जो कुछ कहा वह पुराने बँधे हुए प्रसगो पर ही कहा, परन्तु ऐसा कहा कि उनकी जोड का कहने वाला कोई नही दिखाई पडता। यद्यपि बिहारी ने अन्य रीतिकारो की भाँति जमकर रस, अलकार और नायिका-भेद पर कलम नही उठाई—जैसा कि सतसई के अध्ययन से विदित होगा क्योकि वे रीति-ग्रन्थ बनाना नही चाहते थे—परन्तु इतना होते हुए भी उन पर सतर

का प्रभाव अवश्य पडा है । वे रीति-परिपाटी से बहुत अलग नही हो पाए है ।

विहारी रीतिकाल के प्रभाव से मुक्त क्यो नही हो सके, इसका भी एक कारण है । वह यह कि उस समय लोकरुचि उसी ओर थी । पढे-लिखे लोग नायिका-भेद के विवेचन ही मे अपनी दक्षता की इतिश्री समझते थे । राजा लोग भी उस समय मुक्तक सुनना पसन्द करते थे, क्योकि उसमे थोडी देर मे आनन्द आ जाता था और प्रबन्ध-काव्य मे उसका कम से कम एक अश सुनकर ही आनन्द आ सकता था । इसकी समता ठीक मिश्री और शक्कर के शरवत से की जा सकती है । मुक्तक काव्य शक्कर का शरबत है जो पानी मे तुरन्त घुलकर मिठास देने लगता है और प्रबन्ध काव्य मिश्री का शरवत है जो देर मे घुलकर मिठास देता है ।

राजदरबारो की प्रवन्ध-काव्य की ओर से निरपेक्षता का सबसे बुरा परिणाम यह हुआ कि प्रवन्ध-काव्यो का प्रकारान्तर से निर्माण ही वन्द हो गया । अच्छे नाटको की रचना भी वन्द-सी हो गई । यद्यपि राजदरबारो की उदासीनता इसका एकमात्र कारण नही हे, उदासीनता के साथ-साथ मस्तिष्क-शान्ति, निश्चिन्तता, सुख और समृद्धि का अभाव भी है । जहाँ कवि और लेखक जठर-ज्वाला से ही जला करते हो वहाँ प्रवन्ध-काव्यो की जमी हुई शैली की रचना अधिक कैसे हो सकती है ! हिन्दी मे फुटकल या मुक्तक रचना ही अधिकतर होती आ रही है । इसका यह तात्पर्य नही कि हिन्दी मे प्रवन्ध काव्य या नाटक वने ही नही । वने अवश्य पर उनका अनुपात मुक्तक रचना के सामने वहुत थोडा हे । इधर आधुनिक युग मे थोडी-सी प्रवृत्ति जगी थी, पर विदेशी गीतो की धारा मे प्रवन्ध का उत्साह कवियो ने ढीला कर दिया है। तात्पर्य यह कि फिर मुक्तक रचनाएँ ही अधिक होने लगी है । प्रवन्ध-काव्यो मे भी ये गीत घर कर बैठे हैं । साहित्य का इतना प्रचार और प्रसार हो जाने पर भी अभी हिन्दी के कवि और लेखक पूर्णतया निश्चिन्त नही हो पा रहे है ।

मुक्तकों के सम्वन्ध मे दो-एक वाते और कहकर इस विषय को समाप्त करना है । कुछ लोगो का कहना है कि मुक्तक लिखना प्रवन्ध काव्य की अपेक्षा कठिन है । मक्तक रचना मे वही सफल हो सकता है, जो रसाभिनिवेश-क्रिया मे कुशल हो । विहारी इस क्रिया मे वडे दक्ष थे । इसीलिए उन्होने मुक्तक-रचना मे आशातीत सफलता प्राप्त की है ।

सतसई या सतसैया का अर्थ है ७०० पद्यो का सगह । सतसई लिखने की पहले से कुछ प्रणाली-सी है । मार्कण्डेय-पुराण की दुर्गासप्तशती मे ७०० श्लोक है । इसके वाद सातवाहन ने गाथा-सप्तशती का सग्रह किया । यह प्राकृत मे हे और मुक्तक हे । ऐसी ही रचना आर्यासप्तशती भी है । इसके प्रणेता श्रीमन् आनन्दवर्द्धनाचार्य है । ये दोनो ग्रन्थ साहित्य के रत्न हैं और मुक्तक रत्नो के आकर हें । यदि इन्हे शृगार रस का क्षीर-सागर कहा जाए तो कोई अत्युक्ति न होगी ।

विहारी-सतसई इसी शृगार वाली परम्परा मे दिखाई पडती है । ऐसा जान पडता है कि शृगार और भक्ति एव नीति की पृथक्-पृथक् रचनाएँ होती थी, किंतु उनकी सतसई प्रस्तुत करने की एक चाल-सी पड गई थी । विहारी के पूर्व रहीम-सतसई

और तुलसी-सतसई का नाम सुनाई पडता है। रहीम की पूरी सतसई नही मिलती। पर उसके जितने छन्द मिलते है उनके देखने से यही जान पडता है कि यह जीवन की मार्मिक अनुभूतियो के आधार पर प्रस्तुत सूक्तियो का ऐक सग्रह मात्र रही होगी। तुलसी-सतसई भक्ति और नीति की उक्तियो का सग्रह है। इन ग्रन्थो मे कितनी ही पुरानी उक्तियाँ भी पायी जाती है। कुछ तो केवल भाषा का आवरण बदलकर बैठ गई है, कुछ शैली के भेद से भिन्न हो गई है और कुछ साम्य के द्वारा दूसरी ही बना दी गई है। जीवन को अधिक निकट से और मनोयोगपूर्वक देखने के कारण इन कवियो ने कितनी ही नवीन और मनोहर उक्तियाँ भी प्रस्तुत की है। पुरानी उक्तियाँ थोडी है, नवीन अधिक। पुरानी उक्तियो से उनकी परम्परा का पता चलता है, नवीन उक्तियो से उनकी विशेषता एव शक्ति का। शृगार की परम्परा मे बिहारी का स्थान सबसे उत्कृष्ट दिखाई देता है।

बिहारी-सतसई की रचना के बाद तो अनेक कवि सतसई लिखने पर टूटे। कविवर मतिराम ने भी अपनी सतसई तैयार की। इसमे बिहारी के भावो का भी स्वागत किया गया है। मतिराम ऐसे समर्थ कवि के द्वारा नि सकोच भाव से बिहारी के भावो का ग्रहण किया जाना सिद्ध करता है कि सब भाव अपने ढग के अनूठे है।

जैसे तुलसी-सतसई या दोहावली मे 'रामचरितमानस' के कितने ही दोहे रख दिये गए है उसी प्रकार 'मतिराम-सतसई' मे उनके रसराज एव ललितललाम के भी कितने ही अच्छे-अच्छे दोहे सगृहीत है। बिहारी-सतसई के बाद यही सतसई औरो से उत्कृष्ट दिखाई देती है। इसके बाद विक्रम-सतसई और वृन्द-सतसई बनी। वृन्द-सतसई केवल नीतिगर्भित उपदेशो का सग्रह है। नीति की रचना होने से इसमे वैसा साहित्यिक चमत्कार नही। ऐसे उपदेशो मे काव्यगत चमत्कार आ भी कैसे सकता है? इसके बाद विक्रम-सतसई बनी। कुछ समय के बाद चन्दन-सतसई और शृगार-सतसई की रचना हुई। शृगार-सतसई मे, नाम के अनुकूल, अधिकाश रचनाएँ शृगार-गर्भित है। अभी हाल मे श्री वियोगी हरि ने वीर-सतसई का निर्माण किया है। इसमे आपने बडे मार्मिक दोहे लिखे है। इस सतसई मे वीर रस के विविध रूपो का निरूपण किया गया है। अनेक प्रकार के आलम्बनो की चर्चा करके और उन पर उक्ति-वैचित्र्यपूर्ण रचनाएँ लिखकर कवि ने हिन्दी मे एक अद्भुत रचना की है। अपभ्रश मे कुछ वीर रस के 'दूहे' मिलते है। हिन्दी मे दोहो मे वीर रस की इतनी बडी रचना इससे पहले नही लिखी गई।

बिहारी-सतसई मे सब मिलाकर ७१९ दोहे है। इसकी रचना बिहारी ने जयपुराधीश मिर्ज़ा राजा जयसिह के लिए, सवत् १६९२ मे, आरम्भ की थी। इसमे शृगार, वैराग्य नीति आदि कई विषयो के दोहे है, परन्तु शृगार के ही दोहे अधिक है। नायिकाभेद के प्राय सभी प्रकार के उदाहरण बिहारी-सतसई से दिए जा सकते है। केवल शृगार रस ही नही उसके पोषक हास्य रस के भी दोहे मिलते है। हास्य के अद्भुत आलम्बन कवि ने प्रस्तुत किए है। विभिन्न विषयो की रचनाएँ होने के कारण यह कहा जा सकता है कि सतसई मे बिहारी ने ७१९ दोहो मे ससार का बहुत-सा अनुभव सकलित करके रख दिया है। इसमे प्रकृति-निरीक्षण भी किया गया है और मानव-जीवन की भिन्न-भिन्न परि-

स्थितियो पर भी विचार किया गया है। आलम्वनो के तो ऐसे-ऐसे सुन्दर और सुकुमार चित्र खीचे गए हैं कि कवि की चित्रोपमता की भूरि-भूरि प्रशसा करनी ही पडती है।

विहारी-सतसई की रचना शृगार-रस-प्रधान है। शृगार को लोग रसराज कहते है। इसका कारण यही है कि शृगार ही ससार का प्रथम रस है। इसकी व्याप्ति वहुत दूर तक है। इसके अन्तर्गत अधिकाधिक भावो का समावेश किया जा सकता है। क्योकि इसके सयोग और वियोग नामक सुखात्मक एव दु खात्मक दो पक्ष हो जाते है। इसका स्थायी भाव रति या प्रेम है। प्रेम ही विश्व मे एक ऐसी विभूति है, जो ससार को एक सूत्र मे वाँध सकती है।

शृगार रस की धूम भारतीय साहित्य मे तो है ही, विश्व-साहित्य भी इसकी व्यजना से भरा पडा है। आग्ल-साहित्य मे भी शृगारी रचनाओ की कमी नही और यदि विचारपूर्वक देखा जाए तो शृगार के भीतर रूपो की विविधता और उसकी व्यजना की वैसी गहराई नही दिखाई देती जैसी यहाँ है। भारतीय शृगार के जितने भेदोपभेद है, उतने अन्य रसो के नही। हास्य रस की तो कोई वात ही नही, वह शृगार रस का पोपक मात्र है। अन्य रसो मे भी वह विविधता नही जो शृगार मे दिखाई देती है। करुण रस का प्रभाव विशेष अवश्य दिखाई देता है इसीलिए भवभूति ने उसकी प्रधानता की घोपणा की है। पर उसमे केवल दु खात्मक पक्ष है। शृगार की भाँति उसके दो पक्ष नही है।

बिहारी की भाषा

विश्वनाथप्रसाद मिश्र

ब्रजभापा बहुत दिनो से काव्यभापा है। यद्यपि महाराष्ट्री प्राकृत काव्य की गृहीत भापा थी, पर उसमे और शौरसेनी (जो ब्रजभापा की माता या मातामही है) मे बहुत कम अन्तर था। अपभ्रश-काल मे जिस नागर अपभ्रश की धूम थी वह शौरसेनी ही थी। इस प्रकार जिस कुल की ब्रजभापा है वह काव्यभापा का प्राचीन कुल है। मध्यदेश सस्कृति का केन्द्र था और शूरसेन मध्यदेश का हृदय था। इसी से ब्रजभापा का व्यवहार-क्षेत्र विस्तृत था। राजपूताना मे काव्यभापा मे इसी का व्यवहार होता था और वहाँ के लोग प्रादेशिक भापा से अलग करने के लिए इसे 'पिंगल' नाम से पुकारते थे ओर प्रादेशिक भापा को 'डिंगल' नाम से। बुन्देलखड, शूरसेन देश और अवध के कवि काव्य-भापा मे ब्रजी का व्यवहार करते थे, पजाब के पूर्वी प्रान्तो मे यही काव्यभापा थी। बिहार, बगाल, मध्यभारत, महाराष्ट्र और गुजरात मे यही सर्वसामान्य काव्यभापा थी। जो भापा इतनी दूर तक सामान्य काव्यभापा के रूप मे व्यवहृत होती रही हो उसका उन-उन प्रदेशो की भापाओ से प्रभावित होना अथवा उन-उन प्रदेशो की भापाओ के शब्दो एव प्रयोगो का उसमे मिल जाना स्वाभाविक था। मुसलमानी राजत्वकाल मे अरबी-फारसी के शब्दो का उसमे आ जाना, उनके लाक्षणिक प्रयोगो मे प्रभावित होना भी स्वाभाविक था।

इसीलिए ब्रजी का ज्ञान प्राप्त करने के लिए यह आवश्यक नही था कि कोई कवि ब्रज मे ही पैदा हो या वही जाकर बसे। उस भापा मे जो ग्रथ प्रस्तुत हो चुके है उनके अनुशीलन से वह बडे मजे मे ब्रजी का ज्ञान प्राप्त कर सकता है। इसी से 'दास' ने अपने 'काव्यनिर्णय' मे लिखा कि ब्रजी सीखने के लिए ब्रजवास आवश्यक नही। विभिन्न भापाओ या उनके शब्दो का ब्रजी मे मेल देखकर जो लोग चौकते हैं उन्हे भापा की विस्तार-सीमा पर दृष्टि रखनी चाहिए। 'पृथ्वीराजरासो' मे कहा गया है कि इसकी भापा मे मेल है—

सस्कृत प्राकृत चैव राजनीति नव रस ।
षड्भाषा पुरान च कुरान कथित मया ।।

प्राकृत के पुराने वैयाकरणो को षड्भापा मान्य थी। उसमे 'अपभ्रश' की भी गिनती थी। 'कुरान' का तात्पर्य विदेशी से है। भिखारीदास ने भी अपने भापानिर्णय मे छह प्रकार निकाले—

ब्रज मागधी मिलै अमर नाग जवन भाषानि ।
सहज पारसीहू मिलै षटविधि कहत बखानि ।।

उन्होने जव वडे-वडे कवियो की भाषा जाँची तो उन्हे उसमे भी मेल दिखाई पडा। तव उन्होने वेधडक लिखा—

तुलसी गंग दुवौ भए सुकविन के सरदार।
इनकी काव्यन में मिली भाषा विविध प्रकार ।।

कुछ आलोचक इस दोहे का अर्थ यह लेते है कि तुलसी और गग इसीलिए कवियो के सरदार कहलाए कि उनके काव्यो मे कई प्रकार की भापा मिलती है। पर 'दास' का तात्पर्य यह नही है। ब्रजभाषा का प्रयोग बुदेलखड और अवध प्रान्त के कवियो ने वहुत दिनो तक किया। इसलिए दोनो देशो की भाषाओ के शब्द और प्रयोग मिल गए। पिछले खेवे के कवियो ने तो अवधी और ब्रजी का ही मिश्रण किया। कथक्कड साधुओ और मुसलमानी दरबारो के ससर्ग से खडीबोली के शब्द या क्रिया-प्रयोग भी ब्रजी मे मिले।

पूर्व-पश्चिम के भेद से भाषाओ के दो वर्ग माने जाते है। 'पूर्वी' शब्द अवध की भाषा के लिए प्रयुक्त होता है। ब्रजी और खडीवोली पश्चिमी भाषाएँ है। ब्रजी और खडीवोली की प्रकृति एक-सी है, पूर्वी का इन दोनो से स्पष्ट भेद है। शब्द-रूपो को दृष्टि मे रखे तो खडी वोली के आकारात पुंलिग शब्दो के रूप तीनो मे भिन्न-भिन्न है— ब्रजी मे ओकारात, खडी मे आकारात और अवधी मे अकारात। जैसे—घोडो (ब्रजी), घोडा (खडी) और घोड (अवधी)। इसी प्रकार पश्चिमी भाषाओ की प्रवृत्ति दीर्घांत है और पूर्वी की लघ्वत। यही नही, पश्चिमी भापाओ मे शब्द रूपो मे सकोच या सिमटाव की प्रवृत्ति है तो पूर्वी मे विस्तार या ढीलेपन की, जैसे, प्यार (ब्रजी), प्यार (खडी) और पिआर (अवधी)। शब्द-रूपो मे ही नही, दोनो मे व्याकरण का भी भेद है। सवसे मुख्य भेद है कर्मणि और कर्तरि प्रयोग का। पश्चिमी भापाओ मे तो कर्मणि प्रयोग होता है, पर पूर्वी मे नही। खडीवोली मे कर्मणि प्रयोग के कारण कर्ता मे तृतीया का चिह्न 'ने' आता है, ब्रजी मे यह 'ने' वैकल्पिक है। पूर्वी भापाओ मे कर्तरि प्रयोग होता है, इसीलिए पूरववालो के हाथ और मुँह से 'वे कहे, हम कहे, आप कहे' आदि खडीवोली मे वरावर दिखाई-सुनाई पडते है, जो अशुद्ध है। ब्रजी मे सामान्य भाषा होने से उधर तो खडीवोली के कुछ प्रयोग होने लगे और इधर अवधी के।

शुद्ध ब्रजी का प्रयोग करनेवाले वहुत थोडे कवि मिलते है। सूरदास की भापा भी शुद्ध ब्रजी नही है, चलती ब्रजी है। विहारी की भापा वहुत कुछ शुद्ध ब्रजी है, पर वह भी साहित्यिक है। घनआनन्द की भापा भी शुद्ध ब्रजी है, वे 'ब्रजभाषा-प्रवीण' है।

उनकी भाषा मे पूर्वी प्रयोग एकदम नही है या एकाध ही है। बिहारी मे पूर्वी प्रयोग उनकी अपेक्षा अधिक मिलते है।

क्रिया के 'लीन', 'कीन', 'दीन' आदि पूर्वी प्रयोग बिहारी ने तुकातके आग्रह से रखे है। ब्रजी मे 'लीनौ, 'लीन्हौ' आदि रूप होगे—

तन मन नैन नितंब को बडो इजाफा कीन।
पिय तिय सो हंस कै कह्यौ लखैं दिठौना दीन।
चंदमुखी मुखचद तें भलो चंद सम कीन।

कही-कही 'कियौ' का 'किय' भी है और तुकात के अनुरोध से नही पद्य के मध्य मे—

मनु ससिसेखर की अकस किय सेखर सत चंद।
इक नारी लहि सग रसमय किय लोचन-जगत॥

एक स्थान पर तुकात की विवशता से 'लजात' का 'लजियात' भी है—

कहत नटत रीझत खिझत मिलत खिलत लजियात।

'है' के लिए पूरबी का 'आहि' भी है जो घनआनन्द मे भी मिलता है। पर तुकात मे ही और अनुप्रास-यमक के लोभ से आया है—

रही कराहि कराहि अति अब मुँह आहि न आहि।

खडी बोली के कृदत और क्रियापद भी अनुप्रास के आग्रह से रखे गए है—

रहे सुरग रग रगि उही नइ-दी महदी नैन।
नेकौ उहि न जुदी करी हरषि जु दी तुम माल।
बीदि पियागम नीद-मिल दीं सब अली उठाय।

बुदेलखडी शब्दो और प्रयोगो के लिए कहना ही क्या। 'खड बुदेले बाल' के अनुसार इनका लडकपन वही बीता और केशव, उनकी पद्धति एव कविता का इन पर प्रभाव पडा। बुदेली के लखबी, करबी, पायबी, आदि की तो कोई बात नही, तुलसीदास आदि की पूरबी रचना तक ये प्रयोग पहुँच गए है। बुदेली का अव्यय 'स्यौं' बिहारी और केशव मे बहुत मिलता है, जिसका अर्थ सग या साथ होता है—

चिलक चिकनई चटक स्यौ लफति सटक लौं आय।
स्यौं बिजुरी मनु मेह आनि इहाँ बिरहा धरे।

पहले उदाहरण मे कुछ लोग 'स्यौ' के स्थान पर 'सौ' पाठ भी रखते है। दूसरे मे 'इहाँ' भी पूरबी रूप है, ब्रजी मे 'ह्याँ होता है जिसका प्रयोग बिहारी ने भी किया है—

ह्याँ ते ह्वाँ ह्वाँ तें इहाँ नेकौ धरति न धीर।

'स्यौ' का प्रयोग आगे चलकर और कवि भी उसी प्रकार करने लगे जिस प्रकार 'लखबी', 'पायबी' आदि का। ठेठ अवध के 'दास' भी इसका प्रयोग करते है—

स्यौं ध्वनि अर्थनि वाक्यनि लै गुन सब्द अलंकृत सो रति पाकी।

—काव्यनिर्णय, १-१८

बुदेली के प्रयोग इनमे बीसो है। पीछे उनमे से कुछ का धडल्ले के साथ प्रयोग होने

लगा। जैसे, लाने (लिए), घैर (बदनामी की चर्चा), कोद (ओर), चाला (द्विरागमन), बिदाई, गीधे, वीधे आदि। कुछ शब्द ऐसे भी हैं जिनका प्रयोग औरो ने कदाचित् ही किया हो—जैसे सद, सवी आदि।

केशव की ही भाँति एक प्रयोग और इनमे मिलता है जिसका चलन ब्रजी मे नही हुआ। 'ने' विभक्ति के साथ उत्तम पुरुष एकवचन का मै ही आता है, पर कर्ता कारक मे हौं आता है, इसके साथ 'ने' का प्रयोग नही होता। और कारको मे इसका प्रयोग नही हुआ करता, पर केशव ने इसको कर्म-कारक मे भी प्रयुक्त किया है—

पुत्र हौ बिधवा करी तुम कर्म कीन्ह दुरन्त।

इनमे भी 'हौं' का कर्म-कारक मे प्रयोग है—

हौं इन बेची बीच ही लोयन बडी बलाइ।

इन्होने एक विचित्र प्रयोग और किया है। यह है 'चितई' का प्रयोग। 'चितवना' का भूतकालिक रूप ब्रजी मे 'चितयौ' होता है और लिंग-भेद से इसके स्वरूप मे अन्तर नही पडता, 'कान्ह चितयौ' भी होगा और 'राधा चितयौ' भी। पर इन्होने स्त्रीलिंग के साथ 'चितई' लिखा है। रत्नाकरजी का कहना है कि बिहारी ने इसका प्रयोग अकर्मक किया है। जैसे 'राधा हँसी, चली' आदि होता है, 'वैसे ही 'चितई' भी। पर 'लखी' का प्रयोग भी मौजूद है—

उत दै सखिहि उराहनो इत चितई मो ओर।
सुनि पग-धुनि चितई इतै न्हाति दियें ही पीठि।
पति रति की बतियाँ कहीं सखी लखी मुसुकाय।
लहि रति-सुख लगियै हियें लखी लजौही नीठि।

इसे पूरब का प्रभाव माने तो कैसा! जो भी हो, यह प्रयोग चित्य अवश्य है। एक स्थान पर 'बिचारी' कर्तरि नही, कर्मणि है।

बिन बूझें बिनहीं कहें जियति बिचारी बाम।

सतसैया मे लिंग-विपर्यय भी बहुत है। एक ही शब्द कही पुलिंग और कही स्त्रीलिंग है। सस्कृत के कुछ पुलिंग शब्द हिन्दी मे स्त्रीलिंग हो गए है, जैसे आत्मा, अग्नि, वायु आदि। सस्कृत के पक्षपातियो का कहना है कि सस्कृत के लिंग की रक्षा हिन्दी मे भी होनी चाहिए। पर यह प्रकृति-विरुद्ध है। फारसी का 'कलम' लीजिए। हिन्दी मे पहले से 'लेखिनी' शब्द प्रचलित था, इसलिए उसी अर्थ मे प्रयुक्त 'कलम' शब्द का लिंग भी उसी के अनुकूल हो गया, यद्यपि फारसी मे यह पुलिंग है। यदि 'कलम' शब्द को सस्कृत से ही आया माने (कलम पुसि लेखिन्याम् मेदिनी) तो भी अधिक प्रचलित 'लेखिनी' के अनुकूल उसका लिंग भी बदल गया। पर एक ही भाषा मे एक ही शब्द के एक अर्थ मे लिंग भिन्न हो यह ठीक नही, और एक ही कवि जब उसको दो लिंगो मे प्रयुक्त करे तो और भी ठीक नही। कुछ पडित सस्कृत के शब्दो या उसके विकृत रूपो को उसी लिंग मे लाते है जो सस्कृत मे मान्य था। 'देवता' शब्द हिन्दी मे पुलिंग हो गया, पर केशवदास उसे स्त्रीलिंग ही लिखते थे। महाभाष्यकार ने भी लिंग के सम्बन्ध मे लोक को ही प्रमाण माना है—लोकाश्रयाच्च लिंगम्। देशभेद से भी लिंगभेद हो जाता है। 'दही' शब्द बनारस मे स्त्रीलिंग है, पर

पश्चिम मे पुलिग । 'गेंद' पूरब मे पुलिग है, ब्रज मे स्त्रीलिग । कवियो ने इसी से दोनो लिगो मे एक ही शब्द का एक ही अर्थ मे प्रयोग किया है ।

फिरि फिरि बिलखी ह्वै लखिति फिर फिरि लेति उसास ।

इस दोहे मे 'उसास' का लिग सदिग्ध है । रत्नाकरजी ने 'उसासु' रूप रखा है अत उनके अनुसार पुलिग है । सस्कृत के 'उच्छ्वास' से ही बिगडकर 'उसास' शब्द बना । सस्कृत मे 'श्वास-उच्छ्वास' पुलिग है, पर हिन्दी मे 'साँस उसास' शब्दो का प्रयोग पूरब मे स्त्रीलिग मे होता है ।

बोझनि सौतिन के हियें आवति रूँधि उसास ।

यहाँ 'उसास' स्त्रीलिग है, 'आवति' क्रिया से । पर 'आवत' भी हो सकता है ।

पल न चलै जकि सी रही थकि सी रही उसास ।

नई नई बहुरयौ दई दई उसासि उसास ।

यहाँ 'उसास' के साथ जो क्रियापद आए है वे 'अनुप्रास' की लपेट मे पडे है, इसलिए इनके पाठान्तरो की कल्पना नही की जा सकती । सतसैया भर मे नौ बार 'उसास' शब्द का प्रयोग हुआ है, कई स्थानो पर क्रियापद के साथ उसका अन्वय न होने से लिग सन्दिग्ध है । यदि 'उकार' (उसासु) को पुलिग का द्योतक माने तो 'बिहारी-रत्नाकर' के अनुसार चार दोहो मे पुलिग और तीन मे स्त्रीलिग है । शेष मे लिग सदिग्ध है ।

इसी प्रकार सस्कृत का 'वायु' शब्द है । हिन्दी मे 'वायु' शब्द का प्रयोग स्त्रीलिग मे होता है । पर सस्कृत का अनुगमन करनेवाले उसे पुलिग ही लिखते है । ब्रजी मे 'वायु' शब्द स्त्रीलिग है, पर इन्होने उसे दोनो लिगो मे प्रयुक्त किया है—

आवति नारि नवोढ लौ सुखद वायु गतिमन्द ।

यहाँ 'वायु' स्त्रीलिग है, पर अगले दोहे मे पुलिग—

आवत दच्छिन देस ते थक्यौ बटोही बाय ।

फारसी के 'रुख' शब्द का प्रयोग स्त्रीलिग मे हुआ है । फारसी मे यह पुलिग है और हिन्दी मे पढे-लिखे पुलिग बोलते है, पर जनता स्त्रीलिग—

रस की सी रुख ससिमुखी हँसि हँसि बोलत बैन ।

'रुख' शब्द का प्रयोग चार दोहो मे है और चारो मे स्त्रीलिग है ।

ब्रजी मे ब्रजवासी कवियो ने 'मिठास' को पुलिग रखा है । यह पश्चिम मे पुलिग है, पूर्व मे स्त्रीलिग—

कितो मिठास दयौ दई इते सलोने रूप ।

यह सब तो है पर इन्होने पूर्वी अर्थ मे किसी शब्द का व्यवहार नही किया है । यदि कोई शब्द पूर्व और पश्चिम दोनो मे अर्थभेद से प्रयुक्त होता है तो इन्होने उसे पश्चिमी अर्थ मे ही प्रयुक्त किया है, जैसे 'सुघर' शब्द । इसका अर्थ पश्चिम मे 'चतुर' होता है और पूर्व मे 'सुन्दर' । सतसैया के पुरबिहा टीकाकारो ने इसका सुन्दर अर्थ दिया है—

अग अग करि राखी सुघर नायक नेह सिखाय ।

यहाँ 'सुघर' का 'चतुर' अर्थ ही अच्छा घटता है ।

भाषा भावो-विचारो को व्यक्त करती है। भावो-विचारो को व्यक्त करने के लिए भाषा चाहे जो हो तो ठीक है, पर चाहे जैसी हो ठीक नही। उसे भाव-विचार के अनुरूप होना चाहिए। बिहारी की भाषा बहुत चुस्त है। इतनी ठोस या प्रौढ भाषा लिखने वाले हिन्दी मे कम हुए हैं। व्याकरण की व्यवस्था भी भाषा मे अपेक्षित है, इस पर कम कवियो ने ध्यान दिया। बिहारी के बाद मतिराम, पद्माकर, दास, घनआनन्द, द्विज-देव आदि थोडे-से ही कवि ऐसे है जो व्याकरणसम्मत भाषा लिखते थे। सतसैया मे कही-कही कर्ता क्रिया से दूर जा पडा है, पर यह छन्द की विवशता है—

१ गड़े बडे छबि-छाक छकि छिगुनी-छोर छुटै न।
रहे सुरग रग रगि उही नह दी महदी नैन॥
२ ये कजरारे कौन पर करत कजाकी नैन।

पहले उदाहरण मे 'गडे' क्रिया आदि मे है और 'नैन' कर्ता एकदम अन्त मे। दूसरे मे भी 'नैन' विशेष्य 'कजरारे' विशेषण से कुछ दूर है।

लक्षणा की बहुत-सी बाते भाषा के भीतर ही आती है, मुख्यतया रूढ प्रयोग जिनमे मुहावरे भी है। गुण, वृत्ति, रीति आदि एक प्रकार मे भाषा के ही विचार है। भाषा का आलकारिक गुण देखा जाय तो इन्होने अनुप्रास की योजना बहुत सावधानी से की है। कही-कही तो प्रसगानुकूल झकृति भी है। आजकल अग्रेजी भाषा की अनुकृति पर इस झकृति की बडी महिमा है। झरने के वर्णन मे ऐसी शब्दावली रहे जिससे प्रपात की-सी ध्वनि निकलती हो। किसी के आभूषणो की ध्वनि-सी छन्द से ध्वनि निकले, जैसे तुलसीदास की इस अर्धाली मे—

ककन-किंकिन-नूपुर-धुनि सुनि। कहत लखन सन राम हृदय गुनि॥

ककन-किंकिन' आदि शब्द ऐसे है जिनसे उन आभूषणो की-सी ध्वनि भी निकल रही है। बिहारी मे भी यह गुण है—

रनित-भृ ग-घटावली झरित दान-मद-नीर।
मद मद आवत चल्यौ कुजर कुज-समीर॥

इससे घटा बँधे हाथी के चलने और वायु के सचरित होने की ध्वनि निकलती है।

इनमे विरोध वृत्ति भी मिलती है, पर घनआनन्द-सी नही—

तो भागनि पूरब उयौ अहो! अपूरब चद।

रुखाई और चिकनाई का विरोध तो सतसैया मे कई स्थानो पर है।

नेह-भरे हिय राखियै तउ रुखियै लखाय।

ब्रजभाषा समास-बहुला भाषा नही, इसलिए उसमे सामासिक पदावली की अधिकता अच्छी नही। कवि स्तुति या रूपवर्णन आदि मे सामासिक पदावली लाते है और अधिकतर सस्कृत-पदावली का सहारा लेते है। बिहारी ने ब्रजी की प्रकृति के अनुरूप छोटे-छोटे समास ही रखे है। भाषा मे कसावट लाने के लिए और भाषा की व्यजकता बढाकर छोटे साँचे मे अधिक भाव भरने के लिए सामासिक पदावली का सहारा लेना बिहारी के लिए आवश्यक था। सामान्यत बिहारी ने तीन-चार-पदो तक के ही समास

रखे। पर सामासिक पदावली के कारण धारा मे अर्थ की अभिव्यक्ति मे कोई अड्चन नही हुई है—

बिकसित नवमल्ली-कुसुम-निकसित परिमल पाय।
सारद-बारद-बीजुरी भा रद कीजति लाल॥

पर कही-कही इससे भी लबे समास हो गए है, फिर भी किसी प्रकार की क्लिष्टता नही, जैसे—

समरस-समर-सकोच-बस-बिबस न ठिक ठहराय।
बन-विहार-थाकी-तरुनि-खरे-थकाए नैन॥

कुछ लोग 'तरुनि' के बाद 'खरे-थकाए' को अलग रखते है।

लाक्षणिक प्रयोगो मे मुहावरो पर आइए। मुहावरे भी एक प्रकार के लाक्षणिक प्रयोग ही है, पर रुढ। इनमे मुहावरो की बदिश अच्छी है। इनकी कविता पर मुसलमानी लाक्षणिकता का भी कुछ प्रभाव पडा है। यहाँ मुहावरो का प्रचलन अपेक्षाकृत कम रहा है, पर बाहरी प्रभाव से उनका प्रयोग बढा। इन्होने अधिकतर लाक्षणिकता व्रजी की प्रकृति के अनुरूप ही रखी है। घनआनन्द आदि मे बाहरी रग-ढग कुछ विशेष है, पर उन्होने भी व्रजी की प्रकृति के विरुद्ध जाने का प्रयास नही किया। इन लोगो की मुहावरे-बदिश मे बाहरी प्रभाव वहाँ स्पष्ट जान पडने लगता है जहाँ मुहावरो को लेकर ही कलाबाज़ी की जाती है—

मूड चडाएऊ रहै परयौ पीठि कच-भार।
रहै गरे परि राखियै तऊ हियें पर हार॥

'मूड चढाएँ', 'परयौ पीठि', 'गरे परि' और 'हिये पर' की मुहावरे-बदिश से जो दोहरे अर्थ—वाच्यार्थ एव लक्ष्यार्थ—निकाले गए है सो मुसलमानी प्रभाव से। पर सतसैया मे ऐसे दोहे वहुत कम मिलेगे। जहाँ मुहावरो का विदेशी विन्यास मिलता भी हे वहाँ वह अपने यहाँ की पद्धति के अनुकूल और स्वाभाविक है। जैसे—

जब जब वै सुधि कीजियै तब तब सब सुधि जाँहि।
आँखिन आँखि लगी रहै आँखें लागति नाँहि॥

इसमे कलाबाजी विरोध-मुहावरो को लेकर है, स्वाभाविक है। लाक्षणिक प्रयोग असगति मे कैसे साधक हैं—

दृग उरझत टूटत कुटुम जुरति चतुर-चित प्रीति।
परति गाठि दुरजन-हियें दई नई यह रीति॥

चलते मुहावरो का यह व्यवहार देखिए—

खरी पातरी कान की कौन बहाऊ बानि।
आक-कली न रली करै अली अली जिय जानि॥

शब्दरूपो पर भी थोडा विचार करना चाहिए। इन्होने कुछ शब्द तो पुराने रखे हैं, जैसे लोयन, विय आदि। पर ऐसे शब्द अधिक नही है। बिहारी पर सबसे बडा दोप कुछ लोगो ने यह लगाया कि इन्होने शब्दो को बहुत तोडा-मरोडा हे। कवि भापा की प्रकृति के अनुसार शब्द गढते है। 'स्मर' को 'समर' करना तो कुछ नही, पर 'ज्यौ-त्यौं'

के लिए 'जज्यौ' 'त्यौ-त्यौ' के लिए 'तत्यौ' ठीक नही, ऐसे ही 'कै कै' के स्थान पर 'ककै'। पर इन्हे छदानुरोध से ही कही-कही ऐसा करना पडा है। इनकी भापा मे लोग जैसा तोड मरोड दिखलाते है वैसा है नही।

विहारी की भाषा चलती होने पर भी साहित्यिक है। वाक्य-रचना व्यवस्थित है और शब्दो के रूपो का व्यवहार एक निश्चित प्रणाली पर है। यह बात बहुत कम कवियो मे पायी जाती है। ब्रजभापा के कवियो मे शब्दो को तोड-मरोडकर विकृत करने की आदत बहुतो मे पायी जाती है। 'भूषण' और 'देव' ने शब्दो का बहुत अग-भग किया है और कही-कही गढत शब्दो का व्यवहार किया है। विहारी की भाषा इस दोष से बहुत कुछ मुक्त है। दो-एक स्थल पर ही 'स्मर' के लिए 'समर', 'ककै' ऐसे कुछ विकृत रूप मिलेगे। जो यह भी नही जानते कि सक्राति को सक्रमण (अपभ्रश 'सक्रोन') भी कहते है, 'अच्छे' साफ के अर्थ मे सस्कृत शब्द है, 'रोज' रुलाई के अर्थ मे आगरा के आसपास वोला जाता है और कवीर, जायसी आदि द्वारा वरावर व्यवहृत हुआ है, 'सोनजाइ' शब्द 'स्वर्णजाती' से निकला है—जुही से कोई मतलव नही, सस्कृत मे 'वारि' और 'वार' दोनो शब्द है और 'वार्द' का अर्थ भी वादल है, 'मिलान' पडाव या मुकाम के अर्थ मे पुरानी कविता मे भरा पडा है, चलती ब्रजभाषा मे 'पिछानना' रूप ही आता है, 'खटकति' का रुप वहुवचन मे भी यही रहेगा, यदि पचासो शब्द उनकी समझ मे न आएँ तो वेचारे विहारी का क्या दोष[1]।'

सतसैया के शब्दरूपो एव विभक्तियो पर विचार कीजिए। 'ए' का 'ऐ' और 'ओ' का 'औ' उच्चारण तो अधिक विचार की वात नही, ब्रजभापा-प्रदेश या पुराने साहित्य मे गृहीत रूपो और इनमे कोई विभेद नही। इसलिए 'कीजियौ, गयौ, कह्यौ' आदि क्रियापद के रूप तथा विभक्तियो के 'मैं, कौ, सौ, तैं' आदि रूप विशेष विचारणीय नही। दोनो प्रकार के रूपो मे से सज्ञा और क्रिया के रूपो मे हस्तलेखो मे यह अतर अवश्य है कि 'औकारात' रूप सज्ञा शब्दो के कम मिलते है। सबसे पहले पूर्वकालिक क्रियाओ के रुपो पर विचार करना चाहिए। 'समुझाइ, दिखाइ, वसाइ' आदि मे रूप 'स्वरात' है अर्थात् इनके अत मे 'इ' है। पर ब्रज का उच्चारण या ब्रजभाषा मे पूर्वकालिक क्रिया का रूप व्यजनात या यकारात होता है अर्थात् समुझाय, दिखाय, बसाय आदि रूप होने चाहिए। 'इ' वाली प्रवृत्ति अवधी की है। तो क्या विहारी ने यहाँ भी अवधी के ही रुप स्वीकृत किए है। अवधी का ब्रजी पर इतना अधिक प्रभाव उस समय नही था, पीछे चाहे जो हो गया हो। इसलिए ये रूप पुरानी परम्परा के द्योतक माने जाएँगे, जो वहुत दिनो से चले आ रहे थे। अपभ्रश मे 'इ' वाले रूप होते है।

अव वहुवचन रूप लीजिए। पुरानी भाषा मे वहुवचन रूप 'न' लगने से वनते है। इन्ही के 'निकारात' और 'नुकारात' रूप भी मिलते है, जैसे दृगन, दृगनि, दृगनु। ऐसे रूपो के सम्वन्ध मे विचारना यही है कि कौन-सा रूप व्याकरणसम्मत होगा। नकारात और निकारात रूप तो ब्रजभाषा मे बराबर आते है, पर नुकारात कम मिलते है। 'विहारी-

---

१ हिन्दी साहित्य का इतिहास—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल।

रत्नाकर' मे नुकारात रूप ही रखे गए हैं। टीकाकार ने गणना करके यह देखा कि नुका-रात रूप हस्तलिखित प्रतियो मे अधिक है। इसलिए उन्होने इसे ही बिहारी-स्वीकृत रूप माना। उनका कहना है कि एकवचन मे 'उकारात' रूप होते है, इसलिए बहुवचन मे भी 'नकारात' रूपो मे 'उ' लगाना ठीक है। इस विषय मे विचारणीय बात यह है कि 'अका-रात' पुलिग शब्दो के ही एकवचन मे और कर्ता एव कर्म कारको मे 'उकारात' रूप होते है। यह सस्कृत के विसर्ग का ही 'ओ' होकर लघु हुआ रूप है। इसलिए अकारात पुलिग शब्द के एकवचन तथा कर्ता एव कर्म कारक मे 'उ' हो सकता है। उसके विशेषणो और कृदत विशेषणो मे भी 'उ' ठीक है—रहतु, चलतु आदि। पर बहुवचन मे इस 'उ' का पहुँचना विचार करने योग्य है। काव्य मे ऐसे रूप नही मिलते या कम मिलते है। इसलिए यह भ्रममात्र जान पडता है। अपभ्रश के बहुवचन मे अकारात या आकारात रूप ही बनते थे—

अद्धा वलया महिहि गय अद्धा फुट्टि तडत्ति।

इसमे आकारात रूप मिलता है जो सस्कृत के 'आ' से विसर्ग-लोप के कारण बना माना जायेगा।

प्रश्न होता है कि बहुवचन का 'न' आया कहाँ से। यह नपुसक लिग के 'नि' से आया है। इसी का घिसा रूप 'न' है। इसलिए 'नकारात' या 'निकारात' रूप अधिक व्याकरणसम्मत है। इसके अतिरिक्त नियमानुसार 'नि' रूप का प्रयोग प्रथमा और द्वितीया मे ही होना चाहिए। पर इसका प्रयोग अन्य कारको मे भी होता है। कही सामान्य कारक की 'हि' विभक्ति का घिसा रूप 'इ' न आ लगा हो।

अब कारणसूचक रूपो पर विचार कीजिए। चले, जाएँ, लखे आदि के सम्बन्ध मे कुछ नही कहना है। अपभ्रश मे ऐसे रूप मिलते है। पर कुछ लोग निरनुनासिक रूप भी लिखते है। कारणसूचक शब्दो के अतिरिक्त जहाँ किसी कारक-चिह्न का लोप है वहाँ भी रत्नाकरजी ने इसी प्रकार के रूप रखे है—

सोधे कें डोरें लगी अली चली सग जाय।

इसमे 'डोरें' का अर्थ है 'डोरे मे'। 'डोरें' को तो 'हि' या 'ह' के घिसे रूप से बना मान लिया जायेगा, पर 'डोरें' के पहले 'कें' सम्बन्ध-चिह्न भी अपना वेश बदले हुए है। वस्तुत सानुनासिकता आगे के लोप को व्यक्त करती है। जहाँ-जहाँ शब्द के बाद विभक्ति का लोप होता है वहाँ-वहाँ सम्बन्ध का चिह्न सानुनासिक हो जाता है।

मकराकृति गोपाल कें सोहत कुडल कान।

'कें' या 'कैं' का सम्बन्ध 'कान' से है—'गोपाल के कान मे'। इसी प्रकार शब्द-लोप होने पर भी 'के', 'कें' या 'कैं' हो गया है—

रोज सरोजन कें परै हसी ससी की होय।

यहाँ 'सरोजन कें' का अर्थ होगा—'सरोजो के यहाँ' या 'सरोजो के निमित्त'। और साफ उदाहरण यह है—

जेती सपति कृपन कें तेती सूमति जोर।

'कृपन कें' का अर्थ है 'कृपण के पास'।

इसी 'कै' का जोडीदार 'सै' भी है, जिसका विहारी-रत्नाकर मे कई जगह प्रयोग किया गया है। यह 'सी ही' का विकृत रूप बताया जाता है। अन्य पुस्तको मे इसका रूप 'सी' ही मिलता है।

सटपटाति सी ससिसुखी मुख घूघट-पट ढाकि।

'सटपटाति सी' का अर्थ होगा 'सटपटाती हुई सी'। सभावना और समता दोनो का बोध कराने के लिए 'सी' का प्रयोग होता है। यहाँ सभावना के लिए 'सी' का प्रयोग हुआ है।

त्यौ त्यौ छुही गुलाब सै छतिया अति सियराति।
चढी हिडोरे सै रहै लगी उसासनि साथ ॥

'छुही गुलाव सै' का अर्थ—'गुलाव से छुही हुई सी, सिची हुई सी' और 'चढी हिडोरे सै' का अर्थ हे—'हिडोले पर चढी हुई सी'।

विहारी की भाषा व्याकरण से गठी हुई है, मुहावरो के प्रयोग, साकेतिक शव्दावली और सुष्ठु पदावली (डिक्शन) से सयुक्त है। भापा प्रौढ एव प्राजल है। इसके अतिरिक्त विपय के अनुरूप भी इनकी भापा अपना रूप वदल दिया करती है। यदि किसी नागरिक-नायिका का वर्णन आएगा तो उसकी शव्दावली दूसरे ढग की होगी, ग्रामीण स्त्री का वर्णन होगा तो उसकी शव्दावली तुरत वदल जायगी। विहारी का भापा पर अच्छा और सच्चा अधिकार था।

विहारी की निपुणता

रामसागर त्रिपाठी

कवि की वाणी चारो ओर को स्फुरित होती है। उसे अप्रस्तुत योजना के लिए शास्त्र और लोक दोनो ओर को हाथ फैलाना पडता है। मुक्तक काव्य मे तो निपुणता और अधिक अपेक्षित होती है। कारण यह है कि प्रवन्ध काव्य मे कथा का आश्रय लेकर कवि बढता चला जाता है। प्रस्तुत उसके सामने सर्वदा सन्निहित रहता है। उसे व्युत्पत्ति की आवश्यकता कथासूत्र-गुम्फन और अप्रस्तुत-विधान मे ही पडती है। इसके प्रतिकूल मुक्तक काव्य की प्रवृत्ति ही व्युत्पत्ति के आधार पर होती है। जो कवि जितना व्युत्पन्न होगा उतने ही अर्थ उसके सामने स्फुरित होगे और उतना ही कौशल वह अपनी रचना मे दिखला सकेगा।

हम विहारी के ज्ञान को तीन रूपो मे विभक्त कर सकते है—

(१) शास्त्रो का ज्ञान, (२) इतिवृत्त का ज्ञान और (३) लोक-वृत्त का ज्ञान।

ज्योतिष

शास्त्र-ज्ञान के अन्दर विहारी ज्योतिष मे विशेष निष्णात प्रतीत होते है। इन्होने ज्योतिष के गहन सिद्धान्तो का प्रश्रय अपनी कविता मे लिया है। ये सिद्धान्त ऐसे नही है जिनको सर्वसाधारण मे प्रचलित कहा जा सके। सम्भवत विहारी ने ज्योतिष का अच्छा अध्ययन किया था अथवा ज्योतिषियो के निकट सम्पर्क मे रहे थे। जातक सग्रह के राजयोग प्रकरण मे लिखा है कि यदि शनिश्चर तुला, धनु या मीन मे हो अथवा लग्न मे पडा हो तो वह स्वय राजा होता है तथा राजवश का करने वाला होता है। ज्योतिष के इस सिद्धान्त को लेकर विहारी ने निम्नलिखित दोहा लिखा है—

सनि-कज्जल चख-झख लगन उपज्यौ सुदिन सनेहु।
क्यौ न नृपति ह्वै भोगवै लहि सुदेसु सबु देहु॥

नेत्र-रूपी मीन की लगन (लग्न तथा लगालगी) मे स्नेह-रूपी बालक का जन्म हुआ है। अतएव यह स्नेह-रूपी बालक सारे शरीर-रूपी देश पर शासन कर रहा है। इसी प्रकार एक दूसरा सिद्धान्त है कि यदि मगल, चन्द्रमा और बृहस्पति एक ही नाडी

के चारो नक्षत्रो मे से किसी एक पर पडे हो तो इतनी वर्षा होती है कि ससार जलमय हो जाता है। निम्नलिखित दोहे मे मस्तक पर लगी लाल बिन्दी को मगल माना गया है, मुख को चन्द्रमा माना गया है और केशर के पीले तिलक को बृहस्पति माना गया है। इसी मे तीनो एक ही नारी (नाडी या स्त्री) मे विराजमान है अतएव नेत्ररूपी ससार रसमय, प्रेममय या जलमय हो गया है—

मगलु बिदु सुरंग, मुख ससि, केसरि-आड़ गुरु ।
इक नारी लहि सग, रसमय किय लोचन जगतु ।।

इसी प्रकार एक और सिद्धान्त है कि यदि चन्द्र के अन्दर कोई सौम्य ग्रह पडा हो और वह केन्द्र मे, ग्यारहवे स्थान पर अथवा त्रिकोण मे विद्यमान हो तो धनागम, राजमान, सतान-प्राप्ति इत्यादि अनेक सुख प्राप्त होते है। इस सिद्धान्त की छाया निम्न-लिखित दोहे पर पडी है—

तिय-मुख लखि हीरा-जरी बेंदी बढै विनोद ।
सुत सनेह मानौ लियौ विधु पूरन बुध गोद ।।

यहाँ पर स्त्री के मुख मे हीरा जडी वेदी को चन्द्र के अन्दर बुध का योग माना गया है। स्त्री का स्थान सप्तम है। अतएव यह सख्या केन्द्रगत हो गई है। सखी का अभिप्राय यह है कि यह समय अनेक सुख, पुत्र, वित्तादि की प्राप्ति के लिए उपयुक्त है। इसी प्रकार निम्नलिखित दोहे मे कवि ने मगल के अन्दर चन्द्र की अन्तर्दशा पर ध्यान दिलाया है जो कि दार-पुत्रादि अनेक सौख्यो का देनेवाला होता है—

भाल लाल बेंदी, ललन आखत रहे विराजि ।
इन्दु कला कुज मैं बसी मनौ राहु भय भाजि ।।

लाल विन्दी रूप मगल मे अक्षत रूप चन्द्रमा विराजमान है जो कि स्त्रीरूप सप्तम स्थान केन्द्र मे पडा हुआ है, अतएव अनेक सुखो का देने वाला है।

निम्नलिखित दोहे मे सक्रान्ति का सुन्दर वर्णन किया है—

तिय-तिथि तरुन-किशोर-वय पुण्यकाल-सर दोनु ।
काहू पुन्यनु पाइयतु बैस-सन्धि संक्रौनु ।।

इसी प्रकार निम्नलिखित दोहे मे कवि ने किसी तिथि की हानि होने का अच्छा वर्णन किया है—

गनती गनिवे तै रहे छत हूँ अछत समान ।
अलि अब ए तिथि औम लौं परे रहौ तन प्रान ।।

जिस तिथि मे प्रात काल सूर्य का उदय होता है वही तिथि दिन-भर मानी जाती है। कभी-कभी ऐसा हो जाता है कि सूर्योदय काल मे जो तिथि होती है वह केवल चार-छ पल बाद बदल जाती है और दूसरे दिन प्रात काल सूर्योदय के पहले समाप्त हो जाती है। वह तिथि यद्यपि विद्यमान रहती है तथापि न विद्यमान रहने के समान मानी जाती है। यहाँ पर इसी की उपमा दी गई है।

आयुर्वेद

विहारी ने आयुर्वेद के चलते हुए सिद्धान्तो का वर्णन किया है। निम्नलिखित

दोहे मे विषम ज्वर के सुदर्शन चूर्ण द्वारा होने की बात कही गई है—

यह बिनसतु नगु राखि कै जगत बड़ौ जसु लेहु ।
जरी बिषम जुर जाइयै आइ सुदरसनु देहु ॥

निम्नलिखित दोहे मे ज्वर की तीव्रता और उसका रस से दूर होना बतलाया गया है—

हरि हरि बरि बरि उठति है करि करि थकी उपाइ ।
वाको जुरु, बलि बैद, जौ तो रस जाइ, तु जाइ ॥

निम्नलिखित दोहे मे पारे से नपुसकता दूर होने की ओर सकेत किया गया है—

वहु धनु लै, अहसानु कै, पारौ देत सराहि ।
बैद-वधू हँसि भेद सौं रही नाह मुँह चाहि ॥

निम्नलिखित दोहे मे नाडी-ज्ञान, निदान इत्यादि की छाया पायी जाती है—

मैं लखि नारी-ज्ञानु करि राख्यौ निरधारु यह ।
वहई रोग-निदानु, वहै बैदु, औषधि वहै ॥

निम्नलिखित दोहे मे पीनस रोग का लक्षण बतलाया गया है—

सीतलतारु सुवास की घटै न महिमा मूरु ।
पीनसवारै जो तज्यौ सोरा जानि कपूरु ॥

उपर्युक्त दोहो मे वैद्यक के किसी गहन सिद्धान्त का वर्णन नहीं किया गया है, केवल सर्वजन-सवेद्य तत्त्वो का ही उपादान हुआ है। किन्तु एक दोहे में एक ऐसे सिद्धान्त का उपादान किया गया है जो सर्वजन-सवेद्य नही कहा जा सकता। आयुर्वेद मे शरीर-शोधन के लिए पचकर्म किए जाते है जिनमे स्नेहन भी एक है। इसमे रोगी को स्नेह-पान कराया जाता है। यदि स्नेहन क्रिया विगड जाती है तो रोगी का पेट पानी से भर जाता है और प्यास शान्त नही होती। धीरे-धीरे रोगी प्यास मे ही मर जाता है। इस तथ्य की छाया निम्नलिखित दोहे मे विद्यमान है—

नेहु न, नैननु कौ कछू उपजी बड़ी बलाइ ।
नीर-भरे नित प्रति रहै तऊ न प्यास बुझाइ ॥

दर्शन

बिहारी के दोहो मे कही-कही दार्शनिक विषयो की भी छाया पायी जाती है। कुछ तो साधारण विषय है और कुछ दोहो मे विशेषता भी है। निम्नलिखित दोहे मे प्रमाणवाद का उल्लेख किया गया है जो कि सर्वजन-सवेद्य नही कहा जा सकता—

बुधि अनुमान, प्रमान श्रुति किऐं नीठि ठहराइ ।
सूछम कटि पर ब्रह्म की अलख, लखी नहि जाइ ॥

किसी-किसी दोहे मे परमात्मा की व्यापकता इत्यादि सर्वजन-सवेद्य सुलभ सिद्धान्तो की छाया पायी जाती है—

भगवान् की व्यापकता मे—

मै समुझ्यौ निरधार, यह जगु काँचो काँच सौ ।
एकै रूपु अपार प्रतिबिम्बित लखियतु जहाँ ॥

एक तत्त्व की ही प्रधानता—

अपनैं अपनैं मत लगे बादि मचावत सोरु ।
ज्यौं त्यौ सबकौं सेइबौ एकै नन्दकिसोरु ।।

योग तथा अद्वैतवाद—

जोग जुगति सिखए सबै मनौ महामुनि मैन ।
चाहत पिय अद्वैतता काननु सेवत नैन ।।

प्रत्यक्ष के बाधक—

जगतु जनाऔ जिहिं सकलु, सो हरि जान्यौ नाँहि ।
ज्यौं आँखिनु सबु देखिये आँखि न देखी जाँहि ।।

व्यापकता तथा रहस्यमयता—

मोहन मूरति स्याम की अति अद्भुत गति जोइ ।
बसतु सु चित-अन्तर तऊ प्रतिबिम्बतु जग होइ ।।

राजधर्म

राजधर्म प्रकरण मे राज्य के सात अग माने जाते है—स्वामी, अमात्य, सुहृत, कोष, राष्ट्र, दुर्ग और बल । बिहारी ने एक दोहे मे शरीर के अगो की तुलना राज्य के अगो से की है—

अपने अग के जानि कै जोबन-नृपति प्रवीन ।
स्तन, मन, नैन, नितम्ब कौ बडौ इजाफा कीन ।।

इसी प्रकार छ उपाय माने जाते है—सन्धि, विग्रह, यान, आसन, सश्रय और द्वैधीभाव । एक दोहे मे बिहारी ने इन उपायो की ओर सकेत किया है—

क्यौंहूँ सहबात न लगे, थाके भेद उपाय ।
हठ दृढ गढ गढवै सु चलि लीजै सुरग लगाइ ।।

नायक और नायिका का विग्रह तो चल ही रहा है, सन्धि के सारे उपाय व्यर्थ हो गये है । भेद के उपाय, जिनमे द्वैधीभाव तथा सश्रय आ जाते है थक चुके है, नायिका हठ रूप गढ मे सुरक्षित है । यही उपाय 'आसन' के नाम से अभिहित किया जाता है। अब उस पर विजय प्राप्त करने का यही उपाय रह गया है कि 'यान' कर (प्रेमरूपी सुरग लगाकर) उस पर अधिकार कर लिया जाय । इस प्रकार एक ही दोहे मे बिहारी ने सभी उपायो का निर्देश कर दिया है ।

ऊपर राजनीतिज्ञता के उदाहरण दिये गए है । इसके अतिरिक्त कतिपय दोहो मे इनके युद्ध-विद्या-सम्बन्धी ज्ञान का भी पता चलता है । युद्ध के लिए जब सेनाएँ प्रस्थान करती है तब उसके आगे चलने के लिए सेना की छोटी टुकडी भेजी जाती है जिससे मुख्य सेना सुरक्षित रहे और उस सेना की आड से शत्रु पर प्रहार करे । सेना के इस भाग को 'हरौल' कहते हे । जब शत्रु-पक्ष की मुख्य सेनाएँ सबल होती है तब हरौल की उपेक्षा कर तत्काल मुख्य सेना पर जा पहुँचती है । बिहारी ने घूँघट के पतले परदे को हरौल माना है और नायक-नायिका के नेत्रो को मुख्य सेना । जिस प्रकार मुख्य सेना हरौल का अतिक्रमण कर शत्रु की मुख्य सेना पर जा टूटती है उसी प्रकार घूँघट पट का

अतिक्रमण कर दोनो के नेत्र जा मिले—

जुरे दुहुन के दृग झमकि रुके न झीनै चीर ।
हलुकी फौज हरौल ज्यौं परे गोल पर भीर ।।

एक दूसरे और दोहे से भी विहारी की युद्ध-विद्या का ज्ञान प्रकट होता है—

लखि दौरत प्रिय-कर-कटकु वास-छुड़ावन-काज ।
वरुनी-वन गाढ़ै दृगनु रही गुढौ करि लाज ।।

जिस प्रकार जव शत्रु सेना आवास छुडाने का आक्रमण कर रही हो तव कोई दुर्वल प्रतिपक्षी वन मे वने हुए अपने किसी निवास-स्थान मे छिपा रहता है उसी प्रकार जव प्रियतम का हाथ-रूपी सैन्यदल नायिका के वास (वस्त्र) को छुडाने के लिए दौडने लगा तव नायिका की लज्जा वरुणी-रूपी जगल मे नेत्र-रूपी गुप्त आवासस्थान मे छिप रही ।

विज्ञान

एक-दो दोहो मे विहारी के वैज्ञानिक ज्ञान की भी छाया पायी जाती है। जव किसी औपधि का अर्क खीचना होता है तव उसे पहले पानी मे डुवा देते है, फिर किसी वर्तन मे भरकर उसे आग पर चढा देते है और नीलाभ यन्त्र से उसका सम्वन्ध एक दूसरे वर्नन से कर देते है। औषधि पात्र का जल औपधि का सार लेकर भाप वनकर उडता है और नीलाभ यन्त्र के द्वारा दूसरे वर्तन मे पहुँचकर पानी वनकर टपक जाता है। विहारी ने इसी क्रिया का उपादान आँसुओ के वर्णन के प्रसग मे किया है—

तच्यौ आँच अब विरह की, रह्यौ प्रेम-रस भीजि ।
नैननु कैं मग जलु वहै हियौ पसीजि पसीजि ।।

हृदय प्रेम-रस मे भीगा हुआ है और वियोगाग्नि से सन्तप्त किया गया है। इस प्रकार हृदय नेत्रो के मार्ग से पसीज-पसीजकर पानी के रूप मे वहता है ।

दो-एक दोहो से रगो के समिश्रण के भी ज्ञान का पता चलता है। प्रथम दोहे मे ही पीले और नीले रग को मिलाकर हरे रग वन जाने की वात कही गई है। एक दूसरे दोहे मे धूप-छाँह का वर्णन है—

छूटी न सिसुता की झलक, झलक्यौ जोबनु अंग ।
दीपति देह दुहुन मिलि दिपति ताफता-रंग ।।

दो दोहो मे गणित के ज्ञान की छाया पायी जाती है । एक दोहे मे विन्दु से दस गुने अक हो जाने की वात कही गई और दूसरे दोहे से टेढी वकारी लगाने से दस का रुपया हो जाने की ओर सकेत किया गया है ।

कर्मकाण्ड

दो-एक दोहो पर विहारी के कर्मकाण्डविषयक ज्ञान की भी छाप पायी जाती है। विहारी ने निम्नलिखित दोहे मे यज्ञ की ओर सकेत किया है—

होमति सुखु, करि कामना तुमहिं मिलन की, लाल ।
ज्वालमुखी सी जरति लखि लगनि-अगन की ज्वाल ।।

इसी प्रकार एक दूसरे दोहे मे पाणिग्रहण सस्कार की छाया अधिगत होती है—

स्वेद सलिलु, रोमाच कुसु गहि दुलही अरु नाथ ।
दियौ हियौ संग हाथ कै हथलेवै ही हाथ ।।

कामशास्त्र

कामशास्त्र का ज्ञान भी शास्त्रीय ज्ञान मे ही आता है। बिहारी का दन्त-क्षत, नख-क्षत, विपरीत रति इत्यादि का वर्णन कामशास्त्रीय ज्ञान के अन्दर सन्निविष्ट हो जाता है। निम्नलिखित दोहे मे कामशास्त्र-सम्बन्धी अनेक आसनो की छाया लक्षित होती है—

पलनु पीक, अजनु अधर, धरै महावरु माल ।
आज मिले सुभली करी भले बने हौ लाल ।।

अन्य शास्त्र

इसी प्रकार प्रेम-दर्शन की अनेक चेष्टाएँ भी कामशास्त्रीय पद्धति पर गणित की गई हैं और इनसे विहारी का कामसूत्रो का अध्ययन प्रकट होता है। इसके अतिरिक्त कतिपय दोहो से प्रतीत होता है कि विहारी अश्वशास्त्र तथा रत्न-परीक्षा इत्यादि विपयो मे भी रुचि रखते थे। इन दोहो से यह तो सिद्ध नही होता कि बिहारी इन विषयो मे पूर्ण निष्णात थे और उन्होने इन विपयो का गम्भीर अध्ययन किया था, किन्तु इनसे इतना अवश्य सिद्ध होता है कि विहारी की रुचि अनेक शास्त्रो मे थी और अध्ययनशीलता जो कि कवि का एक अपेक्षित गुण है इनमे विद्यमान थी। साथ ही कवि ने किसी भी दोहे मे किसी ऐसे गम्भीर सिद्धान्त के विश्लेषण करने की चेष्टा नही की जिससे अर्थवोध मे दुरुहता उत्पन्न होती और रसास्वादन व्याहत हो जाता।

विहारी का ऐतिह्य ज्ञान

ऐतिह्य ज्ञान को हम तीन भागो मे विभक्त कर सकते है—

(१) महाभारत का ज्ञान, (२) रामायण का ज्ञान और (३) पौराणिक कथाओ का ज्ञान। राजशेखर तथा क्षेमेन्द्र ने अपने ग्रन्थो मे इस प्रकार के ऐतिह्य ज्ञान की आवश्यकता पर वल दिया है। विहारी के दोहो मे तीनो प्रकार के ज्ञान की छाया पायी जाती है। द्रौपदी का चीर-हरण महाभारत की प्रसिद्ध कथा है। बिहारी ने अवधि को दु शासन माना है और विरह को द्रौपदी का चीर। कोई नायिका सखी से कह रही है कि अवधि-रूपी दु शासन विरह-रूपी द्रौपदी के चीर को खीचता जा रहा है, उसे अन्त नही मिलता—

रह्यौ ऐंचि, अन्तु न लहै अवधि-दुसासनु बीरु ।
आली, बाढतु विरह ज्यौं पाचाली कौ चीरु ।।

महाभारत की दूसरी कथा है कि दुर्योधन जल-स्तम्भन की विद्या जानता था। अन्त मे जब उसके वर्ग के सभी वीर मारे गये तव वह जल मे जाकर छिपा था। इस कथा की निम्नलिखित दोहे मे छाया विद्यमान है—

विरह-विथा-जल परस बिनु बसियतु मो-मन-ताल ।
कछु जानत जल-थम्भ विधि दुर्योधन लौं, लाल ।।

दर्योधन जलमे वैठा था किन्तु जल-स्तम्भ की विद्या के प्रभाव से स्पर्श जल से नही

होता था । इसी प्रकार नायक-नायिका के हृदय मे विरह-रूपी दुर्योधन निवास करता है । किन्तु आश्चर्य है कि उसका स्पर्श किसी तरह से नही हो पाता । इसी प्रकार दुर्योधन को वरदान था कि जब उसे हर्ष और शोक समान मात्रा मे होगा तभी उसकी मृत्यु होगी । अश्वत्थामा ने जब उसके वंश के अन्तिम बीज पाण्डवो के पाँच पुत्रो के सिर काट लिये तब उसे हर्ष और शोक समान मात्रा मे हुआ था । इसका वर्णन निम्नलिखित दोहे मे किया गया है—

पिय-बिछुरन कौ दुसहु दुखु हरषु जात प्यौसार ।
दुरजोधन लौं देखियति तजति प्रान इहि बार ।।

दो-एक दोहो मे रामायण के ज्ञान की भी छाया पायी जाती है । कहा जाता है कि जब हनुमान समुद्र कूद रहे थे तब समुद्र में रहनेवाली राक्षसी ने हनुमान कीछाया पकड ली जिससे हनुमान रुक गये और कठिनाई से पार जा सके। बिहारी ने ससार-सागर को पार करने मे स्त्री को छाया-ग्राहिणी राक्षसी माना है जिसके कारण सरलता-पूर्वक कोई भी भवसागर के पार नही जा सकता—

या भव-पारावार कौ उलघि पार को जाइ ।
तिय-छवि-छायाग्राहिनी ग्रहै बीच ही आइ ।।

एक दोहे मे सीता की अग्नि-परीक्षा की भी छाया पायी जाती है—

बसि सकोच-दसबदन-बस, साँचु दिखावति बाल ।
सिय लौं सोधति तिय तनहि लगनि-अगनि की ज्वाल ।।

निम्नलिखित दोहे मे जटायु के उद्धार का वर्णन किया गया है—

कौन भाँति रहिहै बिरदु अब देखिवी, मुरारि ।
बीधे मोसैं आइ कैं गीधे गीधहि तारि ।।

दूसरी पौराणिक गाथाओ का भी समावेश 'बिहारी सतसई' मे पर्याप्त रूप मे पाया जाता है । मदन-दहन की प्रसिद्ध पौराणिक कथा की छाया निम्नलिखित दोहे मे पायी जाती है—

मोर-मुकुट की चन्द्रिकनु यौ राजत नदनंद ।
मनु ससिसेखर की अकस किय सेखर सत चद ।।

इसी प्रकार वामनावतार की कथा की छाया बिहारी के निम्न दोहे मे पायी जाती हे—

छ्वै छिगुनी पहुँचौ गिलत अति दीनता दिखाइ ।
बलि बावन कौ ब्यौंतु सुनि को, बलि, तुम्हैं पत्याइ ।।

गज-ग्राह की कथा की ओर भी एक दोहे मे सकेत किया गया है—

नीकी दई अनाकनी, फीकी परी गुहारि ।
तज्यौ मनौ तारन-बिरदु बारक बारनु तारि ।।

एक दोहे मे शकरजी के मस्तक पर चन्द्र और विष्णु भगवान् के वक्ष स्थल पर लक्ष्मीजी के निवास की पौराणिक कल्पना का सुन्दरता के साथ उपादान किया गया है—

प्रनप्रिया हिय मे बसै, नखरेखा ससि भाल।
भलौ दिखायौ आइ यह हरि-हर-रूप, रसाल ।।

पुराणो मे चन्द्र से बुध की उत्पत्ति मानी गई है। बिहारी ने निम्नलिखित दोहे मे इस पौराणिक कथा के आधार पर सुन्दर कल्पना की है—

तिय मुख लखि हीरा-जरी बेंदी बढ़ै विनोद।
सुत-सनेह मानौ लियें बिधु पूरन बुध गोद।।

लोक-वृत्त का ज्ञान

कवि को शास्त्रीय ज्ञान के अतिरिक्त लोक का भी ज्ञान होना चाहिए। 'बिहारी सतसई' को देखने से अवगत होता है कि इन्हे अनेक प्रकार के आमोद-प्रमोद का भी ज्ञान था।

बिहारी कृषि के कार्यो को भी बहुत ध्यान से देखते थे। निम्नलिखित दोहा इसका उदाहरण है—

सनु सूक्यौ बीत्यौ बनौ, ऊखौ लई उखारि।
अरी हरी अरहर अजौं, धरि धरहरि जिय नारि ।।

बिहारी ने इस दोहे मे समाप्त होनेवाली फसलो का क्रमश उपादान किया है। पहले तो सन काटा जाता है, उसके बाद कपास का नम्बर आता है, फिर ईख समाप्त होनी है और उसके बाद अरहर काटी जाती है। कपास जब तैयार हो जाती है तब उसकी डोडियो को चुन लिया जाता है। इसका भी बिहारी के निम्नलिखित दोहे मे वर्णन है—

फिरि फिरि बिलखी ह्वै लखति, फिरि फिर लेति उसासु।
साईं ! सिर-कच-सेत लौं बीत्यौ चुनति कपासु ।।

भौरा आक के फूल पर नही बैठता। इस तथ्य की ओर भी बिहारी ने सकेत किया है—

खरी पातरी कान की, कौन बहाऊ बानि।
आक कली न रली करै, अली अली जिन जानि ।।

इसी प्रकार भौरा चम्पा के फूल पर नही बैठता। इस ओर भी बिहारी ने सकेत किया है—

जटित नीलमनि जगमगति सीक सुहाई नाक।
मनौ अली चम्पक कली, बसि रस लेत निसाक ।।

सेहुँड मे यह विशेपता होती है कि उसके दूध से किसी कागज़ पर पत्र लिख दिया जाय तो सूख जाने के बाद वे अक्षर दिखलाई नही देते। यदि वह कागज कही भेज दिया जाय तो कोई उसे कोरा कागज समझकर फेक देगा, किन्तु उसी कागज को कुछ आँच दिखला दी जाय तो वे समस्त अक्षर उभर आते है। हृदय एक कागज़ है जिस पर सेहुँड के दूध से लिखे हुए अक्षरो की भाँति प्रेम विद्यमान है और लक्षित नही किया जा सकता। विरह मे तपकर वही हृदय-रूपी पत्र प्रेम-रूपी सेहुँड के अको को प्रकट करने लगता है—

छतौ नेहु कागरु हियैं, भई लखाइ न टाँकु।
बिरह तचै उघर्‌यौ सु अब सेंहुड कैसो आँकु ॥

इसी प्रकार सूरन का शाक यदि कच्चा रह जाता है तो मुख मे किसकिसाहट पैदा किया करता है। इस तथ्य के द्वारा बिहारीने सर्वगुण-सम्पन्न नायक की कच्चाई से दुःख होने की बात कही है—

ललन सलोने अरु रहे अति सनेह सौं पागि।
तनक कचाई देत दुख सूरन लौं मुँहु लागि ॥

एक सामान्य विश्वास था कि कभी-कभी तेल इत्यादि के रहने पर भी दीपक की लौ मन्द पडने लगती है। उस समय समझा जाता है कि दीपक किसी पाहुने के आगमन की सूचना दे रहा है। वहाँ बैठे हुए लोग एक-एक विदेशी प्रेमी का नाम लेते है और जिसके नाम लेने पर दीपक भभककर जल उठता है लोग समझते है कि वही व्यक्ति आनेवाला है। बिहारी ने अप्रस्तुत-योजना के निमित्त इस विश्वास का उपादान नायिका की कृशता और नायक का नाम सुनकर एकदम भभक उठने के लिए किया है—

नैंक न जानी परति, यौं पर्‌यौ बिरह तनु छामु।
उठति दियै लौं नादि, हरि, लियैं तिहारौ नामु ॥

बिहारी की शास्त्रीय दृष्टि

विजयेन्द्र स्नातक

बिहारी ने स्वतन्त्र रूप से काव्यशास्त्र-सम्बन्धी लक्षणग्रथ नही लिखा। सतसई उनका लक्ष्यग्रथ है। इस लक्ष्यग्रथ के पर्यवेक्षण से ही उनकी शास्त्रीय दृष्टि का बोध हो सकता है। सतसई के अध्ययन से यह स्पष्ट है कि बिहारी ने रीतिकाव्यो का विधिवत् परिशीलन करके सतसई का निर्माण किया था, अत लक्ष्यग्रथ होने पर भी कवि के अन्तर्मन मे लक्षणो के अनुरूप दोहे रचने की भावना सतत बनी रही है। दूसरे शब्दो मे यह कहना भी अयुक्त न होगा कि लक्षणो के अनुरूप लक्ष्य प्रस्तुत करना ही सतसई का ध्येय था। जिस काल मे बिहारी ने सतसई लिखी वह सस्कृत और हिन्दी-काव्य साहित्य मे लक्षणग्रथो के उत्कर्ष का समय था। हिन्दी मे तो कृपाराम, केशव, चितामणि आदि लक्षणग्रथकार हो चुके थे और सस्कृत की विशाल परम्परा के अन्तिम रससिद्ध कवि और आचार्य पडितराज जगन्नाथ भी उसी समय शास्त्र लिखने मे व्यस्त थे। पडितराज जगन्नाथ से बिहारी का व्यक्तिगत परिचय था। अत उनसे भी रीतिबद्ध काव्य-रचना की दिशा मे बिहारी ने अवश्य प्रेरणा ग्रहण की होगी। 'बिहारी सतसई' का समस्त रचना-विधान रीतिमुक्त न होकर आद्योपान्त रीतिबद्ध है—रीति की आत्मा ग्रथ मे इस तरह अनुस्यूत है कि बिहारी को रीतिकवियो मे प्रमुख स्थान मिला है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इसी आधार पर बिहारी को प्रमुख रीतिकवियो मे रखा है।

बिहारी का काव्यशास्त्र-विषयक दृष्टिकोण समझने के लिए सस्कृत के सुप्रसिद्ध अलकार, रस और ध्वनि सप्रदायो को ध्यान मे रखना होगा और इन्ही के आधार पर बिहारी के दोहो मे उपलब्ध शास्त्रीय सकेतो की परीक्षा करनी होगी।

अलकार सप्रदाय का प्रारम्भ सस्कृत साहित्य मे व्यापक अर्थ मे हुआ परन्तु परवर्ती काल मे अलकार का क्षेत्र सीमित होता गया और रस तथा ध्वनि-विषयक तत्वो को अलकार से पृथक् करके देखा जाने लगा। परिणाम यह हुआ कि अलकार का काव्य मे ही वही स्थान रह गया जो शरीर के भूषण कटक, कुण्डल आदि का है। इसी कारण मम्मट ने अलकारो को काव्य का अनिवार्य तत्त्व नही माना। अलकारो की दृष्टि

से 'बिहारी-सतसई' पर विचार करे तो यह निष्कर्ष सरलता से निकाला जा सकता है कि बिहारी जैसे काव्य-शिल्पी कवि की कविता निरलकृत नही हो सकती किन्तु अलकारो का वर्णन उनका प्रधान ध्येय न होने से उसमे सभी प्रमुख अलकारो का भेद-प्रभेद-पूर्वक वर्णन नही मिलता। अलकारो के सम्बन्ध मे उन्होने अपना शास्त्रीय मत भी सतसई मे स्पष्ट व्यक्त किया है—

करत मलिन आछी छबिहि हरत जु सहज बिकास।
अंगराग अंगनु लगै, ज्यो आरसी उसास।।

स्वाभाविक सौन्दर्य को ऊपर से लादे हुए प्रसाधनो से कभी-कभी गहरी ठेस पहुँचती है। आभूषण सहज भूषण न रहकर अरुचिकर भी प्रतीत होने लगते है—

पहिरि न भूषण कनक के, कहि आवत इहि हेत।
दर्पण कैसे गोरचे, देह दिखाई देत।।

अलकार का प्रयोजन यही है कि वह प्रतीयमान अर्थ मे सौन्दर्य का आधान करे। यदि अलकार अर्थसौष्ठव या अर्थगौरव के सहायक नही होते तो उनकी उपयोगिता नष्ट हो जाती है—

जोवत परत समान दुति, कनक कनक से गात।
भूषन कर करकस लगत, परसि पिछाने जात।।

उपर्युक्त दोहो से कवि का आशय स्पष्ट है कि वह अलकारो को वही तक उपयोगी मानता है जहाँ तक वे प्रतीयमान अर्थ (रसध्वनि) मे विशेपता सपादन करते है। अलकारवादियो के समान ऊपर से लादे हुए अलकार व्यर्थ है। अत बिहारी का दृष्टिकोण अलकार सप्रदाय के मेल मे नही बैठता और वे इस सप्रदाय से वाहर हो जाते है। उन्होने अलकार को काव्य का जीवित स्वीकार नही किया।

बिहारी को रसवादी स्वीकार करने वाले विद्वान् सतसई के दोहो मे रसयोजना पर विशेष बल देते हे और सतसई के अन्तिम दोहे मे, 'करी विहारी सतसई, भरी अनेक सवाद' मे 'सवाद' शब्द का 'रसास्वादन' अर्थ करके यह सिद्ध करना चाहते है कि विहारी रसास्वादन कराने के निमित्त ही सतसई की रचना मे लीन हुए थे। 'तत्रीनाद कवित्त रस, सरस राग रति रग' मे भी 'रस' के प्राधान्य की ओर इगित कर के बिहारी को रस सप्रदाय के अन्तर्गत रखने का प्रयत्न हुआ है। यदि रसध्वनि को काव्य की आत्मा मानकर बिहारी के काव्य मे रसध्वनि का सधान ही मुख्य माना जाय तो ध्वनि के माध्यम से बिहारी रस-सप्रदाय का स्पर्श अवश्य करते है। परन्तु रस उनका इष्ट साध्य नही हे। यदि उनके लक्ष्य (दोहो) की परीक्षा की जाए तो यह तथ्य और अधिक स्पष्ट हो जाएगा कि रसध्वनि के उदाहरणो की भरमार होने पर भी वे रस-सप्रदाय के पोपक न होकर ध्वनि-सप्रदाय के ही अनुगामी है। रसध्वनि, अलकारध्वनि और वस्तु-ध्वनि को ग्रहण करके विहारी ने सकेतित अर्थ को ही प्रधानता दी है अत उनकी अभिरुचि ध्वनि को अपने काव्य मे प्रधानता देने की ओर ही रही है, रस की ओर नही।

ध्वनि-सप्रदाय के सिद्धान्तो की कसौटी पर सतसई के दोहो को कसने से यह वात सिद्ध हो जाती है कि बिहारी के शृगार विपयक दोहो मे भी ध्वन्यात्मकता ही प्रधान

है। अलकार या रस का प्रतिपादन उनका अन्तिम ध्येय नही है। ध्वनि के भेदो मे अविवक्षित वाच्यध्वनि प्रथम है। अभिधेयार्थ जान लेने पर भी तात्पर्यानुपत्ति होने पर शब्द से सम्बद्ध जिस दूसरे अर्थ की प्रतीति होती है, वह लक्ष्यार्थ कहलाता है, अभिधेयार्थ और लक्ष्यार्थ से भिन्न प्रयोजन की प्रतीति व्यजना वृत्ति के आधार पर होती है। जब व्यजना वृत्ति से प्रतीत होनेवाले अर्थ मे सौन्दर्य का पर्यवसान हो तो उसे अविवक्षित वाच्यध्वनि के नाम से अभिहित किया जाता है। इसके प्रमुख चार भेद है। विहारी ने अविवक्षित वाच्यध्वनि के सभी भेदो के सुन्दर उदाहरण सतसई मे प्रस्तुत किये है—

होमति सुखु करि कामना, तुर्मांहि मिलन की लाल।
ज्वालमुखि सी जरति लखि, लगनि अगनि की ज्वाल॥

इस दोहे मे 'सुख का होमना' अपने वाच्यार्थ मे बाधित है। लक्ष्यार्थ हुआ कि नायिका नायक के विरह मे दु खी रहती है, उसका सुख समाप्त हो गया है, व्यग्यार्थ हुआ कि नायिका के सुख उसी प्रकार भस्म हो गए है जैसे अग्नि मे पडने पर आहुति भस्म हो जाती है। यहाँ शब्दगत अत्यन्त तिरस्कृत ध्वनि है। इस ध्वनि के पचासो उदाहरण सतसई मे भरे पडे है। विहारी का निम्नलिखित प्रसिद्ध दोहा ध्वनि का बहुत सुन्दर उदाहरण है।

तन्त्रीनाद कवित रस, सरस राग रति रग।
अनबूडे बूडे तरे, जे बूडे सब अग॥

डूबना और तरना जलाशय आदि मे ही सभव है, कवित्तरस या तन्त्रीनाद जैसे अमूर्त तत्त्व मे नही। अत इनका अर्थ वाधित होकर रसास्वादन का बोध करता है। वाच्यार्थ मे अत्यन्त तिरस्कृत होनेवाली ध्वनि विहारी मे अत्यधिक मात्रा मे दृष्टिगत होती है—

बेसरि मोती धनि तुही, को पूछे कुल जाति।
निधरक ह्वै पीबो करै, तीय अधर दिन राति॥

यहाँ मानवगत गुण, कर्म, स्वभाव का अचेतन वस्तु (वेसरि मोती) के सम्बन्ध मे वर्णन करके अत्यत तिरस्कृत वाच्यध्वनि का उदाहरण प्रस्तुत किया गया है।

ध्वनि का दूसरा प्रमुख भेद है विवक्षितान्यपर वाच्यध्वनि। इसके रस, ध्वनि और अलकार, तीन भेद होते है। सलक्ष्यक्रम और असलक्ष्यक्रम भेद से इनके अपार भेदो का शास्त्रो मे परिगणन किया गया है। इस ध्वनिभेद का विहारी ने पूर्ण चमत्कार के साथ प्रयोग किया है। ऊहात्मक शैली से नायिका की विरहजन्य दशा के वर्णन मे यह ध्वनि अपने विविध भेद-प्रभेद सहित सतसई मे छायी हुई है। नायिका की कायिक चेष्टाओ से नायक को अर्थ-बोध करानेवाला ध्वन्यात्मक दोहा देखिए—

हरखिन बोली लखि ललनु, निरसि अमिलु सग साथ।
आँखिन ही में हसि धरयौ, सीस हिये धरि हाथ॥

यहाँ नायिका की कायिक अभिव्यक्तियो से गूढाशय का सकेत है। आँखो मे हँसकर व्यक्त किया गया कि तुम्हारे दर्शन से मुझे हर्ष हुआ। हृदय पर हाथ रखने से प्रकट किया कि तुम मेरे हृदय मे आसीन हो। सिर पर हाथ रखने का अभिप्राय है कि मुझे तुम्हारी कामना शिरोधार्य है किन्तु उसकी पूर्ति भाग्याधीन है। इन आगिक

चेष्टाओ मे ध्वनिमूलक व्यजना ही रसवोध कराती है। जव तक ध्वन्यात्मक आशय समझ मे नही आएगा, रसप्रतीति का प्रश्न ही नही उठता।

असलक्ष्यक्रम व्यग्य या रसध्वनि की दृष्टि से भी 'विहारी-सतसई' की सफलता असदिग्ध है। ध्वनि के जितने प्रौढ, परिष्कृत और प्राजल उदाहरण बिहारी के काव्य मे है हिन्दी के किसी अन्य कवि मे नही है। यथार्थ मे विहारी का काव्य मूलत ध्वनि-काव्य ही है।

'विहारी-सतसई' के अधिकाग टीकाकारो ने सतसई को नायिकाभेद का ही ग्रथ ठहराया है। नायिकाओ के वर्गीकृत रूप भी सतसई मे स्थिर किये गए है और लक्षणग्रथ के अभाव मे भी उसे लक्षणपरक सिद्ध करने की चेष्टा हुई है। इसमे कोई सन्देह नही कि बिहारी ने नायिकाभेद को समझकर सतसई की रचना की थी, किन्तु नायिकाभेद का ग्रथ सतसई नही है।

विहारी ने नायिकाभेद का अन्तरग रहस्य खूव समझकर अपने दोहो मे उसका चित्रण किया। स्वकीया के प्रेम वर्णन मे उसके रूप, गुण, शील, स्वभाव आदि के वर्णन मे विहारी ने अद्‌भुत कौगल का परिचय दिया है। यौवन की उद्दाम प्रवृत्तियो से प्रेरित प्रेमी युवक की चित्तवृत्ति स्वकीया प्रेम मे किस प्रकार आवद्ध हो जाती है और लोक-परलोक से विमुख होकर कैसे वह विलास-लीला-रत हो जाता है, यह देखना हो तो विहारी के स्वकीया मुग्धा नायिका के प्रेम का वर्णन पढना चाहिए।

शास्त्र मे परकीया नायिका के कन्या और प्रौढा दो भेद माने गए हैं। विहारी ने दोनो रूपो का वर्णन किया है। कन्या प्रेम का वर्णन निम्नलिखित दोहे मे देखा जा सकता है—

दोऊ चोर मिहीचिनी, खेलुन खेलि अघात।
दुरत हियैं लपटाइकैं, छुवत हियैं लपटात॥

वयक्रम आदि के भेद से ज्येष्ठा, कनिष्ठा, अवस्थाभेद से स्वाधीनपतिका, खडिता, अभिसारिका आदि आठ भेदो का पूर्ण वर्णन विहारी ने किया है। दगा (चित्तवृत्ति) भेद से अन्यसभोगदु खिता, गर्विता, मानवती का भी वर्णन सतसई मे है। नायिका की सहायक सखी, दूती आदि का भी विहारी ने वर्णन किया है। दूती के व्यापक कार्यक्षेत्र और कठिन कार्य को सामने रखकर विहारी ने उसका मनोवैज्ञानिक वर्णन करने मे अपनी प्रतिभा का परिचय दिया है।

नायिकाभेद के साथ नायक-भेद-वर्णन का भी परम्परा से निर्वाह होता चला आ रहा है, यद्यपि नायक के नायिकाओ की तरह अनेक भेद नही किये गए। चार भेदो मे ही नायक को सीमित कर दिया गया है। विहारी ने विरुद्ध, अनुकूल, गठ और धूर्त नायको का चित्रण अपने काव्य मे किया है।

नायिकाभेद के अन्तर्गत नायिकाओ के अलकार, नखशिख, लीलाविलास, ऋतु-वर्णन, वारहमासा आदि का विस्तार से वर्णन किया गया है। शृगार का आलम्वन होने के कारण नायिकाभेद का सविस्तार वर्णन विहारी के लिए अनिवार्य था। नायिका-भेद को प्रमुख स्थान देना विहारी का ध्येय नही था। अत सतसई नायिका-भेद का

ग्रथ नही माना जा सकता ।

विहारी के काव्य की आत्मा शृगार है । शृगार की व्यजना ध्वनि के माध्यम से हुई है । शृगार-वर्णन के लिए सयोग तथा विप्रलभ दोनो पक्ष विहारी ने स्वीकार किए है। सयोगपक्ष के चित्रण मे विहारी ने अपनी मौलिक उद्भावनाओ का प्रयोग कर सयोग को आनन्द की चरम स्थिति पर पहुँचा दिया है । निम्नाकित उदाहरणो मे विहारी का यह कौशल देखा जा सकता है—

बतरस लालच लाल की, मुरली धरी लुकाय ।
सौंह करै, भौंहनि हँसे, दैन कहै, नटि जाय ।।
उडति गुडी लखि लाल की, अगना अगना माँह ।
बौरी लौं दौरी फिरत, छुवति छबीली छाँह ।।
प्रीतम दृग मीचत प्रिया, पानि परस सुख पाय ।
जानि पिछानि अजान लौं, नेक न होत लखाय ।।

मार्मिक उक्ति-व्यजक दोहा देखिए—

बाल कहा लाली भई, लोचन कोयन माँह ।
लाल तिहारे दृगन की, परी दृगन में छाँह ।।

विरह-वर्णन मे तो ऊहात्मक शैली के आतिशय्य ने विहारी की विरह-व्यजनाओ को कही-कही औचित्य की सीमा से वाहर कर दिया है । विरहसतप्त नायिका की दशा देखिए—

इत आवति चलि जाति उत, चली छ सातक हाथ ।
चढी हिंडौरे सी रहै, लगी उसासन साथ ।।
सीरें जतनन सिसिर ऋतु, सहि बिरहिन तन ताप ।
बसिबै को ग्रीषम दिनन, पर्यो परोसिन पाप ।।

कही-कही स्वाभाविक रूप से भी विरह-ताप से कृश नायिका का वर्णन विहारी ने किया है—

करके मीडे कुसुम लौं, गई बिरह कुम्हिलाय ।
सदा समीपिनि सखिन हूँ, नीठि पिछानी जाय ।।

विहारी रीतिपरम्परा का निर्वाह करने का ध्यान रखते थे, अत परम्परा-स्वीकृत गूढाशय को अन्तर्मन मे रखकर उसी पृष्ठभूमि पर दोहा रचा गया है । जव तक परम्परा का पूरा बोध न हो, दोहे का अर्थ अवगत नही हो सकता—

ढीठि परोसिन ईठ ह्वै, कहै जु गहे समान ।
सबै सदेसे कहि कह्यौं, मुसकाहट में मान ।।

धृष्ट पडोसिन के सदेश को नायक तथा पहुँचानेवाली नायिका का मान-वर्णन रीतिपरम्परा की शृखला से अवगत हुए विना नही समझा जा सकता ।

विहारी पर रीतिपरम्परा का इतना गहरा प्रभाव था कि प्रेम की सहज व्यजना करनेवाले अकृत्रिम भावो को भी उन्होने ऊहा और अतिशयोक्ति से आवृत कर दिया है । प्रेम का स्वाभाविक रूप ऊहात्मक शैली मे सामने नही आने पाया ।

श्रृगार रस के अतिरिक्त अन्य भावो को भी बिहारी ने अपनाया है। यो तो सचारियो तथा सात्विक भावो की दृष्टि से प्राय सभी के उदाहरण मिल सकते हैं, किंतु यहाँ प्रमुख भावो की ओर ही सकेत करना पर्याप्त होगा।

बिहारी भक्त नही थे। भक्तिभाव का उनके जीवन से रसात्मक तादात्म्य रहा हो, इसमे भी सन्देह है, किन्तु निर्वेद और शम का वर्णन सतसई मे इन्होने किया है। भक्ति को सामान्य रूप मे ही बिहारी ने स्वीकार किया है, किसी दार्शनिक मतवाद या साम्प्रदायिक आधार पर ग्रहण नही किया। बिहारी जैसे सासारिक कवि के काव्य को साप्रदायिक दृष्टि से किसी मतवाद मे बाँधना कवि के साथ अन्याय करना है। बिहारी तत्त्वज्ञानी या दार्शनिक न होने पर भी तत्त्वज्ञान की बात कह सकते है। उसी तत्त्वज्ञान मे निर्वेद समाया रहता है।

भजन कह्यौ ताते भज्यो, भज्यो न एकहु बार।
दूरि भजन जाते कह्यो, सो तैं भज्यो गँवार॥

वैराग्य-भावना का द्योतक, स्त्री-रूप के आकर्षण से दूर हटाने वाला बिहारी का प्रसिद्ध दोहा है—

या भव पारावार को, उलघि पार को जाय।
तिय छबि छाया ग्राहिनी, गहै बीच ही आय॥

भगवन्नामस्मरण के लिए सुन्दर उक्ति देखिए—

दीरघ साँस न लेहि दुख, सुख साई नहिं भूलि।
दई दई क्यो करत है, दई दई सु कबूलि॥

दैन्य-वर्णन देखिए—

हरि कीजति तुमसो यहै, बिनती बार हजार।
जेहि तेहि भांति डरयौ रह्यौ परयौ रहौ दरबार॥

बिहारी की अन्योक्तियो और सूक्तियो मे जीवन के अनुभूत सत्यो का बडी सजीव भाषा मे वर्णन हुआ है। कवि ने अन्योक्ति के व्याज मे एक ओर कृपण, मूर्ख, अविवेकी, स्वार्थी, कपटी, दम्भी व्यक्तियो को प्रबोधा है तो दूसरी ओर विद्वान्, धैर्य-शाली, चतुर, प्रेमी, दुर्भाग्यपीडित व्यक्तियो को समझाकर शान्त रहने का उपदेश दिया है। बिहारी की अन्योक्तियाँ हिन्दी साहित्य मे सबसे अधिक टकसाली रही है। उनकी मार्मिकता काव्यत्व के कारण बढ गई है, वे भावव्यजक होने के साथ गहरा प्रभाव उत्पन्न करने मे समर्थ है।

'बिहारी-सतसई' के सम्बन्ध मे प्रारम्भ मे यह भ्रम टीकाकारो द्वारा उत्पन्न किया गया कि सतसई अलकारनिरूपक रीतिग्रथ है। प्रत्येक दोहे की टीका मे अलकार का विवेचन किया गया। यथार्थ मे बिहारी अलकारवादी नही थे किंतु उन्होने स्वच्छन्द रूप मे (रीतिबद्ध ग्रथ रूप मे नही) अलकारो का पर्याप्त प्रयोग किया है। उनके प्रत्येक दोहे मे उक्तिवैचित्र्य के चमत्कार के साथ अलकार की सुन्दर योजना हुई है। चमत्कार-विधान के लिए कही अलकार का सहारा लिया गया है तो कही अलकार को ही चमत्कार के भीतर समाविष्ट कर लिया गया है। कही-कही एक ही दोहे मे अलकारो की ससृष्टि

और सकर ने सौन्दर्यविधान करने मे अनुपम निपुणता का परिचय दिया है। असगति और विरोधाभास की उक्ति देखिए—

> **दृग उरझत टूटत कुटुम्ब, जुरत चतुर चित प्रीति।**
> **परति गाँठि दुरजन हिए, दई नई यह रीति॥**

समासोक्ति अलकार के उदाहरण द्रष्टव्य है

> **सरस कुसुम मँडरातु अलि, न झुकि झपटि लपटातु।**
> **दरसत अति सुकुमार तनु, परसत मन पत्यातु॥**

कोमलागी नायिका पर आसक्त किसी नायक की यह व्यजना भ्रमर के माध्यम से अर्थप्रतीति कराने मे समर्थ है।

सादृश्यमूलक अलकारो मे उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक आदि का प्रयोग अत्यधिक है। रूपक बिहारी का प्रिय अलकार है—

> **अरुण सरोरुह कर चरण, दृग खजन मुख चन्द।**
> **समय पाय सुन्दरि सरद, काहि न करत अनन्द॥**

अपह्नुति—

> **जोन्ह नहीं यह तमु वहे, किए जु जगत निकेतु।**
> **उदै होत ससि कैं भयो, मानहुँ ससहरि सेतु॥**

विहारी ने लक्ष्य द्वारा ही अलकार का स्वरूप स्पष्ट किया है, किंतु इतने सुन्दर और सटीक उदाहरण कम ही मिलते है।

विहारी के काव्य मे सूक्तियो को भी स्थान मिला है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल सूक्ति को विशुद्ध काव्य से पृथक मानते हैं। सूक्तियो मे वर्णन-वैचित्र्य या शब्दवैचित्र्य ही नही है, उनमे काव्य के सभी आवश्यक उपादान है और इसी कारण उनका मार्मिक प्रभाव भी होता है। विहारी की सूक्तियो को हम धार्मिक (वैराग्यपरक), आर्थिक, लौकिक (लोक-व्यवहारपरक), शृगारिक (कामपरक) और प्रशस्तिपरक, इन पाँच भागो मे विभक्त कर सकते है।

विहारी शृगारी कवि थे। उनकी कविता की मूल प्रवृत्ति शृगारी मुक्तक परम्परा के आदर्श पर प्रकृत प्रेम के चित्र अकित करना था। किंतु मुक्तक काव्य के क्षेत्र मे आनेवाले सभी विषयो पर उन्होने आनुषगिक रूप से रचना की है। विहारी ने मुक्तक काव्य की परम्परा को सर्वतोभावेन ग्रहण किया था। अत उसका पूर्ण प्रतिनिधित्व करने के लिए सूक्ति-काव्य को भी स्वीकार किया। मुक्तक काव्य मे रसात्मक मुक्तक के साथ धर्म, नीति, अर्थ, काम-प्रशस्ति, आदि की जो परम्परा चल रही थी, विहारी ने उसकी उपेक्षा नही की। धार्मिक सूक्तियो मे वैराग्य तथा ईश्वरभक्ति के उपदेश की प्रधानता है। आर्थिक सूक्तियो मे सपत्ति के चचल स्वरूप का बोध है तथा कृपण और स्वार्थी धनलोलुप व्यक्तियो के स्वभाव की झाँकी भी मिलती है। लोकव्यवहार को दृष्टि मे रखकर विहारी ने जो सूक्तियाँ लिखी है, उनका आधार अनुभव है जो सभी दृष्टियो से आदर्श है। सूक्तियो मे तथ्योक्तियाँ भी है और अन्योक्तियाँ भी। विहारी की प्रशस्ति-परक सूक्तियो मे अधिक निखार नही है। कदाचित् कवि का हृदय इनमे रम नही पाया।

जयसिह की प्रशस्तियो मे वस्तु वर्णन मात्र है, काव्यत्व नही। दभ और ढोग के प्रति विहारी ने कोमल वाणी मे अनास्था व्यक्त की है। यह धार्मिक सूक्ति के अतर्गत है—

जपमाला छापा तिलक, सरै न एकौ काम।
मन काँचै नाचै वृथा, साँचै राँचै राम॥

आर्थिक सूक्ति—

कनक कनक ते सौ गुनी, मादकता अधिकाय।
उहिं खाए बौराय जग, इहिं पाए बौराय॥

लौकिक—

नर की अरु नल नीर की, गति एकै करि जोय।
जेतो नीचो ह्वै चलै तेतो ऊँचो होय॥
मरन प्यास पिंजरा पर्‌यो, सुआ समै के फेर।
आदर दै दै बोलियत, वायस वलि की वेर॥

सतसई रचना मे विहारी का उद्देश्य कविशिक्षक वनना नही था। शृगार भावना को काव्य के चरमोत्कर्ष पर पहुँचाने की अभिलाषा से उन्होने सतसई का प्रणयन किया और उसमे सफलता पायी। शास्त्रीय परम्परा और शृगार-मुक्तक परम्परा का सुन्दर समन्वय सतसई मे हुआ है। व्यग्य, लाक्षणिक वक्रता, अलकार, नायिकाभेद, नख-शिख, षट्-ऋतु-वणन आदि सभी विपयो को स्वतन्त्र रूप से विहारी ने सतसई मे स्थान दिया, किन्तु लक्षणग्रथ लिखने के पचडे मे वे नही पडे। लक्ष्यग्रथ के रूप मे सतसई का निर्माण किया किन्तु उसका प्रचार लक्षणग्रथो एव पाठ्यग्रन्थो से कही अधिक हुआ। टीकाकारो ने तो विहारी को शृगार का अधिष्ठाता ही बना दिया है।

हिन्दी रीतिपरम्परा मे विहारी ध्वनि सम्प्रदाय के समर्थको मे प्रमुख है। तुलसी के 'रामचरितमानस' के बाद सतसई अपनी रसात्मकता, कलात्मकता, लाक्षणिकता और वचनविदग्धता के कारण रसिको का सबसे अधिक ध्यान आकृष्ट करने मे समर्थ हुई। विहारी अपने युग मे रीति-शृगार के क्षेत्र मे युगप्रवर्तक के रूप मे अवतरित हुए थे। विहारी ने ध्वनिकाव्य को स्वीकार कर रस और अलकार का पूर्ण निर्वाह करते हुए शृगार को प्रत्येक परिष्कृत भूमि पर अवस्थित किया और रीतिबद्ध काव्य मे कवियो को आचार्यो के सामने गौरवपूर्ण स्थान दिलाया।

विहारी के काव्य पर चाहे ध्वनिकाव्य की दृष्टि से विचार करे, चाहे रसपरिपाक की दृष्टि से, चाहे विहारी की अलकार योजना को लें, चाहे नायिकाभेद या नखशिख पर दृष्टिपात करे अथवा अन्योक्ति और सूक्ति का अवगाहन करें, विहारी का काव्य सभी दृष्टियो से अनुपम प्रतीत होता है। विहारी प्रतिभाशाली कवि थे, परन्तु उन्होने काव्याभ्यास के बाद ही कविता रचने की ओर ध्यान दिया था। इसीलिए उनके काव्य मे शक्ति और निपुणता का चरम विकास सभव हुआ।

बिहारी की भक्ति-भावना

हरबशलाल शर्मा

रीतिकाल के सभी शृगारिक कवियो की भक्ति-विषयक उक्तियाँ भी मिलती हैं, उसी प्रकार जिस प्रकार कृष्ण-भक्त कवियो की उद्दाम शृगार-भावना से ओतप्रोत उक्तियाँ प्राप्त है । वात यह है कि कृष्ण-भक्त कवियो के द्वारा स्वीकृत एकान्त साधना जिसमे भक्त भगवान का अन्तरग सखा वन कर उनकी लीलाओ का साक्षात् दर्शन करता था, अलौकिक शृगार-भावना का आश्रय लिये हुए थी जिसके प्रभाव से इन कृष्ण-भक्त कवियो ने अपनी मथुरा तीन लोक से न्यारी वसाई और राधाकृष्ण की विविध शृगार लीलाओ के गीत गाये । भक्ति की स्थली पर जिस अलौकिक प्रेम को उन्होने उतारा था, रीतिकालीन कवियो ने उसे भौतिक विलास के आधार पर टिकाया, क्योकि जहाँगीर और शाहजहाँ जैसे रसिक सम्राट् तथा उनका अनुकरण करने वाले सामन्तो के युग का प्रभाव ही ऐसा था । यह परिवर्तन इतना शीघ्र हुआ कि ये कवि राधाकृष्ण को न तो अपने युग की शृगार-भावना का ही ऐकान्तिक प्रतीक बना सके और न भक्तिकालीन भावना का पूर्ण परित्याग ही कर सके। शताब्दियो से वहकर आती हुई उस धारा का प्रवाह यद्यपि छिन्न-भिन्न हो गया था, फिर भी कही-कही पर वह रस अव भी भरा हुआ था जिसमे रीतिकालीन शृगार-रसधारा वडे वेग से आकर मिली । इस प्रकार मिल-जुलकर जो कुछ वना उसमे भक्तिरस की भी क्षीण-सी रेखा कही-कही दीख ही जाती थी । लौकिक वासनावायु मे श्वास लेने वाले इन कवियो को जव भक्ति-रस-सिक्त मन्द समीरण छूता हुआ निकल जाता तो वे एक क्षण के लिए 'राधिका कन्हाई सुमिरन के वहाने' मे इतने तल्लीन हो जाते कि अपने अगीकृत सूत्र का उन्हे ध्यान तक न रहता । ऐसी दशा मे उनके मुख से जो उक्ति निकलती थी वह भक्ति-रस से ओतप्रोत होती थी, पर दूसरे ही क्षण वे अपनी स्वाभाविक भावभूमि पर उतर आते थे । तात्पर्य यह है कि वे भगवद्विपयक रति के उस सामान्य स्तर पर खडे थे जिस पर ससार का प्रत्येक मनुष्य त्रिविधताप से सतप्त होने पर क्षणभर के लिए जा खडा होता है और भगवान के सामने अपनी भूल की क्षमा के लिए अनुनय-विनय करता हुआ दीख पडता है । भक्तिकालीन

और रीतिकालीन कवियो की भक्तिविषयक उक्तियो मे यही विशेष और सामान्य स्तर का अन्तर है जो युग की परिस्थितियो का फल है। एतद्विपयक रचनाओ मे अन्य अन्तर का आधार भी यही अन्तर है। डॉ० नगेन्द्र का कथन है—

"वास्तव मे यह भक्ति भी उनकी शृगारिकता का ही एक अग थी। जीवन की अतिशय रसिकता से जब ये लोग घवरा उठते होगे तो राधाकृष्ण का यही अनुराग उनके धर्मभीरु मन को आश्वासन देता होगा। इस प्रकार रीतिकालीन भक्ति एक ओर तो सामाजिक कवच और दूसरी ओर मानसिक शरण-भूमि के रूप मे इनकी रक्षा करती थी। तभी तो ये किसी न किसी तरह उसका आँचल पकडे हुए थे। रीतिकाल का कोई भी कवि भक्ति-भावना से हीन नही है—हो ही नही सकता था, क्योकि भक्ति उसके लिए एक मनोवैज्ञानिक आवश्यकता थी। भौतिक रस की उपासना करते हुए भी, उनके विलास-*जर्जर मन मे इतना नैतिक बल नही था कि भक्तिरस मे अनास्था प्रकट करते या उसका* सैद्धान्तिक निपेध करते। इसीलिए रीतिकाल के सामाजिक जीवन और काव्य मे भक्ति का आभास अनिवार्यत वर्तमान है और नायक-नायिका के लिए बार-बार 'हरि' और 'राधिका' शब्दो का प्रयोग किया गया है।"[१]

भक्ति रस मे अनास्था प्रकट करने के लिए तो नैतिक बल की इतनी आवश्यकता नही क्योकि आस्था या अनास्था भाव से सम्बद्ध है। भावावेश मे किसी भी वस्तु अथवा व्यक्ति के प्रति आस्था या अनास्था प्रकट की जा सकती है। भावावेग एक प्रकार की मानसिक निर्बलता ही है जिसके कारण मन का सन्तुलन ठीक नही रहता। नैतिक बल मे हृदय और बुद्धि की शक्ति का सामजस्य होते हुए भी बुद्धि का पलडा कुछ भारी रहता है। इसलिए किसी वस्तु का सैद्धान्तिक प्रत्याख्यान इसके बिना सम्भव नही। रीतिकालीन कवियो ने भक्ति का सैद्धान्तिक निपेध तो नही किया परन्तु शृगारिक भावना के आवेश मे मुक्ति का निषेध अवश्य किया है—

जौ न जुगति पिय मिलन की, धूरि मुकति-मुँह दीन।
जौ लहिए सग सजन तौ, धरक नरक हू की न॥[२]
चमक, तमक, हाँसी, ससक, मसक, झपट लपटानि।
ए जिहिं रति, सो रति मुकति और मुकति अति हानि॥[३]

हाँ, तो रीतिकालीन कवि भक्ति की सामान्य भावभूमि पर खडे थे, इसलिए उनकी भक्तिविषयक उक्तियो के आधार पर किसी सम्प्रदाय अथवा वाद विशेष से उनका पक्का गँठ-जोड कर देना उचित नही। वास्तव मे दार्शनिक सिद्धान्तो का निरूपण बुद्धि के आधार पर होता है पर भक्ति सवा सोलह आने हृदय की वस्तु है। कवि भी हृदय-प्रधान व्यक्ति होता है, इस दृष्टि से वह दार्शनिक की जाति का न होकर भक्त के वश का होता है। अत भक्त कवियो की वीणा से निकले हुए स्वरो मे किसी वाद की ध्वनि सुनने के लिए चौकन्ना होना भ्रान्ति ही कहा जा सकता है। परन्तु जिन्हे बाल की भी खाल निकालने की आदत है वे—

१ रीतिकाव्य की भूमिका, पृ० १८०
२–३ बिहारी सतसई, दोहा ७५–७६

मैं समुझ्यौ निरधार, यह जगु कॉचो कॉच सौ।
एकै रूपु अपार, प्रतिबिम्बित लखियतु जहॉ॥

को देखते ही एकदम विहारी को वडा भारी अद्वैतवादी करार दे दे तो क्या किया जाय ? भक्त-कवि मे कृत्रिमता का सर्वथा अभाव रहता है। अनुभूति की सान्द्रता मे वह कवि-कौशल पर दृष्टि नही जमा पाता। शृगारी कवि भक्ति-विषयक उक्तियो मे भी कवि-कौशल का पूरा ध्यान रखता है। उसकी मानसिक चेतना दोनो ओर कार्य करती है। फलस्वरूप भक्त-कवि जैसी एकतानता उसमे नही मिलती। शृगारी कवि का विरह-वर्णन भी उतना मार्मिक नही होता क्योकि विरह की चरम अनुभूति भक्त-कवि की भॉति उसके हृदय मे नही आती। सयोगवर्णन मे भी उच्छृखलता ही अधिक रहती है। भक्त का भगवान से मिलन होता ही नही, अत वियोग की अनुभूति चिरन्तन होती है जिस तक सामान्य शृगारी कवि नही पहुँच सकता।

भक्त अपनी वात को कबीर की तरह दो-टूक शब्दो मे कहना पसन्द करते है, शृगारी कवि भक्ति-पक्ष मे भी वक्रता नही छोडते। इसी प्रवृत्ति के कारण विहारी भी अपने हृदय की कुटिलता को इसलिए नही छोडते कि 'त्रिभगी' कृष्ण सरल हृदय मे रहने मे असुविधा का अनुभव करेगे। बिहारी कवि थे, भावुक थे और रसिक थे। उनके हृदय मे जव जैसा भाव उद्‌बुद्ध हुआ उन्होने उसे शब्दो के कोमल पाश मे फॉस लिया। उन्हे किसी दार्शनिक मतवाद से मतलब न था और न वे कट्टर साम्प्रदायिक ही थे। वे तो सामान्य व्यक्ति की तरह मत-मतान्तर के वखेडे मे न पडकर सभी देवी-देवताओ और अवतारो को मान्यता देते थे और उन्हे भगवान का स्वरूप समझते थे। 'सर्वदेव नमस्कार केशव प्रति गच्छति' का उनका सिद्धान्त इन शब्दो मे स्पष्ट हो गया है—

अपने-अपने मत लगै, वादि मचावत सोर।
ज्यौं त्यौं सबकौं सेइबौ एकै नन्द-किशोर॥

'एकै नन्द-किशोर' को देखकर विहारी को कृष्ण का ही भक्त मान लेने की भ्रान्ति भी नही होनी चाहिए और न 'यह बरिया नहि और की तू करिया वह सोधि। पाहन नाव चढाइ जिहिं कीने पार पयोधि' के आधार पर उन्हे रामभक्तो की श्रेणी मे गिन लेने की त्रुटि ही होनी चाहिये। यथार्थता तो यह है कि नन्दकिशोर और रघुपति मे साधारण जन की भॉति वे भी कोई अन्तर नही मानते थे। दोनो ही शुद्ध उपलक्षण रूप मे प्रयुक्त हुए है और सर्वशक्तिमान् प्रभु के प्रतीक है। श्री विश्वनाथप्रसाद मिश्र के शब्दो मे—

"वास्तविक वात यह थी कि राम और कृष्ण मे ये लोग कोई भेद नही समझते थे। भगवान की एक सामान्य भावना लेकर ही अपनी उक्तियॉ गढा करते थे। यही कारण है कि राम की लीला कृष्ण के नाम पर और कृष्ण की लीला राम के नाम पर कह देते थे। सूर और तुलसी ने भी ऐसा किया है। उनके वाद तो जितने कवि हुए उन्होने विना किसी भेद-भाव के ही उन लीलाओ को ग्रहण किया। विहारी भी कहते हैं—

कौन भांति रहिहै बिरदु अब देखिबी मुरारि।
बीधे मौसौं आइकै गीधे गीधहि तारि ।।

"गीध को तारने वाले राम थे, मुरारि नही।"[१]

जिस प्रकार राम और कृष्ण मे ये भेद नही मानते उसी प्रकार निर्गुण और सगुण भी इनकी दृष्टि मे भिन्न नही, निर्गुण की व्यापकता का प्रतिपादक बिहारी ने इन शब्दो मे किया है—

दूरि भजत प्रभु पीठि दै गुन विस्तारन काल।
प्रगटत निर्गुण निकट रहि चग रग भूपाल ।।

निर्गुण की निर्गुणता पर ही बिहारी को विस्मय नही, सगुण के गुणो पर रीझकर उनमे बँधने की कामना भी है—

मोहूँ दीजै मोषु, ज्यौं अनेक अधमनु दियौ।
जौ बाँधे ही तोषु, तौ बाँधौ अपनै गुननु ।।

इससे स्पष्ट है कि वे राम, कृष्ण, निर्गुण, सगुण सबको मानते थे, पर साम्प्रदायिक अर्थ मे किसी के उपासक न थे और जैसा कि कहा जा चुका है यह प्रवृत्ति सामान्य-जन-प्रवृत्ति कही जा सकती है। यथार्थता तो यह है कि वे अन्य कुछ भी होने से पहले कवि थे। यही कारण है कि उनकी भक्ति-विषयक उक्तियो मे भी निराली वक्रता और वाग्विदग्धता दीख पडती है—

करौं कुबत जगु कुटिलता तजौं न दीनदयाल।
दुखी होहुगे सरल हिय, बसत त्रिभगीलाल ।।

मुरलीधर के तीन जगह से वक्र होने के कारण बिहारी भी हृदय की वक्रता नही छोडते, इसलिए नही कि इससे उनका कुछ स्वार्थ सिद्ध होता है बल्कि इसलिए कि सरल चित्त मे त्रिभगी कृष्ण समा न सकेगे। दूसरा उदाहरण लीजिये—

मै तपाइ त्रयताप सौं राख्यौ हियौ हमाम।
मति कबहुँक आएँ यहाँ पुलकि पसीजै स्याम ।।

यहाँ प्रसगवश एक बात का उल्लेख करना अनुचित न होगा। आजकल अन्त-साक्ष्य की खोज कर कवि की उक्तियो मे से उसका जीवन-चरित ढूँढ निकालने की धुन मे अनेक आलोचक भावोद्रेकावस्था मे कवि के हृदय से अपने सम्बन्ध मे निर्गत उक्तियो को प्रमाण मानकर कवि के प्रति अनर्थ कर डालते है। 'प्रभु हौ सब पतितन को टीको' और 'मोसो कौन खोटो' से सूर और तुलसी को बिलकुल ही गया-गुज़रा मान लेना सरस्वती की पूजा के पवित्र फूलो को नोचना तो है ही, कवि के साथ अन्याय और मानव-हृदय के प्रति अपनी अनभिज्ञता देना भी है। भक्ति-क्षेत्र मे दैन्य-भूमिका पर पहुँचते ही भक्त को आलम्बन की महत्ता और अपनी लघुता का ज्ञान होता है और उसी क्षण भाव-विभोर होकर वह अपनी दीनता, क्षुद्रता और निरीहता का आलम्बन की महत्ता के ही अनुरूप बढा-चढाकर वर्णन करता है और अपने ऊपर अनेक दोषो का आरोप कर लेता है—

---

१ बिहारी की वाग्वि भूति, पृ० १३१

यह दीनता धन्य है जो दीनबन्धु से नाता जोडती है ।[१] विहारी भी क्षण-भर के लिए जव भक्तिभाव मे आत्म-विस्मृत हो जाते थे तो उनके हृदय से ऐसी ही उक्तियाँ निकलती थी जो किसी भी भक्त-कवि की उक्तियो के समकक्ष रखी जा सकती है, पर जहाँ उनका कवि-हृदय जागरूक रहता था वहाँ उल्लिखित वक्रतापूर्ण उक्तियाँ ही निकलती थी। इसलिए इस प्रकार के उल्लेखो से विहारी को अनाचारी या पापी मान लेने की भ्राति न होनी चाहिए ।

विहारी की सभी भक्ति-विषयक उक्तियो को विलासातिरेक से घबराए हुए हृदय की लडखडाती पुकार ही न समझना चाहिए। उनके बहुत-से दोहे सूर से टक्कर लेने वाले है जिनसे उनके हृदय की सचाई और विश्वास टपकते है ।

कई दोहो मे तो बिहारी ने प्रेमवश भगवान को उपालम्भ दिया है—

नीकी दई अनाकनी फीकी परी गुहारि ।
तज्यौ मनौ तारनविरदु बारक बारन तारि ।।

नाम दीनवन्धु है परन्तु पता नही कौन-से दीन तारे है। यो तो पुराने ज़माने से ही उन दीनो की एक लम्बी लिस्ट चली आ रही है जिनका उद्धार कभी किया था। पर किया होगा । हमारा उद्धार करे तो हम माने । हमे तो सव धोखा ही प्रतीत होता है—

बन्धु भये का दीन के को तार्‌यौ रघुराइ ।
तूठे तूठे फिरत हौ झूठे विरद कहाइ ।।

इस ज़माने मे गरीवो की सुनता ही कौन है ? जग की हवा जगतपति को भी लग गई। इसीलिए भक्तो की दीन पुकार उनके कानो तक पहुँच नही पाती। क्यो नही, जग-नायक और जगद्‌गुरु जो ठहरे ! इस हवा का उद्‌गम वही तो है। उन्होने ही गुरु-मन्त्र के साथ इसे ससार मे फूंका—

कब कौ टेरत दीन रट होत न स्याम सहाइ ।
तुमहू लागी जगद्‌गुरु जगनायक जगवाइ ।।

इसी हवा के कारण तो थोडे ही गुणो पर रीझने की वान छोडकर आजकल के दानी वन वैठे है—

थोडे ही गुन रीझते बिसराई वह वानि ।
तुमहू स्याम मनौ भये आज कालि के दानि ।।

इसे कहते है समय का प्रभाव, कपूत कलिकाल की तीव्रता मे करुणाकर का कृपा-स्रोत सूख गया—

भौ अकरुन करुनाकरौ इहि कुपूत कलिकाल ।

कृष्ण के सखा भक्तो ने ही ऐसे उपालम्भ दिये हो यह वात नही है। तुलसीदास जैसे राम के दास भक्तो को भी अपने 'नाथ' की 'निठुराई' देखकर दुख

---

१. दिव्य दीनता के रसहि का जाने जग अधु ।
भली विचारी दीनता दीनवधु से बन्धु ।।—रहीम

हुआ ।[1] यहाँ तक कि वे राम के नाम का पुतला[2] बाँधने के लिए मजबूर हो जाते है—

हौं अब लौं करतूति तिहारिय चितवत हुतो न रावरे चेते ।
अब तुलसी पूतरौं बाँधि हे सहि न जात मोपै परिहास एते ।।

यह परमात्मा के प्रति तुच्छ सासारिक जीव की मुँहजोरी नही है, उपास्य के सखा बनकर उसके साथ हँसने-बोलने, उठने-बैठने और लडने-झगडने का मानव-मन का स्वाभाविक तकाजा हे, जिसका उभार विश्वास की अटल नीव पर जमे हुए प्रेम की परा कोटि पर आधारित हे । भगवत्प्रेम से उमडते हुए मानस महोदधि की उपालम्भ महोर्मि के पश्चात् निरीहता की लघु लहर का लास्य भी दर्शनीय है जिसमे सतह नीची अवश्य हे परन्तु अगाधता अक्षुण्ण हे—

हरि कीजत विनती यहे, तुमसौं वार हजार ।
जिहिं तिहि भाति डरयौ रह्यौं, परयौ रहौं दरबार ।।

गुण औरअवगुणो की नाप-तोल के अनुसार हिसाव-किताव रखा गया तो निस्तार हो चुका, इसलिए भक्त इनका हिसाव देने से कतराता हुआ अन्य पतितो मे ही अपनी गिनती करने की प्रार्थना करता है जिनका उद्धार निश्चित हो चुका—

कीजै चित सोई तरौं जिहिं पतितन के साथ ।
मेरे गुन-औगुन-गनन, गनौं न गोपीनाथ ।
हमारे प्रभु अवगुन चित न धरौ ।

तथा

प्रभु मेरे गुन अवगुन न विचारो ।
कीजै लाज सरन आए की रविसुत त्रास निवारौ ।।

परम भक्त तुलसी ने भी कुछ ऐसी ही वात कही है—

जो पै जिय धरिहौ अवगुन जन के ।
तौ क्यौं कटत सुकृत नख ते मोपै विपुल-वृन्द अघ वन के ।।

विहारी को भी यही विश्वास है कि यदि उनकी 'करनी' का निरीक्षण किया गया तो वात बनेगी नही—

तौ बलियै भलियै बनी नागर नन्द किसोर ।
जौ तुम नीकै कै लख्यौ मो करनी की ओर ।।

सासारिक विषयो मे आसक्त मन को प्रबुद्ध कर उसे ईश-स्मरण की ओर उन्मुख करना भक्ति का प्रथम सोपान है । सूर और तुलसी जैसे सच्चे भक्तो मे मन प्रबोध की उत्कृष्ट भावना का चरमोत्कर्ष लक्षित होता है । भवसागर से पार उतरने के लिए भक्ति के अतिरिक्त कोई साधन नही । ज्ञान और कर्म इसके विना व्यर्थ है । जिस प्रकार पतग

---

१ जद्यपि नाथ ! उचित न होत अस प्रभु सौं करौ ढिठाई ।
तुलसीदास सीदति निसिदिन देखत तुम्हार निठुराई ।। (वि० प०)

२ जब नटो को खेल दिखाने पर भी कुछ नहीं मिलता तो वे कपडे का पुतला बनाकर उसे बाँस पर लटकाये फिरते हे और उस पर धूल डालकर कहते है--देखो यह सूम ।

दीपक से प्रेम करता हुआ उसकी जलती हुई लौ से भी नही डरता और उस पर गिरकर भस्म हो जाता है उसी प्रकार ज्ञानी व्यक्ति भी ज्ञान के दीपक से सासारिक दु ख के कूप को देखकर भी उसमे गिर जाता है। जड जन्तु काल व्याल के रजस्तमोमय विपानल मे क्यो जलता है ? सकल मतो के अविकल वाद-विवाद के कारण वेश धारण करता है और निशदिन भ्रमता रहता है, जिससे कुछ भी कार्य नही वनता। परन्तु 'सूर' के अनुसार तो मनुष्य कृष्ण-भक्ति द्वारा ही भवसागर को पार कर सकता है। मन को चेतावनी देते हुए सूर ने वहुत-से पदो मे भक्ति के महत्त्व का प्रतिपादन किया है। तुलसी भी अपने मन को ऐसी ही शिक्षा देते है—

> सुन मन मूढ ! सिखावन मेरो !
> हरिपद-विमुख लह्यो न काहु सुख, सठ यह समुझ सवेरो।
>
> •
>
> छुटै न विपति भजे विनु रघुपति, स्रुति सन्देह निवेरो।
> तुलसिदास सब आस छॉडि कर, होहु राम कर चेरो।।

'रतिरग' मे 'वूडने' को 'तरना' मानने वाले कविवर विहारी भी भक्ति की भूमिका पर पहुँचकर ससार-पयोधि के तरने को हरिनाम की नौका का ही आश्रय लेना श्रेयस्कर समझते है—

> पतवारी माला पकरि और न कछू उपाउ।
> तरि ससार पयोधि कौ हरि नावै करि नाउ।।

वात ठीक भी है। ससार-रूपी भयकर पयोनिधि के पार करने के लिए ऐसे खिवैये के सिवाय कौन उपयुक्त सिद्ध हो सकता है जिसके दृष्टिप्रक्षेप से पत्थर भी पयोधि मे तरते हुए सुने गये है—

> यह वरिया नहिं और की तू करिया वह सोधि।
> पाहन नाव चढाइ कै कीन्है पार पयोधि।।

प्राणी प्रतिदिन परलोक सिधारते है परन्तु जो रह जाते है वे इस प्रकार हाथ-पैर फैलाते है मानो उन्हे अनन्त काल तक रहना हो, इससे वढकर आश्चर्य का विषय क्या हो सकता है। ऐसी ही भावानुभूति मे विभोर विहारी मनुष्य को शाश्वत सत्य मृत्यु का स्मरण दिलाते हुए उसे विपयो को त्याग कर हरि मे चित्त लगाने की सम्मति सच्चे मन से देते है—

> जम-करि-मुँह तरहरि परयौ इहिं धरहरि चितलाउ।
> विषय तृषा परिहरि अजौं नरहरि के गुन गाउ।।

उनकी ऐसी उक्ति भी वक्रता से रहित नही है। करि-मुह (हाथी के मुख) के नीचे पडे हुए नर की हरि (सिंह) ही रक्षा करने मे समर्थ है। यह वाग्वैदग्ध्य इस वात का सवूत है कि विहारी पहले कवि थे, वाद मे कुछ और। जहॉ पर भक्त-प्रवर सूरदास 'सव तजि भजिए नन्दकुमार' कहकर भजने का कारण कुछ और ही वताते है, वहाँ विहारी तीर्थो को त्याग कर 'हरि राधिका' की 'तन-दुति' मे 'अनुराग' करने का कारण यह वताते है कि उसके कारण केलि-कुजो मे पग-पग पर प्रयाग (तीर्थराज) हो जाता है—

तजि तीरथ हरि राधिका-तनदुति कर अनुराग।
जिहिं ब्रजकेलि निकुंज मग पग पग होत प्रयाग ।।

(हे मन !) तीर्थो को त्याग कर राधा-कृष्ण की शरीर-कान्ति से अनुराग कर जिससे ब्रज के केलिकुजो मे कृष्ण की श्याम, राधिका की गौर और उनके चरणो की लाल द्युति के मिलने से पग-पग पर प्रयाग (तीर्थराज) बनता जाता है।

बिहारी भक्त थे पर इतने ही जितना सामान्य जन होता है इसलिए बिहारी भक्त से अधिक कवि थे और कवि, भी शृगारी। यदि उनके गिने-चुने भक्ति-विषयक दोहो के आधार पर उन्हे 'भक्तप्रवर' मान लिया जाय तो डर है कि कही सूर तथा अन्य कृष्णभक्त कवियो को ही नही, तुलसी को भी शृगारी मानना न पड जाय।

सन्त कवियो जैसी उक्तियाँ भी बिहारी मे मिल जाती है जिनमे कचन और कामिनी की निन्दा की गई है—

या भव-पारावार कौं उलघि पार को जाइ।
तिय-छवि-छायाग्राहिनी गहै बीच ही आइ ।।
कनक-कनक ते सौ गुनी मादकता अधिकाइ।
वा खाये बौराइ जग या पाये बौराइ ।।
जपमाला छापै तिलक सरै न एकौ 'कामु।
मन काँचै नाचै वृथा, साँचै राचै रामु ।।

सुख-दु ख की परवाह न करके भगवान को याद करते रहना चाहिए। सुख मे ईश्वर को न भूलना और दु ख मे हाय-हाय न करना चाहिए। इस बात को सब की तरह बिहारी भी मानते है—

दीरघ साँस न लेहि दुख सुख साईंहि न भूल।
दई दई क्यों करतु है, दई दई सु कबूलि ।।
दियौ सु सीस चढ़ाइ लै आछी भाँति अहेरि।
जापै सुख चाहत लियौ ताके दुखहि न फेरि ।।

बिहारी के कुल का सम्बन्ध हरिदासी सम्प्रदाय के आचार्य नरहरिदास से रहा था। जैसा कि उनके जीवन-चरित मे बताया गया है, उनके पिता स्वामी नरहरिदास के शिष्य थे। सम्भव है बिहारी भी इनके दीक्षित शिष्य रहे हो और इनकी साधना से प्रभावित हुए हो। हरिदासजी का यह सम्प्रदाय कोई वेदान्तवाद नही था। यह एक साधना-मार्ग ही था। राधा-कृष्ण की लीलाओ का सखीभाव से अवलोकन करना और अपनी सगीत-कला से उन्हे रिझाना ही इनकी साधना का प्रमुख अग था। युगलोपासना की ओर बिहारी ने अपने इस दोहे मे सकेत किया है—

नितप्रति एकत ही रहत बैस बरन मन एक।
चहियत जुगलकिशोर लखि लोचन जुगल अनेक ।।

भगवान के मधुररूप की उपासना का दार्शनिक प्रतिपादन निम्बार्क ने किया तथा परवर्ती मधुरोपासना-रत सम्प्रदायो की साधना मे उनके सिद्धान्तो का पर्याप्त प्रभाव पडा।

रामानुजाचार्य के सिद्धान्तो से निम्बार्क के मत मे यह सबसे महान् अन्तर है, कि रामानुजाचार्य ने तो अपनी भक्ति को नारायण, लक्ष्मी, भू और लीला तक ही सीमित रखा जबकि निम्बार्क ने कृष्ण और सखियो द्वारा परिवेष्टित राधा को ही प्रधानता दी। इस प्रकार उत्तरी भारत मे राधाकृष्ण की भक्ति का शास्त्रीय प्रतिपादन निम्बार्क ने किया। बगाल और व्रजभूमि मे इसका विशेष प्रचार हुआ।[1]

बिहारी ने भी कृष्ण के साथ-साथ राधा की स्तुति की है। अपनी सतसई का प्रारम्भ उन्होने राधा की स्तुति से ही किया है और एक प्रकार से कृष्ण की अपेक्षा राधा को ही महत्त्व दिया है—

मेरी भव बाधा हरो राधा नागरि सोय।
जा तन की झॉई परे स्याम हरित दुति होय ।।

सखा-भाव-प्रेरित परिहास की प्रवृत्ति भी बिहारी मे दीख पडती है—

चिरजीवौ जोरी जुरै क्यो न सनेह गभीर।
को घटि ये वृषभानुजा वे हलधर के बीर ।।

भक्ति की प्राप्ति उनकी दृष्टि से भी ईश-अनुग्रह का फल है, तभी तो वे उससे भक्ति की याचना करते हैं—

हरि कीजत तुमसौं यही बिनती बार हजार।
जिहि तिहि भॉति डरयौ परो रहौं दरबार ।।

शरणागति तथा भगवदनुग्रह का आग्रह एव दैन्य आदि का मेल पुष्टि-सम्प्रदाय से अधिक है। इस प्रकार कई सम्प्रदायो के प्रभाव का लक्षित होना भी इस बात का प्रमाण है कि बिहारी कट्टरतापूर्वक किसी भी परिनिष्ठित सम्प्रदाय का अनुगमन नही करते थे। सामान्य साधक की भॉति परिस्थितियो से यथासम्भव समझौता कर लेने की उनकी प्रवृत्ति थी।

"तुलसी आदि के प्रयत्न से साम्प्रदायिकता का बॉध टूट जाने से भक्ति की रचना को जो विस्तार प्राप्त हुआ वह बिहारी मे भी मौजूद है और आगे के कवियो मे भी मिलता है। बिहारी की यह कविता भी अपनी विशेषता बराबर लिये हुए है, उनकी वाणी का बॉकपन भक्ति-सम्बन्धी उक्तियो मे भी बराबर मिलता है।"[2]

प्रेम और सौन्दर्य के कवि बिहारी ने कृष्ण के सौन्दर्य और भाव-भगिमाओ का भी सुन्दर चित्रण किया है। कृष्ण का भृकुटि-सचालन, उनके पीत-पट की चटक, लटकती चाल, चपल नेत्रो की चितवन किस के चित को नही चुरा लेती ? उनके हृदय पर पडी हुई गुजाओ की माला पिये हुए दावानल की ज्वाला-सी प्रतीत होती है, मोरमुकुट की चन्द्रिकाओ मे वे ऐसे प्रतीत होते है मानो कामदेव ने शशिधर की स्पर्धा से सैकडो चद्रमा सिर पर धारण कर लिये हो। जब वे अधर पर हरे बॉस की मुरली धरते है तो अधर, नेत्र और पीत-पट की आभा पडने से वह इन्द्रधनुप के समान भासित होने लगती है। इस

---

१ देखिये, 'सूर और उनका साहित्य', पृष्ठ १४२
२ श्री विश्वनाथप्रसाद मिश्र, 'बिहारी की वाग्विभूति,' पृष्ठ १३४

रम्य परम्परा को देखकर विहारी का मन मुग्ध हो जाता है और वे प्रार्थना करने लगते हैं–

सीस मुकुट, कटि काछनी, कर मुरली, उर माल ।
यहि बानक मो मन वसो सदा विहारीलाल ।।

कृष्ण के इस दिव्य रूप के साथ राधा की अलौकिक सुन्दरता के आकर मिल जाने पर रमणीयता का जो विशाल सागर उमड पडता है उसके पूर्णतया दर्शन के लिए न जाने कितने नेत्रो की आवश्यकता है—

नित प्रति एकत ही रहत, वैस, बरन, मन, एक ।
चहियत जुगलकिशोर लखि, लोचन जुगल-अनेक ।।

सौन्दर्य-राशि की अनिर्वचनीयता, उसके गम्भीर प्रभाव और तज्जन्य भावानुभूति की अवर्णनीयता की इससे अच्छी अभिव्यक्ति हो नही सकती ।

विहारी की भक्ति-विपयक उक्तियो की जो चर्चा ऊपर की गई है उससे यह निष्कर्प निकलता है कि विहारी उच्चकोटि के सहृदय कवि थे जिनकी रचनाओ मे विविध भावो की मनोमोहिनी अभिव्यक्ति हुई है । उनका वर्ण्य-विपय प्रधानतया शृगार अवश्य है परन्तु सच्चे हृदय से निकलती हुई भक्तिभावपूर्ण उक्तियाँ भी उनकी रचना मे अवलोकनीय हे । भक्ति-भाव-सम्बद्ध इन उक्तियो मे भक्ति की सामान्य भावना का विशेप स्वरूप ही समभना चाहिए ।

मुक्तक-दोहा

वच्चनसिह

सस्कृत के आचार्यो ने मुक्तक को विभिन्न ढग से परिभाषित किया है। उन परिभाषाओ मे से कुछ निम्नलिखित हैं—

१ **मुक्तक वाक्यान्तर निरपेक्षो य. श्लोक.।**

—काव्यादर्श

२ **मुक्तकमेतरानपेक्षमेक सुभाषितम्।**

—तरुण वाचस्पति (काव्यादर्श के टीकाकार)

३ **मुक्तकं श्लोक एवैकश्चमत्कारक्षमः सताम्।**

—अग्निपुराण

४ **मुक्तकमन्येनानालिंगितम् पूर्वापरनिरपेक्षेणापि हि**
येन रस चर्वणा क्रियते तदेव मुक्तकम्।

—अभिनवगुप्त, ध्वन्यालोक लोचन।

पहली परिभापा मे वाक्यान्तर निरपेक्ष श्लोक मुक्तक कहा गया है। इसमे मुक्तक के वाह्य पक्ष का उल्लेख है, आन्तरिक पक्ष का नही। इसलिए यह परिभापा त्रुटिपूर्ण है। दूसरी परिभापा मे इतर की अपेक्षा न करने वाला सुभापित मुक्तक माना गया है। तरुण वाचस्पति का 'सुभापित' शब्द वडा भ्रामक है। सुभापित सूक्ति-काव्य होता है। इसमे सूक्तिकार प्राय जीवन के अनुभावित सत्यो का उद्घाटन नैतिक मूल्य-वोध की दृष्टि से करता है। इन सुभाषितो का रसक्षम होना आवश्यक नही है, अतएव उन्हे काव्य की कोटि मे नही रखा जा सकता। अग्निपुराण के अनुसार अकेले ही सहृदयो को पुराण-कार ने आत्मचैतन्य, रम और चमत्कार को समानार्थक माना है। अभिनवगुप्त और कुन्तक ने 'चमत्कार' का प्रयोग 'रस' के अर्थ मे लिखा है। पडितराज जगन्नाथ काव्य की परिभापा देते हुए लिखते है—रमणीयार्थ-प्रतिपादक शब्द काव्यम्। रमणीयता च लोकोत्तराह्लाद जनक ज्ञान-गोचरता। लोकोत्तरत्व चाह्लादगत चमत्कार पर्याय अनुभवसाक्षिको जातिविशेप। कहने का तात्पर्य है कि काव्यशास्त्र मे चमत्कार रस के

अर्थ मे ही प्रयुक्त है । इसलिए अग्निपुराण की दी हुई परिभाषा सर्वथा औचित्यपूर्ण है पर अभिनवगुप्त ने लोचन मे इसकी जो परिभाषा दी है वह सर्वाधिक स्पष्ट और पूर्ण है। अन्य से अनालिगित, पूर्वापरनिरपेक्ष होते हुए मुक्तक रस-क्षम होता है । पूर्वापरनिरपेक्षता मुक्तक की बाह्य विशेषता है तो चमत्कारोत्पादन की क्षमता उनकी आन्तरिक विशेषता। मुक्तक की मुक्तता उसके अन्य से अनालिगन मे है, उसके अकेलेपन मे है। पर उसे काव्य होने के लिए रस-क्षम होना अनिवार्य है।

किन्तु मुक्तक की पूर्वापरनिरपेक्षता को लेकर यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि क्या मुक्तक पूर्वापरनिरपेक्ष होकर पूर्वापरसापेक्ष नही हो सकते ? हो सकते है। सूरसागर के पद क्या पूर्वापरसापेक्ष नही है, पर सूर के पदो का यह वैशिष्ट्य है कि वे पूर्वापर-सापेक्ष होकर भी एक-दूसरे से अनालिगित या स्वतन्त्र है । मुक्तको के सम्बन्ध मे विचार करते समय विचार्य होता है उनका अन्य से अनालिगन या स्वातन्त्र्य। इसी शर्त की रक्षा करते हुए यदि प्रबन्ध के मध्य मे कोई श्लोक हो तो वह मुक्तक कहा जा सकता है, इसे अभिनवगुप्त ने स्वय स्वीकार किया है । लेकिन मुक्तक को किसी वस्तु की सज्ञा या रूढ सज्ञा मान लेने पर 'मुक्त' (अन्य से अनालिगित) + क (प्रत्यय) प्रबन्धान्तर्गत श्लोकान्तर से निरपेक्ष किसी रस-क्षम श्लोक को भी मुक्तक मानना अभिनवगुप्त ने अस्वीकार कर दिया है[१]—सूरसागर मे प्रबन्ध-विधान मिलता है, फिर भी उसे प्रबन्ध-काव्य नही कहा जाता । उसी प्रकार प्रबन्ध-काव्य के बीच मुक्तक को पूर्णत चरितार्थ करने वाले श्लोक या पद्य मुक्तक नही हो सकते ।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने मुक्तक और प्रबन्ध का भेद स्पष्ट करते हुए लिखा है—"मुक्तक मे प्रबन्ध के समान रस की धारा नही रहती जिसमे कथा-प्रसग की परिस्थिति मे अपने को भूला हुआ पाठक मग्न हो जाता है और हृदय मे एक स्थायी प्रभाव ग्रहण करता है । इसमे तो रस के ऐसे छीटे पडते है जिनसे हृदय-कलिका थोडी देर के लिए खिल उठती है । यदि प्रबन्ध-काव्य एक विस्तृत वनस्थली है तो मुक्तक एक चुना हुआ गुलदस्ता है। उसमे उत्तरोत्तर अनेक दृश्यो द्वारा सघटित पूर्ण जीवन का या उसके किसी अग का प्रदर्शन नही होता बल्कि कोई एक रमणीय दृश्य सहसा सामने ला दिया जाता है।"[२]

इस उद्धरण मे शुक्लजी ने मुक्तक को गुलदस्ता कहकर उसकी काट-छाँट, तराश अर्थात् शिल्प-सज्जा की ओर जो ध्यान आकृष्ट किया है वह बहुत सगत है , पर प्रबन्ध और मुक्तक की प्रभावान्विति की चर्चा करते हुए एक को स्थायी और दूसरे को उतना स्थायी न मानना तर्कपूर्ण नहीं लगता । चडीदास, विद्यापति, सूरदास, तुलसीदास के मुक्तको को कम स्थायी कैसे माना जा सकता है ? इन सभी कवियो ने कुछ मनोदशाओ के जो चित्र प्रस्तुत किए है वे अत्यन्त मार्मिक तथा अविस्मरणीय है। इसीलिए तो कहा

---

१. तेन स्वतन्त्रतया परिसमाप्तनिराकाङ्क्षार्थमपि प्रबध-मध्यवर्ति न मुक्तक-मित्युच्यते । —लोचन

२ 'हिन्दी साहित्य का इतिहास'

गया है—'अमरुक कवेरेक श्लोक प्रबध शतायते ।' अमरुक के एक-एक श्लोक पर शत-शत प्रवन्ध निछावर है । इससे कम-से-कम इतना तो स्पष्ट ही है कि मुक्तक अतिशय रस-क्षम और लोकप्रिय रहे है । ध्वनिवादियो के अनुसार मुक्तको की उदात्तता नि सदिग्ध हो चुकी है ।

मुक्तको की रसार्द्रता उनके प्रसग-गर्भत्व और मर्मस्पर्शी खण्ड दृश्यो के चुनाव पर निर्भर है । प्रसग-गर्भत्व दो प्रकार का होता है—रूढियुक्त और रूढिमुक्त या स्वतन्त्र । रूढियुक्त सन्दर्भ-कल्पना के लिए सहृदय का शास्त्र-विहित काव्य परिपाटी से अभिज्ञ होना आवश्यक है । काव्य-रूढियो की अधिक जानकारी मुख्यत उन लोगो को होती है जो विशेष शोभन प्रतीत होते है । इसीलिए मध्यकाल के दरबारी वातावरण मे इनके विकास का अच्छा अवसर मिला । काव्य-परिपाटी से अनभिज्ञ पाठक निम्नलिखित दोहो की आस्वादन-क्षमता से अपरिचित ही रह जायगा—

१ पलनु पीक, अजनु अधर, धरे महावरु भाल ।
आजु मिले, सु भली करी, भले बने हौ लाल ॥
२ जुवनि जोन्ह मैं मिलि गई, नैंक न होति लखाइ ।
सौंधें कै डोरै लगी अली चली सग जाइ ॥
३ लाल, अलौकिक लरिकई, लखि लखि सखी सिहाति ।
आजकालि मै देखियतु, उर उकसौंहीं भाति ॥

इन दोहो का पूर्ण रसास्वादन वही कर सकता है जो खडिता अभिसारिका और अकुरितयौवना की परिभाषाओ से अभिज्ञ हो ।

एक दूसरा उदाहरण लीजिए—

बिथुरऔ जावक सौति-पग, निरखि हँसी गहि गाँस ।
सलज हँसौही लखि लियौ, आधी हँसी उसाँस ॥

यदि कोई इस रूढि को न जानता हो कि नायक प्रेम के प्रसग मे महावर लगाया करते है, उनके सात्विक भाव (कप) से ऐसे-ऐसे आघात लोगो के हृदय पर बराबर होते हैं, तो कोई कुछ नही कह सकता । 'आधी हँसी उसाँस' का तात्पर्य तभी खुलेगा । प्रसग यह होगा कि कोई नायिका अपनी सौत के पैर मे टेढा-मेढा महावर लगा देखकर इस व्यग्य से हँसी कि इसे महावर लगाने का भी शऊर नही है । पर उसके हँसने पर सौत कुछ लज्जित हुई और हँसने-हँसने-सी हो गई । नायिका ने तुरत ताड लिया कि मेरे नायक ने ही इसके पैर मे महावर पोता है, अगस्पर्शजन्य कप के कारण यह फैल गया है, इसलिए वह पूरी तरह हँसने भी नही पायी, बीच मे ही उसाँस लेने लगी ।[१]

पर मुक्तको मे सदर्भ-कल्पना को उतना ही महत्त्व देना चाहिए जितना उसका प्राप्य है । सदर्भ-कल्पना काव्य का सहायक उपकरण है, वह स्वत काव्य नही है । यह कल्पना जहाँ चक्करदार होगी वहाँ रूढियो की प्रधानता काव्यात्मकता को बहुत कुछ गौण बना देगी । बिहारी ने चक्करदार सदर्भ-कल्पना के अतिरिक्त स्वाभाविक सदर्भ-

---

१. प० विश्वनाथप्रसाद मिश्र, बिहारी, पृ० १२६

कल्पना का भी सहारा लिया है और ऐसी कल्पना का उनमे आधिक्य है। एक उदाहरण लीजिए—

मृगनैनी दृग की फरक, उर-उछाह, तन फूल।
बिन ही पिय-आगम उमगि, पलटन लगी दुकूल ॥

इसके पूर्व के उदाहरण मे, जिसमे सात्विक कम्प की रूढि का सहारा लिया गया है, काव्य-पक्ष दब गया है और उसके स्थान पर चमत्कारिकता उभरकर सामने आयी है। किन्तु इस उदाहरण मे आगमिष्यत्पतिका नायिका ने प्रिय के आगमन का शुभ शकुन अनुमान कर अपने भूपण-वसन का बदलना प्रारम्भ कर दिया है। इस दोहे की सदर्भ-कल्पना सहज है, चक्करदार नही। इसलिए इसका काव्य-पक्ष अपने-आप निखर आया है।

स्वतन्त्र सदर्भ-कल्पना वहाँ की जाती है जहाँ काव्यशास्त्रीय रूढियाँ काम नही देती। पर इन कल्पनाओ के लिए भी आवश्यक है कि सहृदय को काव्य-विषयक दीर्घ-कालीन अभ्यास हो—

नहिं अन्हाइ, नहिं जाइ घर, चितु चिहुट्यौ तकि तीर।
परसि फुरहरी लै फिरति, बिहसति, धँसति न नीर ॥

इस दोहे का काव्य-सौन्दर्य तभी प्रस्फुटित होगा जब यह कल्पना कर ली जाय कि नायिका के स्नान-स्थल पर नायक आ गया है और नायिका उसकी दर्शन-लालसा के कारण स्नान मे विलम्ब करती है। यह सदर्भ-कल्पना किसी काव्य-रूढि से बँधी नहीं है। यो इस प्रकार की सदर्भोद्भावना किसी तरह मौलिक नही कही जा सकती, पर इसको किसी खास परिपाटी के भीतर नही रखा जा सकता।

इन सदर्भ-कल्पनाओ के आधार पर ही बिहारी को रीतिकाल का प्रतिनिधि कवि कहा गया है। पर ये सदर्भ-कल्पनाएँ इस परम्परा मे आनेवाले प्राकृत-सस्कृत के शतको मे भी मिलती हैं। इसलिए बिहारी की रीतिबद्धता पर प्रश्नचिह्न लग जाता है।

रह गई खण्ड-दृश्यो के चुनाव की बात। जो खण्ड-दृश्य जीवन के जितने गहरे मर्म का उद्घाटन करेगा वह उतना ही प्रभावोत्पादक और जीवन्त होगा। वह दृश्य किसी आख्यान या वृत्त पर भी आधृत हो सकता है और गहन जीवनानुभव पर भी। सूर, तुलसी आदि भक्त-कवियो के मुक्तक प्रथम कोटि मे आएँगे, तो बिहारी, घनआनन्द के दूसरी कोटि मे।

यो तो कई दृष्टियो से मुक्तको का वर्गीकरण किया गया है पर काव्य-मीमासा-कार राजशेखर का वर्गीकरण सगत प्रतीत होता है। उनके मतानुसार मुक्तको के पाँच भेद है—

१. शुद्ध,
२ चित्र,
३. कथोत्थ,
४ सविधानक-भू और
५ आख्यानकवान्।

जो मुक्तक इतिवृत्त-विरहित हो वह शुद्ध के नाम से अभिहित होता है। यदि शुद्ध को विस्तार दिया जाय तो वह चित्र कहा जायगा। कथा से उत्थित होने वाला मुक्तक कथोत्थ कहा जाता है। किसी रजकतापूर्ण घटना या सविधान से सयुक्त मुक्तक सविधानक-भू की कोटि मे रखा जाएगा। आख्यानकवान् मुक्तको मे ऐतिहासिक आख्यान को कल्पना-रजित बना दिया जाता है। 'बिहारी-सतसई' मे सभी के उदाहरण मिल जाएँगे।

शुद्ध मुक्तक—

अग-अग छबि की लपट, उपटति जाति अछेह।
खरी पातरीऊ तऊ, लगै भरी सी देह॥

इसमे कोई वृत्त नही है। नायिका का सहज सौन्दर्य अपने-आप चित्रित हो उठा है। चित्र-मुक्तक—

आए आप भली करी, मेटन मान-मरोर।
दूरि करौ यह देखिहै, छला छिगुनिया छोर॥

इसमे मनोविकार को किंचित् विस्तार दे दिया गया हे।

सविधानक-भू—

लरिका लैबै के मिसनि, लगर मो ढिग जाय।
गयौ अचानक आँगुरी, छाती छैल छुवाय॥

इसमे धूर्त नायक की छलपूर्ण प्रेम-क्रीडा का कथन है जो एक रजक घटना है।

आख्यानकवान्—

नाह गरज नाहर गरज, बोल सुनायौ टेरि।
फँसी फौज की बन्दि में, हँसी सबन तन हेरि॥

फौज के बीच घिरी हुई रुक्मिणी का वर्णन ऐतिहासिक तथा पौराणिक आख्यान है। इसे कल्पना के मिश्रण द्वारा रमणीय बना लिया गया है। 'नहि-पराग हवाल' दोहे को कथोत्थ मुक्तक कहा जा सकता है। पर बिहारी मे कथोत्थ और आख्यानवान् मुक्तक मिलते है, उनमे शुद्ध, चित्र और सविधानक-भू मुक्तको की अधिकता है। भक्त-कवि प्राय आख्यानमूलक मुक्तको की सर्जना करते रहे है, पर भक्तेतर कवि प्राय विशुद्ध भावजीवी होने के कारण आख्यानो का सहारा कम लेते थे। हाल, अमरु ऐसे ही कवि थे और बिहारी इन्ही की काव्य-परम्परा मे पडते है।

दोहा

'बिहारी-सतसई' मे दोहा छन्द का प्रयोग किया गया है, कही-कही सोरठा भी दिखाई दे जाता हे। भाषा और सस्कृति की नयी करवट बदलता हुआ अपभ्रश भाषा-साहित्य दोहा छन्द साथ लेकर आया। उस काल की दर्पपूर्ण वीरतापरक उक्तियो, कोमल शृगारिक भावनाओ तथा नीतिपरक सूक्तियो को बाँधने मे इसे पूरी सफलता मिली। अपभ्रश का यह अपना छन्द है। डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी का कहना है कि "दोहा या दूहा अपभ्रश का अपना छन्द है। उसी प्रकार जिस प्रकार गाथा प्राकृत का अपना छन्द है। बाद मे तो 'गाथा बन्ध' से प्राकृत रचना

और 'दोहा बन्ध' से अपभ्रंश रचना का बोध होने लगा था। 'प्रबन्ध-चिन्तामणि' मे तो 'दूहा विद्या' मे विवाद करनेवाले दो चारणो के विवाद की कथा आयी है, जो सूचित करती है कि अपभ्रंश काव्य को 'दूहा विद्या' भी कहने लगे थे। दोहा अपभ्रंश के पूर्ववर्ती साहित्य मे एकदम अपरिचित है, किन्तु परवर्ती हिन्दी साहित्य मे यह छन्द अपनी पूरी महिमा के साथ वर्तमान है।"[1] डॉ० द्विवेदी ने दोहे का सम्बन्ध आभीरो से जोडा है, क्योकि अपभ्रंश भाषा भी आभीरो से सम्बद्ध है। सोरठा का सम्बन्ध सौराष्ट्र से जोडा गया है, इसे सोरठ दोहा भी कहते है। आभीरो-गुर्जरो का सौराष्ट्र से पुराना सम्बन्ध है।

अपभ्रंश कवियो के बावजूद हिन्दी के अनेक विशिष्ट कवियो ने इस छन्द का प्रयोग किया है। मीरा और सूर के पदो मे भी इसका विनियोग हुआ है। जायसी के 'पद्मावत' और गोस्वामी तुलसीदास के 'रामचरितमानस' के बीच-बीच मे इस छन्द का प्रयोग किया गया है। यह प्रबन्ध-विधान मे कडियाँ मिलाने के साथ-साथ विराम का भी काम करता है। अपभ्रंश काव्यो मे कई पक्तियो के बाद धत्ता देने की रीति प्रचलित थी। पश्चिमी अपभ्रंश मे दोहे का धत्ता देना प्रचलित भी था। 'पद्मावत' और 'रामचरितमानस' मे यह धत्तात्मक रूप मे ही प्रयुक्त हुआ है।

रीति-काव्यो के लक्षण-निरूपण मे दोहे का खूब प्रयोग किया गया। कदाचित् स्मरण की सुविधा से इसे अपनाना अधिक सगत लगा। कही-कही तो उदाहरण के लिए भी इसका उपयोग किया गया है। हिन्दी सतसइयो की परम्परा मे तो इस छन्द का एक-छत्र राज्य है।

पर साखी और दोहरा क्या है? गोस्वामी तुलसीदास ने एक स्थान पर कहा है—'साखी सबदी, दोहरा कहि काहनी उपखान। इससे पता लगता है कि साखी और दोहरा दोहे से कुछ भिन्न है। पहले 'साखी' साक्षी के अर्थ मे ही प्रयुक्त होता रहा होगा —'साखि करब जालधर पाएँ।' किन्तु बाद मे जब साक्षी के लिए दोहा छन्द प्रयोग मे ले आया जाने लगा तब साखी शब्द दोहा का समानार्थक हो गया। फिर भी विषय-वस्तु की दृष्टि से साखी की अपनी विशिष्ट परम्परा बनी ही रही, और दोहरा इसमे 'रा' स्वार्थे नही प्रयुक्त है,अन्यथा गोस्वामीजी अलग से इसका उल्लेख क्यो करते? भिखारी-दासके मतानुसार दोहे के विषम चरणो मे से एक-एक मात्रा घटाने से दोहरा छन्द बनता है।

दोहा अर्ध-सम मात्रिक छद है। इसके पहले तथा तीसरे चरणो मे १३-१३ और दूसरे तथा चौथे चरणो मे ११-११ मात्राएँ है। सामान्यत दोहे का यही लक्षण है। व्रजभाषा के प्रकाड पडित जगन्नाथदास 'रत्नाकर' ने दोहे के कई लक्षणो को उद्धृत करते हुए उनमे अतिव्याप्ति अथवा अव्याप्ति दोष दिखाया है। उन्होने उसका लक्षण निर्धारित करते हुए लिखा है—

आठ तीन द्वै प्रथम पद, दूजै पद बसु ताल।
बसु में त्रय पर द्वै न गुरु, यह दोहा की चाल॥[2]

---

१. हिन्दी साहित्य, प्रथम सस्करण, पृ० ११
२ कविवर बिहारी, प्रथम सस्करण, पृ० १३

इसका अभिप्राय है कि दोहे के प्रथम तथा तृतीय चरण मे ८, ३, २ और ८ पर मात्राएँ अलग हो जानी चाहिए अर्थात् आठवी, नवी से अथवा ग्यारहवी, बारहवी से मिलकर गुरु न हो जाय। पर ८, ३ आदि पर शब्दो का पृथक् होना आवश्यक नही है। मात्राओ की बाँट का क्रम इस प्रकार होगा—८ + ३ + २, ८। रत्नाकरजी के इस लक्षण-निरूपण के आधार 'बिहारी-सतसई' के दोहे है।

अन्य छन्दो की भाँति दोहा छन्द भी निरन्तर परिमार्जित होता रहा है। 'बिहारी-सतसई' मे आकर उसे जैसे पूर्णता प्राप्त हो गयी। थोडे मे बहुत अधिक कह जाने के लिए बडी कला-कुशलता अपेक्षित होती है। दोहे की इसी विशेषता को लक्ष्य करते हुए रहीम ने कहा है—

दीरघ दोहा अरथ के, आखर थोरे माँहि।
ज्यो रहीम नट कुडली, सिमिट कूदि चढि जाहि।।

थोडे मे व्यापक अर्थ को समेट लेना दोहे की समाहार शक्ति पर निर्भर है। किन्तु समाहार की क्षमता केवल सामाजिक पदावली के प्रयोग पर आधारित नही है। बिहारी अपने दोहो मे रूप, भाव, चेष्टा आदि का प्रभावोत्पादक चित्र खडा करते है। इस चित्र के लिए उन्होने जो फलक चुना है, उस पर थोडी ही रेखाएँ खीची जा सकती है। इन रेखाओ को खीच देने मे ही—प्रभावोत्पादक ढग से खीच देने मे—चित्र को प्रभविष्णु और भास्वर बनाया जा सकता है। जिस तरह रेखा-चित्रो मे कुछ ही सार्थक लकीरो द्वारा चित्र को अर्थ पूर्ण बना दिया जाता है उसी तरह बिहारी के दोहो को भी गूढ अर्थ-गर्भ-व्यापारो के चुनाव द्वारा व्यजक बना दिया गया है।

तन्त्री नाद, कवित्त-रस, सरस राग, रति-रंग।

o o o

तन भूषन, अंजन दृगनि, पगनि महावर रंग।
(वस्तु)

o o o

चमक तमक हाँसी ससक मसक झपट लपटानि।
(व्यापार)

अपेक्षित भावो की अभिव्यक्ति मे बिहारी ने कुछ ऐसे वस्तु-व्यापारो का चुनाव किया है जो प्रभावपूर्ण भाव-चित्र खडा करने मे बहुत ही समर्थ हैं। इन वस्तु-व्यापारो मे जो क्रम-स्थापन किया गया है वह भी प्रभावोत्पादन मे विशेष योग देता है। एक दोहा देखिए—

सघन कुंज घन घन तिमिर, अधिक अँधेरी रात।
तऊ न दुरि है स्याम यह, दीप-सिखा-सी जात।।

पहली पक्ति मे तीन वस्तुओ—कुज, तिमिर, अँधेरी रात—को जो क्रम दिया गया है वह रात्रि की भयकर कालिमा को उभारने मे कितना सूक्ष्म है।

इनके चुनाव मे उन्होने प्राय तीन या चार ही वस्तु-व्यापारो को चुना है, इससे अधिक के लिए दोहे मे अवकाश ही कहाँ है? चाहे उपमा, रूपक, असगति, विरोधाभास,

दृष्टात आदि अलकारो का निर्वाह करना हो, चाहे अनुभाव, हाव आदि का चित्रण करना हो सर्वत्र गूढ-अर्थ-गर्भ वस्तु-व्यापारो को चुना गया है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने जिसे व्यापार-शोधन का नाम दिया है उसे सतसई मे सामान्यत सर्वत्र देखा जा सकता है।

कला के प्रति अत्यधिक सचेत होने के कारण इनके दोहो मे टेकनीक सम्वन्धी त्रुटि नही आ पायी है। समूचे हिन्दी-साहित्य मे इतना सचेत कलाकार शायद ही कोई हुआ हो। आधुनिक हिन्दी-साहित्य मे रत्नाकरजी मे जो सचेतता दिखाई पडती है वह बिहारी से अनुप्राणित तथा प्रभावित है। पर जहाँ पहले की सचेतता युग के अनुकूल नही पडती, वहाँ दूसरे की युग के सर्वथा अनुरूप वन पडी है। यही कारण है कि विहारी का उदात्त रूप-विन्यास शोभन प्रतीत होता है। उनके दोहो के निर्माण मे जिस क्रमागत पद-विन्यास (रेगुलेरिटी) और अग-सघटना (सिमिट्री) का विनियोग हुआ है वह उन्हे रूपात्मक पूर्णता प्रदान करता है।

जिस युग मे विहारी के दोहे निर्मित हुए वह युग अपनी अलकृति तथा काव्यात्मक बारीकियो के लिए इतिहास मे सदैव याद रहेगा। चित्र तथा वास्तुकला मे सूक्ष्माति-सूक्ष्म भाव-भगिमाओ को ख्यापित करने मे जिस नागरिक रुचि का परिचय मिलता है विहारी के दोहे भी उसी का प्रतिनिधित्व करते है।

सतसई की परम्परा

डॉ० रणधीर सिन्हा

सस्कृत-साहित्य मे श्लोक का जो महत्त्व है, हिन्दी मे दोहा को वही महत्त्व प्रदान किया गया है। न तो श्लोक सस्कृत-साहित्य का प्रधान छन्द है और न दोहा हिन्दी-साहित्य का। अपभ्रश साहित्य का प्रधान छन्द दूहा अथवा दोहा अवश्य रहा है। सस्कृत-साहित्य मे सौ, सात सौ, एक हज़ार श्लोको की रचना करने की परिपाटी प्राचीन है। 'शतक', 'सप्तशती', 'सप्त शतिका' अथवा 'सप्तशति' के रूप मे क्रमश सौ और सात सौ श्लोकों की रचना सस्कृत-साहित्य मे पर्याप्त हुई है। वैसे सौ अथवा सात सौ के लगभग की सख्या मे रचित श्लोको को भी 'शतक' अथवा 'सप्तशती' की सज्ञा दे दी जाती रही। यह आवश्यक नही था कि 'शतक' मे सौ ही श्लोक हो अथवा 'सप्तशती' मे सात सौ ही श्लोक हो। यद्यपि इस नियम का पालन कठोरता से नही किया गया है किन्तु सस्कृत रचनाकारो का ध्यान नियम के अनुसरण की ओर अवश्य रहा है। 'सतसई' 'सप्तशती' अथवा 'सप्तशतिका' शब्दो का ही हिन्दीकरण है तथा तद्भव रूप है।[1] सात सौ अथवा इसके लगभग की सख्या मे दोहो की रचना कर उन्हे 'सतसई' के नाम से सगृहीत कर देना हिन्दी के कवियो ने सस्कृत परम्परा से उधार लेकर ही सीखा है।[2] सस्कृत और प्राकृत मे सख्या के आधार पर जो सग्रह रचे गये है उनकी सख्या अधिक है। पचाशिका, शतक, सप्तशती आदि विभिन्न सख्यावाचक सग्रहो की सख्या जार्ज ग्रियर्सन ने ३१ बतायी है।[3] उनकी सूची निम्नलिखित है

१ सप्तशतिका (प्राकृत मे), हाल रचित, पाँचवी शती ईसवी।

२ सूर्यशतक, मयूर रचित, सूर्य की स्तुति मे, सातवी शती (ईसवी) का पूर्वार्द्ध।

३ चण्डीशतक, बाणभट्ट रचित, चण्डी की स्तुति मे, सातवी शती का पूर्वार्द्ध।

---

१ लालचन्द्रिका, सम्पादक : जार्ज अब्राहम ग्रियर्सन, भूमिका, पृ० २-३।

२ बिहारी की सतसई, पद्मसिंह शर्मा, पृ० स० २१।

३ सतसई सप्तक, श्यामसुन्दरदास, पृ० ४।

४ भर्तृहरिशतक, (वैराग्य,नीति तथा शृगारशतक) भर्तृहरि रचित,सातवी शती।
५ वक्रोक्ति पचाशिका, रत्नाकर रचित, नवी शती का उत्तरार्द्ध ।
६ भल्लटशतक, वल्लट रचित, दसवी शती के पूर्व ।
७ देवी शतक, आनन्दवर्द्धन, नवी शती का उत्तरार्द्ध ।
८ साम्ब पचाशिका, सूर्य की स्नुति, ग्यारहवीं शती के पूर्व ।
९ चौर पचाशिका, ग्यारहवी शती ।
१० आर्या सप्तशतिका, गोवर्द्धन, ग्यारहवी शती के अत मे ।
११ सुन्दरी शतक, उत्प्रेक्षा वल्लभ, सोलहवी शती का पूर्वार्द्ध ।
१२ वैराग्य शतक, अप्पय दीक्षित, सोलहवी शती का अन्त ।
१३ वरदराज शतक, अप्पय दीक्षित, सोलहवी शती का अन्त ।
१४ सभारजन शतक, नीलकठ रचित, सत्रहवी शती का पूर्वार्द्ध ।
१५ अन्यापदेश शतक, वही ।
१६ कलि विडम्बना शतक, वही ।
१७ ोमावली शतक, विश्वेश्वर, सत्रहवी शती का पूर्वार्द्ध ।
१८ ईश्वर शतक, अवतार रचित, सत्रहवी शती का पूर्वार्द्ध ।
१९ शिव शतक, शिव की स्तुति, गोकुलनाथ रचित, अठारहवी शती का अन्त ।
२० उपदेश शतक, गुमानी ।
२१ भाव शतक, नगरराज धारा नरेश के निमित्त किसी राजकवि द्वारा रचित ।
२२ पचशती, मूक रचित, पॉच सौ श्लोक ।
२३ अन्योक्ति शतक, वीरेश्वर भट्ट रचित ।
२४ काव्य भूषण शतक, कृष्णवल्लभ रचित ।
२५ जिन शतक, एक जिन की स्तुति मे लिखित ।
२६ वैराग्य शतक, पद्मानन्द रचित ।
२७ ऋषभ पचाशिका (प्राकृत मे) धनपाल रचित, जैन ऋषभ की स्तुति मे ।
२८ सुदर्शन शतक, कुरुनारायण रचित ।
२९ अन्यापदेश, मिथिला के मधुसूदन द्वारा रचित ।
३० चण्डी कुच पचाशिका, लक्ष्मणाचार्य रचित ।
३१ गीति शतक, सुन्दराचार्य द्वारा रचित ।

इस प्रकार जार्ज ग्रियर्सन की सूची से इतना स्पष्ट हो जाता है कि सख्या वाचक नामो की परम्परा सस्कृत तथा प्राकृत मे सदा रही है। वैसे ग्रियर्सन के मत का अनुसरण करने पर यह स्पष्ट होता है कि प्राकृत से ही इस परम्परा का आरम्भ हुआ है।[1] प्राकृत मे रचित हाल की 'सप्तशतिका' जिसे 'गाथा सप्तशती' भी कहा जाता है, पहला ग्रथ है जो इस परिपाटी का आरम्भ करता है। 'गाथा सप्तशती' के सग्रहकर्ता मे सातवाहन का नाम भी आता है किन्तु हाल की यह रचना है, इसे विभिन्न सूत्रो ने प्रमाणित

---

१ लालचद्रिका सम्पादक : जार्ज अब्राहम ग्रियर्सन, भूमिका ।

किया है ।[1] हाल की 'गाथा सप्तशती' को इस परिपाटी का पहला ग्रथ अन्य सूत्रो ने भी माना है ।[2]

जार्ज ग्रियर्सन के मत के अतिरिक्त अन्य मत ऐसे भी आये है जिनके अनुसार गीता भी सप्तशती है क्योकि उसमे सात सौ श्लोक है । अमरुकशतक की प्रसिद्धि सस्कृत मे पर्याप्त हुई है । श्री मार्कण्डेय पुराणान्तर्गत दुर्गासप्तशती का पता चलता है । प्राकृत मे 'वज्जालग्ग' इसी प्रकार का सग्रह है । ऐसी स्थिति मे ग्रियर्सन द्वारा लिखित सूची को अन्तिम नही माना जा सकता और इस प्रकार के सग्रहो की सख्या अधिक है । अनुमानत इनकी सख्या कई सौ है । सतसई परम्परा को विकसित करने का श्रेय कतिपय ग्रथो को ही दिया जा सकता है जिनमे साहित्य का स्तरीय निर्वाह हुआ है तथा जिनकी रचना मे रस का प्रभाव डालने वाला प्रवाह है । यहाँ सप्तशती ग्रथो का उल्लेख ही समुचित होगा क्योकि हमारा सम्बन्ध उन्ही से है ।

प्राकृत की 'गाथा सप्तशती'

प्राकृत भाषा मे रचित महाकवि हाल की यह रचना है । सातवाहन ने इसका सग्रह किया है, किन्तु विद्वानो का मत यह भी है कि हाल का दूसरा नाम सातवाहन था । सातवाहन के नाम का उल्लेख बाण ने 'हर्षचरित' मे किया है ।[3] पुराणो मे भी इस नाम का उल्लेख हुआ है । इस आधार पर हाल का समय १२५ ई० पूर्व का निर्धारित होता है । कीथ के अनुसार भी यह रचना अधिक से अधिक २०० ई० पूर्व तक की है । ग्रियर्सन ने इसका रचनाकाल पाँचवी शती ई० बताया है किन्तु ग्रियर्सन का कालनिर्धारण कई स्थलो पर अप्रामाणिक सिद्ध हो चुका है । शोध के आधार पर इसका रचनाकाल प्रथम शताब्दी का, निश्चित हो चुका है । 'गाथा सप्तशती' का विषयाधार लोक जीवन पर आधारित हुआ है । इसमे सात सौ गाथाओ अथवा आर्याओ का सग्रह किया गया है जिनकी भाषा महाराष्ट्रीय प्राकृत है ।

'गाथा सप्तशती' मे तत्कालीन समाज की रूपरेखा का अकन किया गया है । विप्रलम्भ श्रृगार, दैनिक जीवन के सुख-दु ख, प्राकृतिक दृश्यो का चित्रण तथा सहज स्वाभाविक ग्राम्य जीवन् का चित्रण करना हाल कवि का उद्देश्य रहा है । पशुचारण करती हुई गोपबालिकाओ, आभीरो की प्रेम-कथाओ, उनके पारिवारिक कार्यो से सम्बन्धित विषयो को ही इस ग्रथ मे स्थान दिया गया है । फलत 'गाथा सप्तशती' का श्रृगार

---

१ दरबारी सस्कृति हिन्दी मुक्तक, डॉ० त्रिभुवनसिंह पृ० ७४ ।

२ (क) हिन्दी साहित्य की भूमिका, डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० १११ ।

(ख) वाणी प्राकृत समुचितरसा बलेनैव सस्कृत नीता ।
निम्नानुरूप नीरा कलिदकन्येव गगनतलम् ॥

—गोवर्द्धनाचार्य, आर्यासप्तशती

३ अविनाशिनम ग्राम्यमकरोत्सातवाहन ।
विशुद्धजातिभि· कोषं रत्नैरिव सुभाषित ॥

—हर्षचरित, श्लोक १३ ।

लौकिक धरातल के अधिक समीप है तथा इसका सम्बन्ध आध्यात्मिकता से नही जोडा जा सकता। प्राकृत भाषा का लोक-जीवन के समीप होना ही इसकी लौकिक शृगारिकता की उत्पत्ति है। यह ग्रथ एक ओर तो सतसई-परम्परा का विकास करने मे सहायक हुआ है, दूसरी ओर शृगार मे लौकिकता तथा यथार्थता का समावेश करने की परिपाटी भी इसी आदि सप्तशती ने आरम्भ की है। इस दृष्टि से इसका महत्त्व अविस्मरणीय है।

'गाथा सप्तशती' को आदर्श मानकर अथवा उसके अनुसरण पर लिखी गई सतसइयाँ दो प्रकार की है, एक प्रकार की जिनमे रचना के माध्यम से सूक्ति अथवा भक्ति-परक छन्दो अथवा दोहो की सृष्टि हुई और दूसरे प्रकार की जिनके माध्यम से शृगारिक ऐहिकतापरक रचनाएँ प्रस्तुत की गयी। सतसई के नाम से सख्यापरक सग्रह प्रस्तुत करने वाले आगे के प्राय सभी कवियो पर 'गाथा सप्तशती' का प्रभाव है जिसका अनुकरण कवियो ने अपनी वर्ण्य वस्तु के अनुसार किया। कुछ कवियो ने सख्या, शैली, विषयवस्तु आदि सभी कुछ को हाल के अनुसार अपनाया है और कुछ कवियो ने केवल सख्या तथा उक्ति वैचित्र्य को ही अपनाया है किन्तु वर्णन-सामग्री को अपनाने मे अपनी रुचि-विशेष का परिचय दिया है। इस प्रकार 'गाथा सप्तशती' से जिस सतसई-परम्परा का विकास हुआ, विषयवस्तु के आधार पर उसके दो स्वरूप हो गये है जिनका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है।[१] परम्परा के विकास के साथ प्रभाव डालने वाले उत्स का रूप विभिन्न स्थितियो से निर्धारित होता है। किसी भी उत्स का प्रभाव इसीलिए विभिन्न रूपो मे स्वीकृत होता है। अत 'गाथा सप्तशती' से विभिन्न रूपो मे सतसईकारो ने प्रभाव ग्रहण किया है। मूलत यह स्पष्ट है कि यह ग्रथ सतसई परम्परा को आदि से अन्त तक प्रभावित करता रहा और इस दृष्टि से यह एक महान् ग्रथ कहा जायगा।

गोवर्द्धनाचार्य की 'आर्या सप्तशती'

सतसई परम्परा मे एक परिवर्तन लाने का प्रयास गोवर्द्धनाचार्य ने अपनी 'आर्या सप्तशती' द्वारा किया। इस ग्रथ की रचना बारहवी शताब्दी मे प० गोवर्द्धनाचार्य ने की, जो वगाल के राजा लक्ष्मणसेन के सभाकवि थे। इसमे भी आर्याओ का सचयन है। गोवर्द्धन ने हाल की रचना से प्रभाव ग्रहण किया है। उन्होने स्वीकार किया है कि अपनी सस्कृत की रचना का आधार उन्होने प्राकृत से लिया और प्राकृत की प्रसिद्ध रचना हाल की 'गाथा सप्तशती' ही है। गोवर्द्धनाचार्य ने विषयवस्तु, सख्या, शृगार-प्रधान अभिव्यजना आदि का चयन हाल के अनुसार ही किया है, किन्तु अपनी मौलिकता को सुरक्षित रखते हुए। 'आर्या सप्तशती' मे भी लौकिक शृगार की प्रधानता है। प्राकृत और सस्कृत के सख्यापरक सग्रहो की परम्परा मे 'आर्या सप्तशती' ने किंचित् रुचि-परिवर्तन करने का प्रयास किया है। इन दो सप्तशतियो के मध्य ८५० ई० के लगभग लिखित अमरुक कवि के 'अमरुक शतक' का भी उल्लेख किया जा सकता है। अमरुक के शृगार मे रस का निर्झर है। परन्तु गाथा और आर्या सप्तशतियो के बीच जिस प्रकार का परम्परागत क्रम है वह अधिक महत्त्व की वस्तु है। 'गाथा सप्तशती' और

---

१ 'दरबारी सस्कृति और हिन्दी मुक्तक', डॉ० त्रिभुवनसिंह, पृ० ७४।

'आर्या सप्तशती' को हम दो प्रमुख स्तम्भो के रूप मे स्वीकार कर सकते है, इस परम्परा मे।

हिन्दी में सतसई की परम्परा

हिन्दी मे सतसई की परम्परा का आरम्भ तुलसीदास तथा रहीम खानखाना की सतसइयो से होता है। वैसे यदि भाव पर बल दिया जाए तो कृपाराम की 'हित तरगिणी', मुबारक के 'अलक शतक' और 'तिलक शतक' तथा बलभद्र मिश्र के 'आर्या सप्तशती' के अनुवाद को भी इस परम्परा के आरम्भ का श्रेय दिया जा सकता है। सम्प्रति अधिकतर न्यायसगत यही प्रतीत होता है कि 'तुलसी सतसई' और 'रहीम सतसई' को ही सम्यक् रूप मे हिन्दी की आरम्भिक परम्परा की कडी के रूप मे स्वीकृति दी जाय। 'तुलसी सतसई' इस दिशा मे पहली सफल रचना है। 'तुलसी सतसई' तथा 'रहीम सतसई' दोनो समकालीन सतसइयाँ है। 'मतिराम सतसई', 'बिहारी-सतसई' तथा 'रसनिधि सतसई' ये तीनो समकालीन सतसइयाँ है। वृन्द, विक्रम तथा राम की सतसइयाँ, विहारी की सतसई के पश्चात् की रचनाएँ है। 'वीर सतसई' तो आधुनिक काल की ही रचना है।

तुलसी सतसई · इस सतसई की रचना सवत् १६४२ मे हुई। यह सात सर्गों मे विभाजित है। प्रथम सर्ग मे भक्ति का निरूपण किया गया है। दूसरे मे उपासना-परा भक्ति से सम्बन्धित दोहे है। तीसरे सर्ग मे राम-भजन-सम्बन्धी दोहे है। चौथे सर्ग मे आत्मबोध की विवेचना है। पाँचवे सर्ग मे कर्म-सिद्धान्त सम्बन्धी दोहे है। छठे सर्ग मे ज्ञान-सिद्धान्त का निरूपण किया गया है तथा सातवे सर्ग मे राजनीति सम्बन्धी दोहे हैं। इस प्रकार इसमे नीति की प्रधानता है तथा इसका प्रमुख उद्देश्य उपदेशात्मक है। इसमे कुल दोहे ७४७ है। इसमे कुछ ऐसे दोहे भी है जो कबीर की साखियो के जैसे हैं। तुलसीदास ने दोहो की उपयोगिता को उपदेश तथा ज्ञान प्रदान करने का माध्यम ही समझा था। फलत उनकी सतसई मे विवेक और उक्ति-प्रधान बुद्धिशीलता की ही झलक प्राप्त होती है। इसे सूक्ति-प्रधान सतसई कहना समुचित होगा।

रहीम सतसई रहीम सतसई अपूर्ण रूप मे प्राप्त होती है। इसमे भी तुलसीदास की भाँति रहीम ने उपदेशात्मक प्रवृत्ति को प्रधानता देकर सूक्ति-प्रेम का ही परिचय दिया है। नीति तथा अनुभव की बातें कहने मे रहीम के दोहे बडे विलक्षण है। रहीम ने अधिकागत अनुभव का ही आधार लिया है जबकि तुलसी ने भक्ति और ज्ञान का। तुलसी ने भक्ति के माध्यम से मर्यादावादी मार्ग के अनुसरण पर बल दिया है जबकि रहीम के दोहे सदाचार और आचरणवादी मार्ग के अनुसरण पर बल देते है। रहीम की सतसई मे सासारिक आचार की प्रधानता है, तुलसी की सतसई मे सासारिक तथा नैतिक मर्यादा की प्रधानता है। इन दोनो सतसइयो मे सूक्ति-परम्परा का रूप है।

मतिराम सतसई मतिराम के उत्कृष्टतम नायिका-भेद ग्रथ 'रसराज' की रचना 'विहारी सतसई' के आरम्भ होने से पूर्व ही सम्वत् १६६० के आसपास हो चुकी थी जिसमे 'मतिराम सतसई' के लगभग १२५ उत्कृष्टतम दोहे पाये जाते है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि जब सवत् १६६१ के आसपास 'विहारी सतसई' का प्रथम दोहा साभिप्राय लिखा गया तो उस समय तक 'मतिराम सतसई' के उक्त दोहो की रचना हो

चुकी थी।' मतिराम सतसई' किसी परिस्थिति विशेष की न तो रचना ही है और न इसकी रचना 'मोहरो' के नुस्खे पर ही की गयी है। इस कवि ने समय-समय पर अपने मस्ती के क्षणो मे लिखा है जिससे उसके हृदय की सहज एव स्वाभाविक अनुभूतियाँ सरल-तम भाषा मे मर्मस्पर्शी प्रभावो के साथ अभिव्यक्त हुई है। इनके दोहो मे बिहारी के दोहो की भाँति न तो 'तराशमठार' है और न ये बुद्धि को ही चमत्कृत करने का प्रयत्न करते जान पडते है।

मतिराम त्रिपाठी प्रसिद्ध रीतिकालीन कवि भूषण त्रिपाठी तथा चिन्तामणि त्रिपाठी के भाई थे, ऐसा कहा जाता है। इनकी सतसई मे अधिकाशत दोहे 'रसराज' तथा 'ललित ललाम' ग्रन्थो से लेकर सग्रहीत कर दिये गए है। मतिराम और बिहारी के दोहो की तुलना करने पर बिहारी के दोहे काव्य की दृष्टि से अधिक समृद्ध है। मतिराम ने अपनी रचना-शक्ति विभिन्न ग्रन्थो के प्रणयन मे लगायी जबकि बिहारी ने अपनी रचना-शक्ति का विभाजन न कर केवल सतसई के प्रणयन मे ही सारी शक्ति लगा दी। फलत बिहारी की सतसई का स्थान श्रेष्ठ है।

रसनिधि सतसई रसनिधि सतसई के कवि रसनिधि का वास्तविक नाम पृथ्वीसिह था। इनके विशाल ग्रन्थ 'रतन हजारा' का सक्षिप्त रूप 'रसनिधि सतसई' है। इनके लिखे अनेक ग्रथ है। ये मुख्यत प्रेम के कवि है। पेम मे इनका कवि-मन इतना तल्लीन है कि उसकी अभिव्यक्ति समय छोड देती है और अश्लीलता की सीमा मे प्रवेश कर जाती है। इनकी भाषा मे उर्दू-फारसी के शब्दो की प्रधानता है। इनका रचना-काल सम्भवत १६६० और सम्वत् १७१७ के बीच का है। इन दोहो मे लौकिक प्रेम की सरस अभिव्यक्ति को अत्यधिक स्थान मिला है।

वृन्द सतसई इसकी रचना सवत् १७६१ मे हुई। इस प्रकार यह 'तुलसी सतसई' से लगभग ११०–१२० वर्ष बाद की रचना सिद्ध होती है। वृन्द ने 'सत्य स्वरूप' 'भावपचाशिका', 'अलकार सतसई', 'शृगार शिक्षा', 'हितोपदेशाष्टक' आदि कई ग्रथो की रचना की। इनके सभी ग्रथो मे सतसई ही सर्वाधिक प्रसिद्ध हुई। 'वृन्द सतसई' के अन्तर्गत कोरे उपदेशो को ही स्थान नही दिया गया है, वरन् इसमे पायी जानेवाली सूक्तियो मे सर्वत्र विदग्धता है। अपने सरस एव सरल भावो तथा अनोखे दृष्टान्तो के कारण इस रचना को इतनी ख्याति मिली है जितनी गोस्वामी तुलसीदास की सतसई को भी नही मिली।

राम सतसई इसके रचयिता रामसहायदास है। ये काशी-नरेश महाराज उदितनारायणसिह के आश्रित थे। इस सतसई का रचनाकाल सम्वत् १८६० से १८८० तक का ठहरता है क्योकि यह रामसहाय का रचनाकाल है। यह सतसई शृगार प्रधान है तथा इस पर बिहारी का प्रभाव परिलक्षित होता है। शृगार-प्रधान सतसइयो की परम्परा मे इस सतसई का महत्त्व अवश्य है। इस सतसई के अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है कि बिहारी की सतसई ने अपने परवर्ती काल को कितना प्रभावित किया है ?

विक्रम सतसई : 'विक्रम सतसई' के रचयिता बुन्देलखण्ड की चरखारी रियासत के राजा विक्रमसिंह है जिनका पूरा नाम विक्रमादित्य था। मतिराम के वशज

बिहारीलाल जो सतसईकार बिहारी से भिन्न थे, इन्ही के आश्रय मे थे। इनका राज्यत्व-काल सवत् १८३९ से सवत् १८८६ तक रहा और इसी बीच इस सतसई की रचना का अनुमान किया जाता है। इनके दोहे उच्चकोटि के नही है किन्तु सतसई-परम्परा और विशेषकर 'बिहारी-सतसई' के प्रभाव का प्रमाण प्रस्तुत करने वाले अवश्य है। शृगारिक सतसइयो मे इस सतसई की विशेपता इसकी सरलता के कारण स्थापित हुई है।

'बिहारी-सतसई' का प्रभाव मतिराम, रसनिधि, रामसहाय, वृन्द तथा विक्रम, सभी की सतसइयो पर पडा है। समकालीन होने के नाते मतिराम और रसनिधि के ऊपर इस कथन को नही घटाया जा सकता किन्तु वृन्द, विक्रम और रामसहाय की सतसइयो पर तो यह कथन सर्वथा सत्य घटित होता है। कुल मिलाकर तथा 'बिहारी-सतसई' को लेकर सत्रहवी शती से उन्नीसवी शती के बीच आठ सतसइयो की रचना हुई जो साहित्यिक दृष्टि से अपना समुचित महत्त्व स्थापित करती है। आधुनिक काल मे 'वीर सतसई', 'दुलारे दोहावली' आदि दोहा-ग्रन्थो की रचना हुई तथा दोहो की रचना आधुनिक काल मे प्राय होती रही है। दोहा-ग्रन्थो की दृष्टि से आधुनिक काल को उतना महत्त्व नही दिया जा सकता जितना भक्ति तथा रीतिकाल को। 'वीर सतसई' से केवल सतसई परम्परा के चालित होने का ही प्रमाण मिलता है।

सतसइयो का वर्गीकरण

हिन्दी की उल्लेखनीय सतसइयो का वर्गीकरण दो रीतियो से किया जा सकता है—एक, काल के अनुसार तथा दूसरा, उनकी प्रवृत्ति के अनुसार। काल के अनुसार विभाजन—

वर्ग क—सत्रहवी गताब्दी मे लिखिन

१ तुलसी सतसई, २ रहीम सतसई।

वर्ग ख—अठारहवी शताब्दी के आरम्भ मे लिखित

१ मतिराम सतसई, २ बिहारी सतसई, ३ रसनिधि सतसई।

वर्ग ग—अठारहवी शती के उत्तरार्द्ध मे लिखित

१ वृन्द सतसई

वर्ग घ—उन्नीसवी शती मे लिखित

१ राम सतसई, २ विक्रम सतसई।

वर्ग च—बीसवी शती मे लिखित

१ वीर सतसई।

प्रवृत्ति के आधार पर सतसइयो का विभाजन इस प्रकार किया जा सकता है—

वर्ग क—सूक्तिप्रधान तथा उपदेशात्मक

१. तुलसी सतसई, २ रहीम सतसई, ३ वृन्द सतसई

वर्ग ख—शृगारिकता-प्रधान

१. बिहारी सतसई, २ मतिराम सतसई, ३ रसनिधि सतसई

वर्ग ग—वीर रस प्रधान

१ वीर सतसई

बिहारी ने पूर्ववर्ती सस्कृत,प्राकृत तथा हिन्दी साहित्य से प्रभाव ग्रहण किया है। शृगार-प्रधान रचनाएँ ही उनके लिए अधिकाशत आदर्श की प्रेरणाएँ रही है। 'गाथा सप्तशती', 'आर्या सप्तशती', 'अमरुक शतक' जैसे ग्रन्थो से उन्होने भाव ग्रहण किया है। अपनी मौलिकता को सुरक्षित रखते हुए उन्होने विभिन्न सूत्रो से आधार एकत्र किए है।

सतसई की परम्परा का अध्ययन करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि यह परम्परा दीर्घकालीन तथा सुदृढ है। मुक्तक काव्य मे इसका स्थान समृद्धिपूर्ण है ही, काव्य मे भी इस परम्परा को सुनियोजित स्थान प्रदान किया गया है। मुक्तक रचना मे दोहा तथा आर्या की रचना कठिन साधना का मार्ग समझा जाता है। फलत इतनी लम्बी तथा दीर्घकालीन परम्परा के बीच आर्या तथा दोहा-प्रधान मुक्तक ग्रथो की सख्या थोडी ही गिनी जाती है। यदि केवल सतसइयो की गणना की जाए तथा आर्या और दोहा छदो की ही सतसइयो को लिया जाय तो यह सख्या और भी अल्प हो जाएगी। मुख्यत सतसई-परम्परा मे तीन ही सतसइयाँ सतसई की कसौटी पर सर्वाधिक सफल उतरती है। प्राकृत मे 'गाथा सप्तशती' अथवा 'गाहा सतसई', सस्कृत मे 'आर्या सप्तशती' तथा हिन्दी मे 'बिहारी सतसई'। वैसे 'अमरुक शतक' को भी सस्कृत मे श्रेष्ठ स्थान प्राप्त है किंतु 'अमरुक शतक' को मुक्तक काव्य के अन्तर्गत मानकर भी उसे सतसइयो से भिन्न मानना चाहिए। सख्यापरक ग्रथ होने के कारण इसकी चर्चा सतसइयो के बीच भले ही कर ली जाए किंतु आर्या तथा दोहा छद ही सतसइयो के लिए उपयुक्त छन्द सिद्ध होते है। सख्यापरक नामो मे बाह्य साम्य केवल पद्धति के अनुकरण का होता है किन्तु उनके आन्तरिक सगठन भिन्न छन्दो के माध्यम से होते रहे है। अत नामकरण की पद्धति मे साम्य देखकर इन ग्रन्थो मे साम्य पूर्णत स्थापित करना समुचित नही। हिन्दी मे जो सतसइयो का प्रचलन हुआ है, वह दोहा छद के माध्यम से हुआ है। प्राय सभी सतसइयो मे दोहा छद ही है। इस बात के अनेक स्वस्थ प्रमाण है कि हिन्दी की सतसइयाँ 'गाथा सप्तशती' और 'आर्या सप्तशती' के समीप अधिक है, अन्य ग्रथो के समीप कम तथा हिन्दी सतसई परम्परा का मूल स्रोत ये दोनो सप्तसती ग्रथ ही है। बाह्य तथा आन्तरिक दोनो प्रकार से इन रचनाओ ने हिन्दी की सतसई-परम्परा को सम्पूर्णत प्रभावित किया है और इन्हे इस परम्परा की आदि भूमि के रूप मे स्वीकार करना ही होगा।

सतसइयो मे शृगारिक भावना को जितनी विस्तृत भूमि प्राप्त हो सकी है उपदेशात्मक भावना को उतनी नही अथवा यदि दूसरे प्रकार से कहा जाय तो यह कहना समुचित जान पडता है कि सतसई की समस्त परम्परा मे शृगारप्रधान सतसइयो को प्रमुखता मिली है। सूक्ति सतसइयो का स्थान शृगारिक सतसइयो के पश्चात् आता है। परम्परा का आरम्भ हाल की 'गाथा सप्तशती' से हुआ है जो शृगारिक प्रवृत्तिकी रचना है। फलत शृगारिक सतसइयो को जितनी अधिक तथा स्वस्थ भूमिका प्राप्त हो सकी है उस अनुपात मे उनका विकसित होना आवश्यक था। यही कारण है कि शृगारिक सतसइयाँ अधिक प्रसिद्ध तथा सफल काव्यपूर्ण हो सकी है। प्राकृत की 'गाथा सप्तशती' सस्कृत की 'आर्या सप्तशती' तथा हिन्दी की 'बिहारी सतसई' तीनो ही शृगार-प्रधान सतसइयाँ अपनी भाषा का गौरव बढाती है। यदि उन्हे सतसई परम्परा मे बृहत्त्रयी के नाम से

पुकारा जाए तो वह सर्वथा उचित होगा ।

श्रृगार सतसइयो की सफलता तथा प्रमुखता का कारण उनका रस-प्रधान होना है । इसके अतिरिक्त श्रृगार रस की व्यापक पीठिका का आश्रय लेने के कारण इन सतसइयो के साहित्य के लिए विकास का समुचित क्षेत्र प्राप्त हो गया है । साहित्य-रचना के लिए यो भी श्रृगार रस का आश्रय व्यापक माना जाता रहा है किन्तु दोहा तथा आर्या जैसे छन्द के लिए तो यह सर्वथा उपयुक्त आश्रय प्रतीत होता है । रस के अधीन होकर ही छोटे छन्दो की विशेपता खुल पाती है । विहारी और मतिराम की सतसइयाँ रस से पूर्ण है कितु विहारी की प्रतिभा का सचय एक ही पर हुआ है और मतिराम की प्रतिभा कई स्थानो मे विभाजित हो गयी है । यही कारण है कि यदि दोनो को समान प्रतिभा का कवि मान लिया जाए तब भी बिहारी की सतसई मे प्रतिभा तथा साहित्य की श्रेष्ठता परिलक्षित होती है । वैसे बिहारी को प्रतिभा की दृष्टि से मतिराम से अधिक श्रेष्ठ कहा जाएगा । इतिहास मे विहारी को कवि की दृष्टि से ऊँचा स्थान मिलता आया है । विहारी ने एक सतसई के लिए साधना करके जीवन खोया नही, पाया ही है । इस दूरर्दाशता का परिचय दूसरा कोई रीति कवि नही दे सका ।

सतसई में प्रेम-वर्णन

डॉ० रामरतन भटनागर

विहारी सौन्दर्य के साथ प्रेम के भी कवि है। उनके प्रेम का आदर्श कितना ऊँचा है, यह निम्न दोहे से स्पष्ट है—

गिरि ते ऊँचे रसिक मन, बूडे जहाँ हजार।
वहै सदा पसु नरन को, प्रेमपयोधि पगार॥

—पर्वत से भी अधिक ऊँचे रसिको के मन जिस प्रेम-समुद्र मे हजारो की सख्या मे डूब गये है, वह प्रेम-समुद्र अ-रसिको को उथला लगता है।

विहारी ने साधारणत उस प्रेम का वर्णन किया है जिसका आश्रय रूप है। यहाँ हमे यह भी समझ लेना चाहिए कि बिहारी को रूप-सौन्दर्य वडा ही प्रिय है तथा कृष्ण-भक्ति मे लीला-प्रेम के बाद अथवा उतना ही कृष्ण के रूप-सौन्दर्य-प्रेम का भी स्थान था। उनकी त्रिभगी छवि मे रूप-सौन्दर्य की पूर्णता है। इस रूप-माधुरी से आकर्षित मन की दशा का वर्णन विहारी की सतसई मे कई बार आया है—

डर न टरै, नींद न परै, हरे न कालविपाक।
छिनक छाकि उछकै न फिरि, खरौ विषम छवि-छाक॥
फिर फिर चित उतही रहत, टुटी लाज की लाव।
अग अग छवि झौर में, भयो भौर की नाव॥

इस प्रेम मे विचित्रता और विवशता का भी प्रमुख स्थान है।

क्यो बसिए, क्यो निबहिए, नीति नेहपुर नाँहि।
लगालगी लोचन करै, नाहक मन बँधि जाँहि॥
छुटत न पैयत छिनिक बसि, नेह-नगर यह चाल।
मार्‍यो फिरि फिरि मारिए, खूनी फिरत खुस्याल॥
या अनुरागी चित्त की गति समुझै नहि कोय।
ज्यो-ज्यो बूड़ें श्याम रंग, त्यो-त्यो उज्ज्वल होय॥

विहारी ने जिस प्रेम का वर्णन किया है वह दृढ प्रेम है। वह क्षण-क्षण परिवर्तित

नही होता । उसमे ऐन्द्रियता नही है । वह भीतर तक प्रवेश कर जाता है—

सब ही तन समुहाति छन, चलति सबन दै पीठि ।
वाही तन ठहराति यह, किबुलनुमा लौं दीठि ॥

इस प्रेम को सन्देह, ईर्ष्या, द्वेप, ससार-भय कोई भी नही मिटा सकता—

खल-वढई वल करि थके, करै न कुवत-कुठार ।
आलबाल उर झालरी, खरी प्रेम-तरु डार ॥

इस प्रेम की चरमावस्था पर पहुँचकर प्रेमी की यह दशा होती है—

वहके सब जी की कहत, ठौर कुठौर लखै न ।
छिन औरे छिन और से, ये छवि-छाके नैन ॥

उस समय प्रिय की प्रत्येक वस्तु उसके लिए आलम्वन वन जाती है—

ऊँचे चितै सराहियत, गिरह कबूतर लेतु ।
झलकत दृग, मुलकित बदनु, तनु पुलकित, किंहि हेतु ॥

आर प्रेम का कष्ट, कष्ट नही रह जाता, वरन् प्रेमपात्र के विरह-दु ख मे प्रेमी के प्राण रहते है—

इहि काँटौ, मौ पाइ गडि, लीनी मरति जिवाइ ।
प्रीति जतावत भीति सौं, मीत जु काढ्यो आइ ॥

विहारी इस मानुपी प्रेम की उच्च तन्मयासक्ति की दशा की कल्पना करते है जव प्रिय मे तल्लीनता इतनी वढ जाती है कि प्रेमी अपने मे ही प्रेमपात्र का आरोप कर लेता है—

पिय कै ध्यान गही गही, रही वही ह्वै नारि ।
आपु आपु ही आरसी, लखि रीझति रिझवारि ॥

इससे ऊँचा प्रेम क्या होगा ?

विहारी के प्रेम-सम्वन्धी दोहो और उक्तियो को पढने से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रेम के सम्वन्ध मे उनका एक विशिष्ट दृष्टिकोण है । प्रेमी पहले सौन्दर्य से आकर्पित होता है। वह रूप-रस-गध (इन्द्रियो के विपयो) पर मुग्ध हो जाता है। उसके प्रेम मे वासना का प्राधान्य है। परन्तु धीरे-धीरे वह प्रेम भीतर प्रवेश कर जाता है। वह ऐसी वस्तु नही रहता जिसका आधार वाह्यरूप ही हो। फिर वही प्रेम प्रेमी का सर्वस्व हो जाता है। उसी मे उसकी सारी आकाक्षाएँ केन्द्रित रहती हैं ।[१] उसकी प्रत्येक वस्तु उसे प्रिय हो जाती है। उसकी उडाई हुई पतग की छाया पाने को प्रेमी दौडता है ।[२] उसकी दशा चकई की तरह हो जाती है ।[३] जैसे-जैसे विरह काट करता जाता है, समय वीतता है वैसे-वैसे

१ छला छबीले छैल को, नवल नेह लहि नारि ।
चूमति, चाहति, लाय उर, पहिरति, धरति उतारि ॥

२ उडत गुडि लखि ललन की, अगना अगना माँह ।
वौरी लौं दौरी फिरति, छुवति छवीली छाँह ॥

३ उत तें इत, इत तें उतहिं, छिनक न कहु ठहराति ।
जक न परति चकरी भई, फिर आवति फिर जाति ॥

प्रेम दृढ होता जाता है, ।[१] प्रेमी के प्राण प्रेमपात्र के हाथ मे चले जाते है ।[२] मन, वचन, कर्म, आत्मा—कुछ भी उसका नही रहता, वह सम्पूर्ण रूप से प्रेमपात्र को समर्पित हो जाता है ।[३] उसको यह दृढ निश्चय रहता है कि प्रेमी उसकी बात समझता है। इस उच्च दशा तक पहुँचकर सदेश (पत्र) का स्थान ही नही रह जाता। हृदय स्वय सदेशवाहक हो जाता है ।[४]

इस अवस्था मे यदि प्रेमपात्र से उसकी भेट हो गई तो वह उसी को देखता है, उसी के विषय मे श्रवण करता है, उसी का चितन करता है ।[५] परन्तु यदि प्रेमपात्र की भेट सम्भव भी नही हो, तो भी प्रेमी को कोई चिन्ता नही। वह प्रत्येक क्षण प्रेमपात्र के ध्यान-दर्शन मे लीन रहता है। यही उसके लिए प्रत्यक्ष दर्शन के समान वास्तविक है ।[६]

परन्तु क्या बाह्य रूप-रग ही सब-कुछ है ? बिहारी रूप-रग और सौन्दर्य के चितेरे होते हुए भी उनकी असारता जानते है। सौन्दर्य वस्तु मे नही होता, चाहनेवाले के मन मे होता है, बिहारी जैसे रसिक के लिए यह समझना कठिन नही। वे कहते है कौन जाने, कोई किसी को कब सुन्दर लगने लगे। मन की भावना है, जहाँ एक बार प्रेम उत्पन्न हुआ कि सुन्दरता बढी—

समै समै सुन्दर सबै, रूप कुरूप न कोय।
मन की रुचि जैती तितै, तित तेती छवि होय ॥

विरह-वर्णन

बिहारी का विप्रलभ काव्य भी विशद है। उसमे रूढि और परम्परा का अधिक प्रभाव पडा है। फारसी के साहित्यिक वातावरण का प्रभाव भी दृष्टिगोचर है। इन्ही कारणो से उनकी विरह-सम्बन्धी उक्तियाँ अधिकतर ऊहात्मक हो गई है। विरह-वर्णन मे बिहारी ने चमत्कार-वक्रता, व्यग्य अतिशयोक्ति और अत्युक्ति का आश्रय लिया है। उनका पद-विन्यास भी वातावरण-सृष्टि मे सहायता देता है। उदाहरण के लिए, विरह-ताप की प्रबलता के सम्बन्ध मे कई अतिशयोक्तियाँ मिलेगी—

---

१ करत जात जेती कटनि, बढ़ि रस सरिता सोत।
आलबाल उर प्रेम तरु, तितौ-तितौ दृढ होत ॥

२ मन न धरति मेरो कह्यो, तू आपने सयान।
अहै परनि पर प्रेम की, पर-हथ पारन प्रान ॥

३ कहा भयौ जो बीछुरे, मो मन तो मन साथ।
उड़ी जाति कितऊ गुड़ी, तऊ उडायक हाथ ॥

४ कागद पर लिखत न बनत, कहति सदेश लजात।
कहिहै सब तैरो हियो, मेरे हिय की बात ॥

५ "तत्प्राप्य तदेवालोकयति तदेव शृणोति तदेव चिन्त्ययति।"
(नारद भक्ति सूत्र)

६. ध्यान आनि ढिग प्रान पति, मुदित रहत दिन राति।
पल कम्पति, पुलकति पलक, पलक पसीजति जाति ॥

सीरे जतननि सिसिर रितु, सहि विरहिन-तन-ताप ।
बसिवै को ग्रीसम दिननि, पर्‌यौ परौसिनि पाप ।।
आड़े दै आले बसन, जाडे हू की राति ।
साहस कै कै नेह बस, सखी सबै ढिग जाति ।।
औंघाई सीसी सुलखि, विरह विथा बिललात ।
बीचहि सूखि गुलाब गौ, छीटौं छुई न गात ।।
जिहि निदाघ दुपहर परै, भई माह की राति ।
तिहि उसीर की रावटी, खरी आवटी जाति ।।

वियोगिनी के लिए प्राकृतिक गुण भी उलटे हो जाते है—

हौं ही बौरी बिरह बस, कै बौरौ सब गाम ।
कहा जानि ये कहत है, ससिहि सीतकर नाम ।।

प्रिय के वियोग मे वह इतनी कृश हो जाती है कि—

इत आवत चलि जात उत, चली छ-सातक हाथ ।
चढी हिंडोरे सी रहै, लगी उसासनि साथ ।।

यह कृशता की पराकाष्ठता हुई । नायिका इतनी वदल जाती हे कि सखियाँ कठिनता से पहचान पाती है या किसी विशेष सकेत आदि से ही पहचान पाती है—

कर के मीड़े कुसुम लौ, गई विरह कुम्हिलाय ।
सदा समीपिनि सखिनिहूँ, नीठि पिछानी जाय ।।

मौत को वह दिखलाई नही पडती या मौत उस तक किसी प्रकार पहुँच ही नही सकती—

करी विरह ऐसी तऊ, गैल न छाँडतु नीच ।
दीने हूँ चसमा चखनि, चाहै लखै न मीच ।।
नित ससौ हसौ वचतु, मानौ इहि अनुमान ।
विरह अगनि लपटानि सकै, झपट न मीच सिचान ।।

मरने की चेष्टा करने पर भी नायिका मर नही पाती—

मरिवै को साहस कियौ, बढ़ी विरह की पीर ।
दौरति है समुहैं ससी, सरसिज, सुरभि समीर ।।

स्पष्टत, इन दोनो मे चमत्कार की प्रवृत्ति ही अधिक है। यह उस युग का तथा विदेशी साहित्य का प्रभाव है। इस प्रकार के दोहो को हम इस तरह श्रेणीवद्ध कर सकते है—

१ कृशता-सम्वन्धी दोहे—हवा के साथ हिलना, मौत का ढूँढ न पाना ।
२ ताप-सम्वन्धी दोहे—पत्रिका का हाथ लगते जल जाना, लुओ का चलना, इत्र का शीशी से गिरते ही भाप बन जाना ।
३ निश्वास मे झूले-सा झूलना ।
४ आँसू की नदी वहा देना ।

विहारी की ये विरह-वर्णन-सम्वन्धी सूझे विदेशी प्रेम-कविता की परम्परा से

प्रभावित है । उस समय दरवारो मे फारसी भापा का प्रभाव था और विहारी का अपने वातावरण से प्रभावित हो जाना असम्भव नही हो सकता । फिर विहारी जिस मुक्तक कविता (गाथा, आर्या, अमरुक शतक) को आदर्श बनाकर चले थे, अन्तरग और बहिरग दोनो की दृष्टि से वह विदेशी कविता के बहुत निकट पडती थी ।

फारसी कविता की शैली भी मुक्तक है । छन्द का नाम गजल है । प्रत्येक गज़ल मे पाँच, सात, नौ, ग्यारह अथवा पन्द्रह शेर होते है । प्रत्येक शेर मे दो चरण (मिसरे) । गज़ल मे कई प्रकार की छन्दो का प्रयोग होता है । भापा मे काफी वैचित्र्य है । कुछ कवियो ने सीधी-सादी भापा मे प्रेम की वेदना का चित्रण किया है । परन्तु अधिकाश मे भापा की वक्रता और आलकारिक प्रयोग पाये जाते है परन्तु ऐसे स्थलो पर भी भाषा की सफाई को हाथ से नही जाने दिया जाता और मुहावरो का प्रचुर प्रयोग उस काव्य को सर्वसुगम बना देता है ।

अतरग की दृष्टि से फारसी प्रेम-कविता विरह या विप्रलम्भ प्रधान है । विरह-सम्वन्धी उक्तियो मे चमत्कार, अतिशयोक्ति, सूक्ष्मता से काम लिया गया है । सैकडो शेर प्रेमी की कृशता के सम्वन्ध मे मिलेगे । वाग्वैदग्ध्य और नाटकीयता को भी स्थान मिला है । विरह की जलन और तीव्रता की व्यजना के लिए प्रकृति को प्रेमी की निगाहो से देखा गया है । उसका स्वतन्त्र अस्तित्व नही, कवि उसे उद्दीपन के रूप मे ही सामने लाता है । प्रकृति के स्वतन्त्र चित्र बहुत कम है, जो है भी वे रूढि से प्रभावित । भावपक्ष जहाँ एक ओर सूफी-प्रेम से प्रभावित है, वहाँ दूसरी ओर लौकिक प्रेम से । सूफी-कविता मे प्रेम के खुमार या नशे (मद) का विशेष स्थान है । इसलिए फारसी साहित्य मे इस प्रकार के अनेक शेर मिलेगे । सूफी लोगो की प्रेमिका (माशूक) परमात्मा होता था । उन्हे आत्मा की कठोर साधना और कठोर विरह-वेदना को इगित करना था । इस कारण इन्होने एक नयी शैली की कल्पना की जहाँ प्रेमिका अत्यन्त कठोर है, और प्रेमी पद-पद पर बलिदान करता है । प्रेमिका की यह कठोरता सूफी-काव्य की विशेपता है , परन्तु पारलौकिक इगित के कारण यह अस्वाभाविक नही लगती । परन्तु जहाँ इस प्रकार का सदर्भ उपस्थित नही होता, वहाँ अस्वाभाविक और हास्यास्पद हो जाती है ।

परन्तु विरह दशा के ऐसे वर्णन भी मिलते है जहाँ विहारी ने स्वाभाविकता को हाथ से जाने नही दिया—

> विरह विपति दिन परत ही, तजे सुखनि सब अग ।
> रहि अबलौंऽब दुखौ भये, चलाचली जिय सग ॥
> मरन भलौ वरु विरह तें, यह विचार चित जोय ।
> मरन छुटै दुख एक कौ, विरह दुहूँ दुख होय ॥
> चलत चलत लौं ले चले, सब सुख सग लगाय ।
> ग्रीषम वासर सिसिर निशि, पिय मो पास वसाय ॥[1]

१ अहो अहो निर्भाहिमा हिमागमे पयमि प्रपेदे प्रति ता स्मरार्दिताम
तपर्तु पूर्तायपि मद सांभरा विभावरी र्निविभरा वभूविरे
(श्री हर्ष—दमयन्ती का विरह-वर्णन)

मैं लै दयौ लयौ सुकुर, छुवत छनक गौ नीर।
लाल तिहारो अरगजा, उर ह्वै लग्यौ अबीर ।।[1]

कही कही स्वाभाविकता और अतिशयोक्ति का इतना सुन्दर मेल हुआ है कि देखते ही वनता है—

सुनत पथिक मुँह माह निसि, लुएं चलति उहि गाम।
बिन बूझे बिन ही सुने, जियति विचारी बाम ।।

इस प्रकार हम देखते है कि विहारी के प्रेम का रूप अत्यन्त सुन्दर एव परिष्कृत है, यद्यपि कही कही वह अपने ऊँचे स्थान से गिर भी जाता है। ऐसा केवल वही होता है जहाँ विहारी अपने व्यक्तित्व से हट जाते है अथवा वाह्य प्रभावो से प्रभावित हो जाते हैं। ये प्रभाव तीन हैं—

१ तत्कालीन परिस्थिति का प्रभाव—

विहारी के युग की रुचि दूषित हो चुकी थी। 'अली कली सौ विंध रह्यौ'—यह दोहा उस समय की मनोवृत्ति का ठीक-ठीक चित्र हमारे सामने उपस्थित करता है। इस शृगार रुचि के अस्वस्थ होने का प्रभाव विहारी की रचना पर स्पष्ट रूप से लक्षित है, जैसे इस दोहे मे—

लरिका लेवे के मिसुनु, लगर मो ढिग आइ।
गयो अचानक आगुरी, छाती छैल छुवाइ ।।

२ साहित्य परम्परा का प्रभाव—

साहित्य परम्परा का प्रभाव कई ढग से विहारी-सतसई मे आया है। एक, उसमे शृगार के रसराजत्व पर इतना वल दिया गया है कि अन्य रसो की उपेक्षा ही नही की गई हे, उन्हे उसके मेल से दूषित वना दिया गया है। प्रमाण यह दोहा है—

विहस बुलाइ विलोकि उत, प्रौढ़ तिया रसघूमि।
पुलकि पसीजति पूत को, पिय-चूम्यौ मुख चूमि ।।

जिसमे वातसलय से शृगार की उद्‌भावना की गई है। दूसरे, उसमे प्राचीन साहित्य पद्धति को आधार मानकर सुरतारम्भ, सुरतात, विपरीतरति, गर्भिणी आदि के चित्र उपस्थित किये गए है। यद्यपि विहारी ने इन प्रसगो के अवसरो पर अत्यन्त सयम से काम लेना चाहा है, परन्तु वे स्पष्ट ही सफल नही हुए है। वे काजल की कोठरी मे घुसे है, इसीसे वे विना 'लीक लगे' नही रह सके। सूरदास के काव्य मे सुरत और विपरीत का वर्णन है, परन्तु उस पर आध्यात्मिकता के आरोपण की चेष्टा की गई है, इससे उसके दूषणो का परिहार हो जाता है। विहारी का काव्य प्रकृत-काव्य है। यद्यपि सुरत और विपरीत का भी प्रकृत जीवन मे स्थान है, परन्तु सभी प्रकृत वातो को काव्य का

---

१ घेत्तूण चुराण मुट्ठि इठि सूमसि आए वेपमाणए
मिसणे भित्ति मियअय इत्थे गन्धोदअ जा अम्
(गृहीत्वा चूर्णमुष्टि हर्षोत्सुकिताया वे पयानीया
अवकिरमीति प्रियतम हस्ते गन्धोदक जातम्।

विषय बनाया जाय, यह आवश्यक नही है । तीसरे, उस पर 'गाथा' और 'दोहा' अपभ्रंश-प्राकृत साहित्य का प्रभाव है जिससे नागरिकता से हटकर कवि सामान्य ग्राम्य जीवन की ओर मुड आये थे—

दृग थिरकौहै अधखुले, देह थकौहै ढार ।
सुरत-सुखित-सी देखियति, दुखित गरभ के भार ।।

ण विरह आइगरुएण वि तम्मइ हिअए भरेण, गवमए ।
जह विपरीअरित हुअण विअम्भि सोहण अपावन्त ।।

(गाथासप्तशती ५–८३)

चौथा प्रभाव है तत्कालीन साहित्यिक आन्दोलन का जिसके कारण शृगार रस के भावो को अलकार निरूपण और नायिका-भेद का ढाँचा भरने के लिए उपस्थित किया जाता था । यह अवश्य है कि विहारी ने अपने दोहो को अत्यत स्वतन्त्रता से बनाया और बनाते समय वे किसी रीति परम्परा से बद्ध नही हुए , परन्तु कुछ दोहो मे अवश्य नायिका-भेद और अलकार-निरूपण उनके लक्ष्य रहे है ।

३ फारसी साहित्य का प्रभाव —

फारसी साहित्य के प्रेम-निरूपण का प्रभाव कुछ दोहो मे है । इन दोहो मे बिहारी भारतीय सस्कृति से हट गये है, यह प्रभाव विशेष रूप से विरह-वर्णन पर पडा है ।

सतसई में नीति-वर्णन

डॉ० भगवतस्वरूप मिश्र

'नीति' शब्द जिन अर्थों मे प्रयुक्त होता है उन सभी के मूल मे जीवन-यात्रा को सुखपूर्वक आगे वढाने की युक्ति एव आकाक्षा का भाव अवश्य अन्तर्हित रहता है। 'ले जाना या आगे 'वढाना' यह अर्थ नीति शब्द को अपनी धातु से ही प्राप्त हुआ है । धर्म ही जीवन को आगे वढाने का मूल प्रेरक और साधन है अत मूलत धर्माचरण या कर्त्तव्या-कर्त्तव्य की विभिन्न पद्धतियाँ ही नीति है। 'एवम् कर्त्तव्यमेवम् न कर्त्तव्यमित्यात्मको यो धर्म ना नीति' नीति मजरी घाद्विवेद पर एक दूसरे प्रयोग मे धर्म और नीति के अर्थो मे एक सूक्ष्म अन्तर भी है। धर्म मे ऐहिक लाभ-हानि अथवा व्यवहार की दृष्टि हमेशा मानदण्ड नही रहती। धर्म और ऐहिक का दृष्टि मे पारस्परिक विरोध भी सम्भव है। धर्म ऐसी व्यवस्था मे लाभ-हानि या व्यवहार बुद्धि की अपेक्षा भी कर सकता है । धर्म मे अभ्युदय एव नि श्रेयस का समन्वय है। उसके स्वरूप मे चिर-न्तनता है पर नीति ऐहिक लाभ-हानि या व्यवहार बुद्धि के अनुकूल वदलती रहती है। दूसरे शब्दो मे नीति सामयिक धर्म कही जा सकती है। वह जीवन की गुत्थियो को सुल-भाने की, उसे सुखपूर्वक आगे वढाने की कोई युक्ति, उपाय या चाल भी हो सकती है। धर्माचरण के प्रकार या गुत्थियो को सुलझाने के उपाय-इन दोनो ही अर्थो के मूल मे जीवन का दृष्टिकोण नियामक वनकर रहता है। अत एक प्रकार से जीवन तथा उसके विभिन्न पक्षो के दृष्टिकोण नीति ही है। अर्थनीति, राजनीति आदि शब्दो मे नीति का यही अर्थ है। नीति का दृष्टिकोण वाला अर्थ अन्य अर्थो का नियामक होने के कारण उन सवके अन्तस्तल मे प्रवाहित रहता है। इस प्रकार कुल मिलाकर नीति के दो अर्थ है एक व्यापक और दूसरा सकुचित। मगल विधान एव धर्माचरण के विभिन्न प्रकार व्यापक अर्थ है तथा व्यवहार पटुता या कुशलता के विभिन्न उपाय युक्ति और दृष्टिकोण सकुचित। इन दोनो ही दृष्टियो से काव्य का मूल्याकन अपेक्षित है।

विहारी के नीति सम्वन्धी दोहो मे मगल विधान के किसी व्यापक, उदार एव महान् विचारधारा की अपेक्षा जीवन की सुख-सुविधा के लिए अपेक्षित व्यवहार पटुता की नीतियाँ एव सामान्य जीवन के अनुभवो को ही प्रमुख स्थान मिला है। वस्तुत विहारी

ने अपने सम्पूर्ण काव्य मे जीवन की जो कल्पना की है वह केवल हास्य-उल्लास, राग-रग एवम् भोग-विलास का ही सामान्य जीवन है। उस जीवन के कोई महान् आदर्श नही है, उसका कोई उच्च दर्शन नही है। उनके नीति सम्बन्धी दोहो की सख्या शृगार सम्बन्धी दोहो की अपेक्षा है भी बहुत कम और उनमे से शृगार के स्वर झकृत हो रहे है। अधिकाश मे तो अनेक स्थानो पर वही स्वर अधिक मुखरित प्रतीत होता है। जैसे—

सम्पति केस सुदेस नर नमत दुहुक इक जानि।
विभव सतर कुच नीच नर नरम विभव की हानि॥
जेती सपति कृपनि की तेती सूमति जोर।
बढत जात ज्यो-ज्यो उरज त्यो-त्यो होत कठोर॥
सगति दोषु लगे सबनु कहेति साचे बैन।
कुटिल बक भ्रू सग भए कुटिल बक गति नैन॥

उपरोक्त दोहो मे शृगार के स्वर इतने स्पष्ट एव मुखर है कि नीति का केवल उन पर क्षीण आवरण भर रह गया है जैसे—प्रकृति चित्रण के अनेक स्थलो पर तुलसी का हृदय प्रकृति की अपेक्षा अप्रस्तुतविधान के रूप मे लाये गए नीति-सिद्धातो मे अधिक रम गया है वैसे ही बिहारी का हृदय अप्रस्तुतविधान के लिए भी प्रयुक्त शृगार की अनुभूति मे ही अधिक रमा है। 'नही पराग नहि मधुर मधु,' 'जिन-दिन देखे वे कुसुम' जैसे प्रसिद्ध दोहो की मूल व्यजना भी वास्तव मे शृगार ही है। पर बिहारी मे शुद्ध नीति के दोहो का भी अभाव नही है। उनके विषय भी बहुविध है उन पर आगे विचार किया गया है।

किसी भी कवि पर नीति की दृष्टि से विचार करने से पूर्व नीति और काव्य के पारस्परिक सम्बन्ध को भी स्पष्ट रूप से निश्चित करके चलने की आवश्यकता है। काव्य का नीति से विषय और प्रयोजन दोनो ही दृष्टियो से सम्बन्ध है। नीति काव्य का प्रयोजन है, यह सिद्धात चाहे सर्वमान्य न हो, पर कम से कम साहित्य चितको का एक समुदाय काव्य को नीति से विच्छिन्न करके कभी नही देख सकता। 'शिवेतरक्षति तथा कान्तासम्मित' उपदेश भी काव्य के प्रधान प्रयोजनो मे से है। यह भारतीय चिन्तन की सर्वमान्य धारणा है। पाश्चात्य चिन्तको का भी एक बहुत बडा समुदाय उपदेश और नीति को काव्य का प्रमुख प्रयोजन मानता है। काव्य नीति का प्रत्यक्ष उपदेष्टा भी हो सकता है और परोक्ष प्रेरक भी। नीति के उपदेश उससे व्यजित भी हो सकते है। व्यवहार पटुता की युक्ति, चाल आदि वाले अर्थ को ध्यान मे रखकर नीति को काव्य का प्रयोजन मानने वाले समीक्षको की सख्या भले ही बहुत थोडी ही हो, उनका सिद्धान्त कम दृढ आधार भित्ति पर खडा हुआ भी माना जा सकता है। पर मगल विधान के व्यापक सिद्धान्तो के अर्थ मे नीति काव्य के मूल प्रयोजनो मे से एक है, इस सिद्धात को मानने वाले समीक्षको की सख्या कम नही है और उनके द्वारा अपनाई गई भूमि भी पर्याप्त है।

काव्य और नीति का दूसरा सम्बन्ध विषय और विषयी का है। काव्य के अन्य विषयो की तरह 'नीति भी काव्य का एक विषय है। बिहारी के परिप्रेक्ष्य मे पहले की अपेक्षा दूसरे ही पक्ष का अधिक महत्त्व है। पर इसका यह अभिप्राय नही है कि बिहारी

के काव्य का नैतिक मूल्याकन नितान्त असमीचीन एव आरोप मात्र है। हाँ, यह निश्चित है कि विहारी रूढ एव सकुचित अर्थ वाली सदाचार या धर्म-नीति के प्रत्यक्ष उपदेष्टा तो नही कहे जा सकते हैं। वे तो शृगारी जीवन के उन्मुक्त हास-विलास और उल्लास के कवि हैं। वे प्रेय के कवि हैं--श्रेय के उतने नही।

भक्ति-साहित्य ने जन-जीवन को एक उदार, व्यापक एवं स्वस्थ जीवन-दर्शन दिया। उससे मानवता के उस स्वरूप की प्रतिष्ठा हुई जिसमे आचार, व्यवहार आदि की सभी नीतियो का 'शाश्वत मगल' से समन्वय हो सका। यह जीवन-दर्शन आज भी अधिकाश भारतीयो के जीवन-मूल्यो की आधार-शिला है। यद्यपि आज आमूल क्रान्ति लाने वाले परिवर्तनो के लक्षण भी स्पष्ट दीख रहे है। मध्यकाल मे ही भक्ति, ज्ञान और वैराग्य के सम्मिलित दृष्टिकोण का एक रूप रुढिग्रस्त होकर पवित्रतावादी अतिवादिता को भी पहुँच गया तथा जीवन की सहज आकाक्षा काम और शृगार को कुत्सित कहकर अस्वाभाविक रूप से उन्हे कुचलने का दम्भ भी भरने लगा। शृगार सच्चे विरक्त के लिए चाहे आकर्षण का विषय न हो पर सामान्य जन के लिए तो वह जीवन का सहज रूप है। उसका अस्वाभाविक रीति से हनन केवल पाखण्ड है। इस शृगार के प्रति बढती हुई हीन दृष्टि तथा जीवन के सहज उल्लास के विरुद्ध बढते हुए तथाकथित पवित्रतावादी निषेधात्मक दृष्टिकोण के विरुद्ध क्रान्ति के परिणामस्वरूप ही रीतिकाल मे शृगार का नद उमड पडा था। जीवन को अति पवित्रतावादी जड कारा से मुक्ति दिलाकर जीवन के उन्मुक्त उल्लास की अनुभूति मे ही रीतिकाल का महत्त्व है। इसमे अतिरेक अवश्य हो गया था। यह बुद्धि उस जड कारा से मुक्ति दिलाने के लिए तथा तत्कालीन परि-स्थितियो मे सहज और स्वाभाविक थी। पर मूलत जीवन का शृगारमय उल्लास ही रीतिकालीन साहित्य की देन है। जीवन-मूल्य का यही स्वरूप उसके द्वारा स्वीकृत हुआ है। रीतिकाल के इस महत्त्व एव स्वरूप की प्रतिष्ठा मे विहारी का योगदान किसी से भी कम नही है। भक्ति साहित्य द्वारा उद्भावित स्वस्थ, मगलमय एव व्यापक जीवन-दर्शन को जीवित रखना, उसमे नूतन प्राण स्पन्दन फूँक सकना या उदात्त जीवन-दर्शन दे सकना तो रीतिकाल की प्रतिभाओ के लिए सम्भव न था, पर काम-भावना को दमित होकर कुण्ठा मे परिणत होने से बचा लेने का कार्य रीतिकाल ने किया। इससे जीवन पुन स्वस्थ दिशा को अपना सका। जीवन आध्यात्मिकता और पारलौकिकता मात्र को जीवन का लक्ष्य न समझकर ऐहिक जीवन के उल्लास का भी स्वागत कर सका। यह भी मगल-विधान ही है। इसका भी नीति के व्यापक स्वरूप मे अन्तर्भाव है। इसी व्यापक दृष्टि से रीतिकाल और विहारी का मूल्याकन अपेक्षित है। इस प्रकार एक सीमा तक जीवन के सहज उल्लास एव उसकी यथार्थ अनुभूति के चितेरे विहारी के काव्य का मगल के व्यापक स्वरूप से अन्तर्विरोध नही। रीतिकाल के इस नैतिक मूल्य मे विहारी का योगदान महत्त्वपूर्ण है। शृगार के प्रति बढती हुई अस्वाभाविक लज्जा एव हीन-भावना तथा तद्जनित कुण्ठा को रोकने के लिए विहारी को स्थान-स्थान पर समाज के द्वारा मान्य आचार नीति से घोषित निषिद्ध पथो का भी वर्णन करना पडा है। सयोग शृगार के नग्न-चित्रण एव परकीया प्रसग इसके प्रमाण हैं। मोटे रूप मे यह कहना भी असमी-

चीन नही है कि वे श्रृगार, नीति के प्रेरणादायक कवि तो है ही । पाठक 'श्रृगार' और 'काम कला' की व्यवहार कुशलता एव चतुराई का पाठ तो कुछ पढ ही लेता हे । रीति-काल के काव्य के मूल प्रयोजनो मे से यह भी एक प्रयोजन है । रीतिकाल के परिप्रेक्ष्य मे इस प्रयोजन का भी व्यवहारविदे मे अन्तर्भाव है । बिहारी इस क्षेत्र के सीधे उपदेशक या शिक्षक तो नही है जो काम-शास्त्र के प्रणेता की तरह आचरण का सीधा आदेश देते । पर उनका श्रृगार-चित्रण इतना आकर्षक एव सूक्ष्म निरीक्षण पर आधारित प्रतीत होता है कि पाठक मे सहज ही अनजाने मे इस कला की चतुराई के सस्कार जमा देता है । श्रृगार नीति के अतिरिक्त बिहारी समय की पहिचान, सहिष्णुता, अपने पराये का भेद ज्ञान आदि व्यवहार-पटुता के लिए अपेक्षित अन्य नीतियो की भी सामान्य प्रेरणा दे देते है ।

बिहारी के दोहो को विषय की दृष्टि से श्रृगार, भक्ति, नीति, प्रकृति आदि अनेक शीर्षको मे बॉट सकते है । पर उनका प्रधान विषय श्रृगार ही है । प्रत्येक युग की परिस्थितियाँ उस युग के साहित्य को नियन्त्रित करती हे । रीतिकाल की सामाजिक एव राजनीतिक अवस्थाओ तथा उस काल के जीवन-दर्शन ने बिहारी के नीति साहित्य को भी स्वरूप प्रदान किया है । श्रृगार भावना एव उन्मुक्त भोग की आकाक्षा उस युग के जीवन के प्रमुख स्वर है । इनके साथ ही उस काल मे राजनीतिक चेतना का भी नितान्त अभाव नही था । बिहारी का जीवन-दर्शन प्रमुखत श्रृगार भावना से ही आक्रात है पर उसमे, राजनीतिक चेतना भी स्पष्ट है । इस सबका बिहारी के नीति-साहित्य पर गहरा प्रभाव हे । बिहारी का प्रकृति चित्रण श्रृगार परक है, उसका तो उद्दीपन विभाव मे साधारणत अन्तर्भाव माना ही जा सकना है । इस प्रकार वह श्रृगार का पोषण करती है । पर बिहारी के नीति तथा भक्ति सम्बन्धी दोहो पर भी श्रृगार की गहरी छाप है । यह अस्वीकार नही किया जा सकता कि कतिपय दोहे तो नीति के आवरण मे वास्तव मे श्रृगार की ही अनुभूति है । ऊपर इस प्रसग को कई उदाहरणो से स्पष्ट किया जा चुका है । बिहारी की नीति सम्बन्धी धारणा मे काम-कला की पटुता के उपदेशो तथा युक्तियो का कम महत्त्व नही है । इस प्रकार बिहारी की श्रृगार भावना का स्वर उसके अधिकाश नीति साहित्य के मूल मे है । पर श्रृगार भावना से मुक्त दोहे भी है । धर्माचरण सामाजिक व्यवहार, राजनीति, अर्थनीति, सामान्य ज्ञान, जीवन के विश्वास आदि से सम्वन्ध रखने वाले बिहारी के नीति वाक्यो मे भी अनुभूति की तीक्ष्णता एव ज्ञान की सूक्ष्मता तथा विस्तार के दर्शन होते है ।

बिहारी के नीति साहित्य मे अपने युग का जीवन सम्बन्धी दृष्टिकोण पूर्णत ओत-प्रोत है । उससे स्पष्ट है कि बिहारी जीवन से आँख बन्द करके केवल कल्पनालोक मे श्रृगार के भावलोक मे विचरण करने वाले मात्र नही थे । उन्हे राजनीतिक पराधीनता एव समाज तथा व्यक्ति के जीवनादर्शो की पतनशीलता के प्रति सजगता भी थी । हिन्दू राजाओ मे पराधीन वृत्ति के कारण विवेक नही रह गया था । वे अपनो को ही सताने मे शूरवीरता, कर्त्तव्यपरायणता एव धर्म के दर्शन करने लगे थे । इससे बिहारी के मर्म को आघात लगा है और उससे अन्योक्ति के आवरण मे उन राजाओ को चेतावनी दी

है ।[1] वादशाह तथा देशी राजाओ के दुहरे शासन से प्रजा कितनी दुखी थी इस व्यथा की चेतना भी विहारी मे है ।[2] युग की परिस्थितियो, विहारी की अपनी अभिरुचियो तथा मुक्तक शैली ने इस मर्म-व्यथा को इतना अधिक स्पष्ट एव मुखर नही होने दिया है कि यह काव्य का एक स्वतन्त्र विषय वन पाती । इस व्यथा मे सम्पूर्ण युग को नव चेतना से अनुप्राणित कर देने की क्षमता थी । पर यह उस युग की और विहारी की शक्ति से परे की वात भी थी । उसके पास इतनी व्यापक, उदार एव महान जीवन दृष्टि तथा अन्याय के विरोध के लिए अपेक्षित आक्रोश और साहस का अभाव था । फिर भी यह अनुभूति विहारी मे नीतिकाव्य का रूप धारण किये विना भी नही रह सकती थी । मर्म को स्पर्श करने वाली उक्त प्रकार की अनुभूतियाँ जव किसी कवि मे विम्व-विधान का प्रश्रय लेकर रस-सृष्टि नही कर पाती, स्वतन्त्र काव्य नही वन पाता, सहृदयश्लाघ्यत्व के प्रधान एव स्वतन्त्र विषय नही हो पाती, जव वे स्वय नही अपितु उनके द्वारा ध्वनित एव सहज निष्कर्ष के रूप मे प्राप्त उपदेशात्मक तत्त्व ही प्रधान हो जाते है तो इस काव्य की सृष्टि नही होती अपितु कवि हृदय से नीति वाक्य ही निसृत होते है । विहारी के इस प्रकार के नीति वाक्यो के लिए भी यही वात कही जा सकती है । विहारी का यह आक्रोश, यह मर्मव्यथा जन-जागरण नही कर पाये वे जन-जीवन को वीर रस या रौद्र रस मे आह्लावित नही कर सके । इनसे या तो विवशता की अनुभूति जागी अथवा व्यवहार कुशल वनने की आकाक्षा मात्र । वह आकाक्षा ही विहारी मे नीति वन गई ।

भक्ति की तरह नीति भी अत्यन्त व्यापक भाव है । उसमे जीवन की अनेक अनुभूतियाँ पोषक होकर आ सकती है । शृगार-भक्ति, वात्सल्य-भक्ति आदि मे जैसे शृगार वात्सल्य आदि भक्ति के विषय या उपाधि मात्र है । मूलत वह अनुभूति भक्ति है । इसी प्रकार नीति भी अपने आपको अनेक उपाधियो मे अभिव्यक्त करती है । जव उत्साह, करुणा आदि स्वय प्रधान रूप से सहृदयश्लाघ्यता को प्राप्त होते है तो वीर, करुण आदि काव्यो की सृष्टि होती है । पर जव वे अनुभूतियाँ मगल या धर्म रूप नीति अथवा ऐहिक जीवन की गति को सहज और सरल वनाने के उपायो की आकाँक्षा एव उपदेशात्मकता के विषय वनकर गौण हो जाती है और अपनी रमणीयता को धर्म या नीति की रमणीयता मे पर्यवसित कर देती है तव नीति काव्य की सृष्टि होती है । इसके भी तीन स्तर हैं जैसा कि आगे स्पष्ट किया गया हे । नीति अपनी सात्त्विकता की चरम परिणति पर धर्म की ही अनुभूति हे । अत मूलत विशुद्ध एव व्यापक नीति काव्य धर्म का ही रसात्मक वोध है । ऐहिक जीवन की सुख-सुविधा के लिए अपेक्षित युक्ति या उपाय वाले अर्थ मे भी नीति काव्य स्तर पर पहुँचकर रसात्मक होती है । पर साधारणत यह स्तर सूक्ति का ही स्तर है । यह अत्यन्त स्पष्ट है कि विहारी धर्म के रसात्मक वोध वाले स्तर को

---

१ स्वारथ सुकृत न श्रम वृथा देखि विहग विचारि ।
वाज पराए पानि परि तू पछीनु न मारि ॥

२ दुसह दुराज प्रजानि कौं, क्यो न वढै अति द्वद ।
अधिक अधेरो जग करैं, मिलि मावस रवि चद ॥

तो छू भी नही सके। ऐहिक स्तर वाली नीति की भी रस के स्तर की अनुभूतियो मे प्राय विरलता ही है। वे प्रधानतः सूक्ति स्तर के कवि है।

मानव-स्वभाव एव लोक-व्यवहार के ज्ञान ने भी बिहारी को नीति के दोहो के लिए अनेक विषय दिये है, जैसे सगति का दोष, नीच का स्वभाव[१], सत्पुरुष की विनम्रता[२], धनमद, गुणो का आदर, असहृदय एव गुण-ग्राहकता से हीन व्यक्ति का आचरण[३], याचक की हीन भावना, खल से भय की नीति[४], गुणहीन का सम्मान, वैभव से बिगडा स्वभाव, अपात्र की प्रतिष्ठा, बडो की मर्यादाहीनता[५], स्वभाव की दुरतिक्रमता[६], समय का फेर,[७] अवसर की पूजा,[८] पुराणमित्येव न तु साधु सर्वम्,[९] पद का लोभ,[१०] अनुपयुक्त व्यक्ति

---

१ नए बिससिये लखि नये, दुर्जन दुसह सुभाय।
आटें परि प्रानन हरे, काटें लौं लगि पाय॥

२ नर की अरु नल नीर की गति एकै करि जोइ।
जेतौ नीचौ ह्वै चलै, ते तौ ऊँचौ होइ॥

३. को कहि सके बड़ेनु सो, लखे वडे हू भूल।
दीनै दई गुलाब की, इनु डारनु ये फूल॥

४ बसै बुराई जासु तन, ताही कौ सनमानु।
भलौ भलौ कहि छोड़िये, खोटे ग्रह जपु दानु॥

५ ओछे बड़े न ह्वै सकें, लगौ सतर ह्वै गैन।
दीरघ होंहि न नैक हूँ, फारि निहारै नैन॥

६ अरे परेखौ को करै, तुम्हीं विलोकि विचारि।
किहि नर, किहि सर राखियै, खरै बढ़ै परिवारि॥

७ मरतु प्यास पिंजरा पर्यौ, सुआ समै के फैर।
आदरु दै दै बोलियत, बायसु बलि की वेर॥

८ दिन दसु आदरु पाइकें, करि लै आपु बखानु।
जौं लगि काग सराध पखु, तौं लगि तो सनमानु॥

९ जदपि पुराने वक तऊ, सरवर निपट कुचाल।
नये भये तु कहा भयो, ये मनहरन मराल॥

१० गहै न नैकौ गुन-गरबु, हँसौ सबै ससारु।
कुच उच्च पद-लालच रहै, गरै परैं हूँ हारु॥

का साथ,[1] प्रेम की अनन्यता,[2] सच्चे प्रेमी का स्वभाव,[3] सूम का स्वभाव,[4] तुच्छ का महत्व,[5] धन-सचय,[6] आदि । बिहारी के उपर्युक्त विपयो के दोहे सूक्तियाँ है । रस-प्रवाह मे बहा देने वाली भाव प्रवणता के दर्शन इन दोहो मे प्राय दुर्लभ है । इनमे हल्की भाव-चमत्कृति के साथ जीवन के विभिन्न क्षेत्रो की दृष्टियाँ मिलती है । अत ये सूक्तियाँ ही है । इनका मूल प्रयोजन व्यवहार कुशलता का उपदेश है, इससे इन सभी का अन्तर्भाव नीति साहित्य मे हो जाता है । बिहारी का कोई उच्च एव उदात्त जीवन-दर्शन तो नही, पर उनमे व्यावहारिक जीवन के अनुभवो की समृद्धि का अभाव भी नही। यह इन नीति के दोहो से अत्यन्त स्पष्ट है । बिहारी के गणित, ज्योतिप आदि शास्त्रो के ज्ञान का प्रभाव भी इन दोहो मे मिलता है । बिहारी ने अपनी नीति सम्बन्धी दृष्टियो के प्रतिपादन मे शास्त्र-ज्ञान एव लोक प्रचलित विश्वासो का उपयोग अप्रस्तुत विधान या अलकार विधान के साधन के रूप मे किया है । इससे विपय को हृदयगम कराने मे अधिक सफलता मिल सकी है । बिहारी मे नीति के किसी भी क्षेत्र की सर्वागीणता अथवा पर्याप्त विस्तार के दर्शन नही होते । इससे आचार-नीति, कूटनीति, अर्थनीति आदि मे से किसी भी एक विषय को लेकर बिहारी का अपना स्वतत्र सर्वागीण दृष्टिकोण या दर्शन हे, ऐसा कहना सभव नही । बिहारी के इन दोहो मे उनके अनेक विपयो पर केवल फुटकर विचार मात्र है । इन दोहो मे बिहारी के सामान्य लोक व्यव-हार के ज्ञान एव व्यवहार-कुशलता के सकेत मात्र मिलते है । गुण-ग्राहकता के अभाव

---

१ जनमु जलधि, पानिपु विमलु, भौ जग आधु अपारु ।
रहै गुनी ह्वै गर पर्यौ, भलै न मुकता-हारु ।।

२ चितु दै देखि चकोर त्यो, तीजें भजै न भूख ।
चिनगी चुगै अगार की, चुगै कि चद मयूख ।।
और भी—
ढेर ढार, तेहीं ढरत, तीजें ढार ढरै न ।
क्यो हूँ आनन आन औं, नैना लागत नैन ।।

३ सरस कुसुम मडरात अलि, न झुकि झपटि लपटात ।
दरसत अति सुकुमारता, परसत मन न पत्यात ।।

४ जेती सपति कृपन कौं, तेती सूमति जोर ।
बढत जात ज्यो-ज्यो उरज, त्यो-त्यो होत कठोर ।।

५ विषम विषादित की तुषा, जिये मतीरनु सोधु ।
अमित, अपार, अगाध-जलु, मारौ मूड पयोधि ।।
और भी—
कैसैं छोटे नरनु तें, सरत वडन के काम ।
मढ्यौ दमामा जातु क्यो, कहि चूहे के चाम ।।

६ मीत न नीत गलीतु ह्वै, जो धरिये धनु जोरि ।
खाएँ खरचै जौ जुरै तौ जोरिये करोरि ।।

असहृदय व्यक्तियो के सहवास[1] तथा समय के फेर से जनित वेदना मे बिहारी की अपने व्यक्तिगत जीवन की अनुभूति भी झाँक रही है। बिहारी के सम्पूर्ण साहित्य का प्रधान स्वर तो काम-कला का उपदेश देना माना जा सकता है। पर व्यक्तिगत जीवन की व्यथा तथा उसके परिणामस्वरूप अगीकृत सहिष्णुता आदि की व्यवहार कुशलता की नीति को हम बिहारी के नीति साहित्य की प्रमुख स्थापनाओ मे स्थान दे सकते है।

अनुभूति की हृदय-स्पर्शिता तथा अभिव्यक्ति की रम्यता के स्तर के आधार पर नीति काव्य के तीन रूपो की कल्पना की जा सकती है, नीतिकाव्य, सूक्ति काव्य तथा पद्य। यह नीति काव्य का विभाजन नही अपितु उसके काव्यत्व के स्तरो का निरूपण मात्र है। शुक्लजी के शब्दो मे 'जो उक्ति हृदय मे कोई भाव जाग्रत कर दे वह तो है काव्य, जो उक्ति केवल कथन के ढग के अनूठेपन, रचना-वैचित्र्य, चमत्कार, कवि के श्रम या निपुणता के विचार मे ही प्रवृत्त करे, वह है सूक्ति। जब कोई विचार, घटना या वर्णन गद्य का आश्रय न लेकर पद्यात्मकता का आश्रय ले लेता है तब उसे हम कविता नही 'पद्य' कहते है। उसमे भाव-सौंदर्य और काव्यत्व का सस्पर्श नही हो पाता है। उसे काव्य कहना काव्य शब्द का शास्त्रीय एव वैज्ञानिक प्रयोग नही अपितु शिथिल एव अशास्त्रीय प्रयोग मात्र है। प्राचीन काल मे गणित जैसे विषय भी पद्य मे लिखे जाते थे। पर वे काव्य पद से अभिहित नही होते थे। काव्य के कुछ विषय ही अपने आप मे इतने स्थायी महत्त्व के होते है कि वे हर स्तर के कवि को सृजन की प्रेरणा देते है। काव्य की रमणीयता के दो आधार है, एक विषय और दूसरा कवित्व। नाटक के प्रसग मे इन दोनो तत्त्वो को क्रमश लोकधर्मी एव नाट्यधर्मी के नाम से अभिहित किया गया है। काव्य अथवा नाटक मे इन दोनो तत्त्वो का नितान्त पृथक्करण अथवा दोनो मे से एक का अभाव तो सभव नही। हाँ, समझने भर के लिए इनको पृथक् करके देखा जाता है और उनमे से एक का पलडा भारी भी हो सकता है। कुछ विषय ऐसे होते है जिनमे जन-मानस को तरगायित तथा जन-जीवन को प्रभावित करने की क्षमता स्वत अन्य विषयो से अधिक होती है। नीति भी उनमे से एक है। यही कारण है कि भारतीय वाङ्-मय मे नीति साहित्य का बहुत अधिक महत्त्व है। नीति-साहित्य की दृष्टि से भारतीय वाङ्-मय विश्व मे सर्वोपरि—इस बात को तो विण्टरनित्ज ने भी स्वीकार किया है। नीति की सूक्ति और पद्य स्तर की रचनाओ की भी साहित्य का पाठक उपेक्षा नही कर

---

१ कर लै सूँघि सराहि कै, रहे सबै गहि मौन।
गधी अध गुलाब को गवई गाहकु कौनु॥

रे हसा वा नगर मे जैयो आपु विचारि।
कागनि सो जिनि प्रीति करि कोकिल दई बिड़ारि॥

करि फुलेल को आचमनु मीठो कहत सराहि।
रे गधी! मति अध तू इतर दिखावत काहि॥

पाता है। यही कारण है कि नीति-साहित्य के परिपेक्ष्य मे इन तीन स्तरो का विवेचन अपेक्षाकृत अधिक समीचीन प्रतीत होता है। शृगार आदि किसी भी विषय को लेकर रची जाने वाली रचनाओ के सम्बन्ध मे काव्य के इन स्तरो की बात कही जा सकती है। पर नीति के सम्बन्ध मे इस प्रकार के स्तर-विभाजन की उपयोगिता व्यवहार की दृष्टि से अधिक है।

धर्म या मगल-रूप नीति की रमणीयता को हृदय से साक्षात्कार कराने वाले रस-सिद्ध कवि विरले होते हैं। इसके लिए जीवन की दार्शनिक एव आध्यात्मिक गहराई के साथ उसके अत्यन्त उदात्त तथा विराट् स्वरूप के हृदय से साक्षात्कार की आवश्यकता होती है। कवि को उस अनुभूति मे उस जीवन-दर्शन मे अपने अह को तदाकार करना पडता है। यह तो उपनिषदो के ऋषियो, वाल्मीकि, कालिदास, तुलसी, कबीर जैसी महान् आत्माओ के लिए ही सभव है। इसी कारण नीति क्षेत्र मे इस स्तर के कवियो की विरलता है। बिहारी इस स्तर के कवि तो नही है। उनकी नीति सम्बन्धी धारणाएँ धर्म और मगल के उस स्वरूप का साक्षात्कार नही करा पाती है। यह तो हम ऊपर भी स्पष्ट कर चुके हैं। पर बिहारी के नीति सम्बन्धी दोहो मे कतिपय ऐसे छन्द अवश्य है जिनको हम ऐहिक नीति काव्य की श्रेणी मे रख सकते है। बस, इन दोहो मे हृदय को स्पर्श करने की क्षमता अन्यो की अपेक्षा अधिक है। पर ये भी रस प्लावित एव आत्म-विभोर कर देने वाले दोहे नही है। बिहारी के दोहो मे रस-प्लावन की अपेक्षा कथन का अनूठापन ही प्राय अधिक मिलता है। शुक्ल जी ने मुक्तक रचनाओ मे रस-प्रवाह की ही नही अपितु रस के छीटो की ही स्थिति मानी है। वैसे मुक्तक रचनाओ मे भी सहृदय को रस-सिन्धु मे डुबो देने की क्षमता जाग सकती है। बिहारी के शृगारी दोहो के ऐसे उदाहरण विरल नही। बिहारी के नीति सम्बन्धी दोहो मे ऐसे प्राय नही है। इन नीति सम्बन्धी दोहो मे मूल मे भी विशुद्ध नीति की अपेक्षा शृगारिकता, व्यवहारज्ञान या राज-नीति के अनुभवो से जनित मर्मस्पर्शिता ही अपेक्षाकृत अधिक है। इससे इनमे भी मगल विधान की उच्च-भूमिका को स्पर्श कर सकने की गरिमा नही अपितु तत्कालीन नागर एव शिष्ट लोगो के लिए अपेक्षित व्यवहार-पटुता या हृदय की द्रवणशीलता भर का साक्षात्कार होता है।

नहिं पराग नहि मधुर मधु, नहि विकास इहि काल।
अली कली ही सो विध्यो, आगे कौन हवाल॥

जिन दिन देखे वे कुसुम गई सु बीति बहार।
अब अलि रही गुलाब की अपट कटीली डार॥

हल्की-सी सहानुभूति के साथ एक उपदेश की जो वृत्ति इन दोहो मे है, वही इनको नीति काव्य बना रही है अन्यथा ये शृगारी दोहे है। शृगार भावना की गूढ व्यजना का स्पर्श इनकी मार्मिकता को बढाने वाला है। इसी प्रकार अपने स्वामी को प्रसन्न करने के लिए निर्दोष एव क्षीण-शक्ति वाले अथवा अपने ही व्यक्तियो को न सताने की मर्मस्पर्शी प्रेरणा भी एक स्थान पर बिहारी ने दी है

स्वारथ सुकृत न श्रम वृथा देखि विहग विचारि ।
बाज पराए पानि परि तू पंछीनु न मारि ।।

इसमे तत्कालीन राजनीति को ध्यान मे रखते हुए जयसिंह को उपदेश भी है ।

जब कोई कवि आभ्यन्तर रमणीयता तक नही पहुँच पाता है तो उसे बाह्य सौन्दर्य से सन्तोष करना पडता है । वह भाव की रमणीयता के स्थान पर उक्ति, चमत्कार, विचारो की सूक्ष्मता, तीक्ष्णता अथवा प्रौढता के आनन्द को ही प्रतिष्ठित कर लेता है । सर्जन जब काव्य स्तर तक—रस की अवस्था तक—नही पहुँच पाता है तो चमत्कार, उक्तिवैचित्र्य या बौद्धिकता तक रह जाता है । आधुनिक साहित्य की सृजनात्मकता मे रस की भूमिका तक पहुँचने वाली रचनाओ की कमी है । वे प्राय चमत्कार या बौद्धिकता के स्तर तक ही रह जाती है । उनकी रमणीयता का मूल बौद्धिकता ही है और उनका सवेदन भी बुद्धि के स्तर तक ही रहता है, हृदय मे कम ही प्रवेश कर पाता है । जीवन की सामयिक समस्याओ पर विचार या दृष्टिकोण देना आज के साहित्य का प्रधान उद्देश्य है । अत आधुनिक साहित्य को व्यापक अर्थ मे नीति साहित्य कह सकते है । सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर आज साहित्य का मूल प्रयोजन रसबोध नही अपितु जीवन-दृष्टि देना है। इस प्रकार व्यापक अर्थ मे नीति ही उसका मुख्य प्रयोजन है। ऐसे ही स्थलो को काव्य के प्रकृत स्वरूप से पृथक् करने के लिए सूक्ति शब्द का प्रयोग करना पडता है । इससे नीचे तो कवि सूक्ति के स्तर पर भी नही टिक पाता और छद के आवरण मे उसका शुद्ध उपदेशक या चिन्तक रूप ही प्रकट हो पाता है । ऐसे सूक्ति और पद्य के स्थलो की मध्यकालीन नीति-साहित्य मे प्रचुरता है । बिहारी के नीति-साहित्य का कवित्व प्राय बौद्धिकता, चमत्कार और कथन के वैचित्र्य पर ही आधारित है । अत उनके नीति सम्बन्धी दोहो मे से अधिकाश का अन्तर्भाव सूक्तियो मे ही होता है, नीति काव्य मे नही । ऊपर हमने कतिपय ऐसे दोहो का विश्लेषण किया है जिनमे कवित्व के दर्शन होते है और वे नीति काव्य की श्रेणी मे आते है । पर ऐसे दोहो की सख्या बहुत कम है । बिहारी के कुछ दोहो मे केवल तथ्य-कथन अथवा सिद्धान्त निरूपण भर है । इनमे चमत्कार जनित हृदयस्पर्शिता का वह रूप भी नही है, जिससे उनको सूक्ति भी कहा जा सके । ऐसी रचनाओ को पद्य कहना अधिक समीचीन है। राजा, पातक और रोग की अदम्य शक्ति का निरूपण करने वाले इस दोहे मे पद्यत्व ही है ।[१] वैसे खीच-तान कर इसमे वैयक्तिक अनुभूति की ध्वनि से कवित्व का स्पर्श भी सिद्ध किया जा सकता है। पर यह अत्यन्त गूढ व्यजना का उद्घाटन भर होगा । कुछ पद्यो मे अलकार के प्रयोग से हल्का चमत्कार भी आ गया है ।[२] इससे कुछ और बढकर अन्योक्ति, अर्थान्तरन्यास आदि के आवरण मे कही हुई उक्तियाँ ऊपर से पद्य प्रतीत होती हुई भी वास्तव मे सूक्ति ही

---

१ कहै इहै सब स्रुति सुमति, इहै सयाने लोग ।
तीनदबावत निसक ही, पातक, राजा, रोग ।।

२ नए बिससिये लखि नये, दुर्जन दुसह सुभाय ।
आँटे परि प्रानन हरै, काटे लौ लगि पाय ।।

है।[१] कवित्व के स्तर की दृष्टि से विहारी के नीति सम्वन्धी दोहो को पद्य, सूक्ति और काव्य इन तीन विभागो मे वाँट ही सकते है। पर पद्यत्व के सूक्ति मे तथा सूक्ति के कवित्व मे क्रमश सक्रमण के उदाहरण भी विहारी के नीति सम्वन्धी दोहो मे मिल जाते है। इस प्रकार कवित्व के अनेक स्तरो के उदाहरण विहारी के नीति-साहित्य मे उपलब्ध है। पद्य से काव्यत्व की ओर क्रमश बढते हुए स्तर की दृष्टि से विहारी के दोहो का सकलन करने से अनेक स्तर अत्यन्त स्पष्ट दृष्टिगत होने लगते है। वैसे विहारी का मन शृगार मे जितना रमा है उतना नीति मे नही। अत उसके नीति-साहित्य मे काव्य स्तर के दोहो की विरलता और सूक्ति स्तर के दोहो का प्राचुर्य तो स्पष्ट है ही।

धर्म के रसात्मक वोध रूप नीति काव्य की तो शैली ही रसोक्ति होती है। अत शैली का प्रसाद गुण तो उस काव्य के प्राण ही है। पर ऐहिक स्तर के नीति साहित्य का प्रमुख प्रयोजन रस वोध अथवा चमत्कार सृष्टि की अपेक्षा धर्माचरण की शिक्षा अधिक होता है। इस उपदेशात्मकता तथा वौद्धिकता के कारण नीति-साहित्य का अभिव्यजना पक्ष अपेक्षाकृत अधिक सरल-स्पष्ट एव सुबोध होता है। नीति कवि गूढ व्यजना तथा लाक्षणिकता वाली शैली का प्रयोग प्राय कम ही करता है। वह व्यजना तथा लक्षणा की अपेक्षा अभिधा के क्षेत्र मे अधिक विचरण करता है। उसकी व्यजना और लक्षणा भी अगूढ ही अधिक होती है। वह उलझे हुए अलकारो अथवा अलकारो की झडी से अपनी रचना को वोझिल नही कर सकता है। कारण स्पष्ट है। नीति-काव्य का पाठक सामान्य जन होता है। थोडी सवेदन-शीलता के साथ लोक-व्यवहार के लिए अपेक्षित युक्तियो या दृष्टिकोणो को ग्रहण कर लेना अथवा उनके कथन के अनूठेपन से चमत्कृत हो जाना, यही नीति-साहित्य के पाठको से अपेक्षा है। शृगार, भक्ति, दर्शन, आदि के लिए सहृदयता और वौद्धिकता का जो स्तर तथा प्रकार अपेक्षित है, वह इस नीति-साहित्य के लिए नही। नीति-साहित्य और उसके पाठक की मूल प्रकृति ने उसे अभिव्यजना की सरलता और स्पष्टता प्रदान की है। यही कारण है कि अत्यधिक गूढ दार्शनिक अभि-रुचि, कल्पना की ऊँची उडान या वक्रोक्ति शैली का कवि प्राय नीति-साहित्य का सृजन नही करता है। अगर करता है तो वह अपेक्षाकृत वहुत ही सरल एव सुबोध स्तर पर उतर आता है। इस प्रकार रसोक्ति और स्वभावोक्ति ही वक्रोक्ति नही, नीति-साहित्य की प्रकृति के अनुरूप शैलियाँ है। यही कारण है कि विहारी भी अपने नीति के दोहो मे प्राय स्वभावोक्ति के स्तर पर ही है।

विहारी के शृगार साहित्य मे पद-पद पर परिलक्षित होने वाले भाव का गाम्भीर्य एव गूढता कल्पना की सजीवता एव उडान, कथन का अनूठापन अलकारो को सूक्ष्म व्यजना तथा भाषा की लाक्षणिकता नीति-साहित्य मे नही है। अभिव्यजना, अलकार-नियोजन, एव शब्द-चयन सभी दृष्टियो से विहारी का नीति-साहित्य अपेक्षाकृत सरल

---

१ सीतलतारु सुवास की घटै न महिमा मूर।
पीनस वारे ज्यौं तज्यो सोरा जानि कपूर॥

एव सुबोध है । शिक्षा ग्रहण करने अथवा उपदेश देने की भावना मूल मे होते हुए भी विहारी ने उपदेशात्मक शैली को नही अपनाया है । उन्होने सूक्ति अथवा अन्योक्ति पद्धति को ही ग्रहण किया है । विहारी के नीति दोहो मे अर्थान्तरन्यास, उदाहरण[1] आदि कई अलकारो का पर्याप्त प्रयोग है । पर वास्तव मे अन्योक्ति ही प्रधान है । अन्य अलकारो वाले भी कई दोहे ऐसे है जिनके मूल प्रयोजन पर विचार करने से उनमे अन्योक्ति की ध्वनि स्पष्ट परिलक्षित होती है । अन्योक्ति तो नीति साहित्य के प्राण ही है ।

बहकि बडाई आपनी कत राचति मति मूल ।
बिनु मधु मधुकर के हिये, गडे न गुडहर फूल ॥

इसमे मधुकर आदि मे श्लेष का सौन्दर्य है । पर वास्तविक सौन्दर्य अन्योक्ति के पर्यवसान मे ही है । 'जिन दिन देखे वे कुसुम', 'नहि पराग नहि मधुर मधु' 'स्वारथ सुकृत न श्रम व्यथा' आदि मे जो विहारी का कवित्व निखरा है उसका मुख्य श्रेय अन्योक्ति को ही है । विहारी की अन्योक्तियो की गणना हिन्दी साहित्य की सर्वोत्कृष्ट अन्योक्तियो मे नि सकोच की जा सकती है ।

---

१ अर्थान्तरन्यास—

बडे न हूजै गुनन विन विरद बडाई पाय ।
कहत धतूरे सो कनक गहनो गढो न जाय ॥

दृष्टान्त—

नीच हियै हुलसौ रहे गहै गेंद को पोत ।
ज्यो ज्यो माथे मारिये, त्यो त्यो ऊचो होत ॥

प्रतिवस्तूपमा,—

चटक न छॉड़त घटत हूँ सज्जन नेह गम्भीर ।
फीके परै न वरु घटै रग्यौ चोल रग चीर ॥

उदाहरण—

बुरो बुराई जो तजै तो चित खरौं सकात ।
ज्यो निकलक मयक लखि गनें लोग उतपात ॥

सतसई में प्रकृति-चित्रण

डॉ० किरणकुमारी गुप्ता

आदि मानव ने जब नेत्रोन्मीलन किया तो धरित्री ने उसे अपनी दुलार भरी गोद मे ले लिया, मृदु समीर ने झुलाया, वीचियो ने लोरियाँ गाई, अरुण ने अनुराग-रजित आलोक दिया और इन्दु-रश्मियों ने चारु चुम्बन से उसे गद्गद् कर दिया। मानव और प्रकृति का यह साहचर्य चिरन्तन हो गया। इस शाश्वत सम्बन्ध के परिवेश मे ही वह कभी उसके अभिनव शृगार पर मुग्ध होता, कभी उसकी क्षुब्ध भगिमा से भीत होता कभी नतजानु हो उससे उपदेश और आदेश प्राप्त करता, कभी अपने प्रिय के अग-प्रत्यगो का उसमे सादृश्य ढूंढता, कभी अपने प्रिय के हर्ष-विषाद को प्रकट कर हृद्-भार को हलका करता और कभी प्रकृति के अन्तर मे प्रवेश कर सूक्ष्मातिसूक्ष्म परम सत्ता का अनुभव करता। मानव का प्रकृति के प्रति यह अनेकागी सम्बन्ध सर्वदेशीय और सर्वयुगीन हो गया। युग-युग मे देश और काल की सीमा ने उसके दृष्टिकोण की दिशा भले ही परिवर्तित कर दी हो किन्तु उसका प्रवाह अवरुद्ध कभी नही हुआ।

रीतियुग सामन्तीय युग था। स्वय सम्राट् और उनके अधिकृत नृपति, उच्च पदो पर प्रतिष्ठित कर्मचारी एव भू-स्वामी सभी विलास, वैभव और ऐश्वर्य के सागर मे निमज्जित थे। जहाँगीर की विलास-प्रियता और शाहजहाँ के कला-प्रेम ने एक ओर सुरा, सुन्दरी, चषक, नृत्य, सगीत तथा ललित कलाओ को महत्त्व दिया, दूसरी ओर कलाकारो तथा काव्यकारो को प्रश्रय एव सम्मान। इस युग के काव्यकारो को कृष्णभक्त कवियो से शृगार का क्षेत्र तैयार मिल गया था। राधाकृष्ण के गूढातिगूढ परम प्रेम की मधुर वर्षा हो चुकी थी, उनके रूप सौन्दर्य के सजीव चित्र अकित हो चुके थे, इस युग के काव्यकारो ने आध्यात्मिक को भौतिक और अलौकिक को लौकिक नायक-नायिका मानकर अपने आश्रयदाताओ की प्रेयसी नायिकाओ को अपनी काव्यकला का विषय बनाया। नायिकाओ की काम-क्रीडा वकिम भ्रू-विलास, हास-परिहास, कुटिल अलक जाल, श्वास-नि श्वास, सयोग-वियोग और शृगार के विभाव, अनुभाव, सचारिभाव, हिडोला, वन विहारादि के अश्लीलतम वर्णनो से आश्रयदाताओ की रुग्ण एव जर्जर सौदर्य-प्रियता को

परितृप्त करने का प्रयास किया । ऐसे ही अस्वस्थ और रीति-बद्ध युग मे काव्य-मर्मज्ञ कविवर बिहारी का प्रादुर्भाव हुआ ।

बिहारी राजा जयसिह के आश्रित कवि थे । उनका काव्य प्राकृत जन-सुखाय था । अपने प्राकृत आश्रयदाता के वन, उपवन, पशु-पक्षी, सरोवर और राजभवन मे उनकी दृष्टि वन्दिनी थी, प्रकृति के उन्मुक्त क्षेत्र मे स्वच्छन्द विचरण के लिए न उनके पास समय था न आवश्यकता ही थी, अत प्रकृति के मुक्त वैभव का, उनके काव्य मे अपेक्षाकृत अभाव है । फिर भी उन्होने यत्र-तत्र ऋतु-वर्णन के परम्परागत वर्णन मे कही कही प्रकृति के आलम्बन रूप मे मनोमुग्धकारी सुन्दर चित्र प्रस्तुत किये है—

छवि रसाल सौरभ सने, मधुर माधवी गंध ।
ठौर ठौर झौंरत झंपत, भौर-झौर मधु अन्ध ।।

उक्त दोहे मे कवि ने वासन्ती वैभव का अत्यन्त सूक्ष्म, आकर्षक, मोहक, सहज और सश्लिष्ट चित्र अकित किया है । बसन्त की सौम्यश्री की सजीवता की अपूर्व अभिव्यक्ति है । एक दोहे मे प्रकृति की उन्मद सुषमा की इतनी प्रभावोत्पादक अभिव्यजना बिहारी जैसे काव्य-मर्मज्ञ कलाकार से ही अपेक्षित है । यद्यपि यह वर्णन यथातथ्य है किन्तु कवि की सौन्दर्य-प्रियता एव रसमयता इसी प्रकार छलक रही है जैसे अर्द्ध प्रस्फुटित कलिका मे सुरभि की व्यापकता । शृगार-रस-प्रिय वातावरण मे भी इनका प्रकृति के साथ रागात्मक सम्बन्ध स्पष्टत लक्षित होता है ।

रीतिकाल सौन्दर्य-प्रियता-विशिष्ट काल था । बिहारी इसके अपवाद नही है, किन्तु ग्रीष्म की प्रचण्डातप और पशु-पक्षियो की विकलता उनके अन्तर को आकुल कर देती और भयकर ऊष्मा से सतप्त जगत् उन्हे तपोवन के समान प्रतीत होने लगता है—

कहलाने एकत बसत, अहि-मयूर मृग बाघ ।
जगत तपोवन सो कियौ, दीरघ दाघ निदाघ ।।

पावस के घनान्धकार का भी कवि ने आलम्बन रूप मे वर्णन किया है—

पावस घन अन्धियार महँ, रह्यौ भेद नहि आनु ।
राति द्यौस जान्यौ परै, लखि चकई-चकवानु ।।

ग्रीष्म और पावस के ऋतु-वर्णन मे कवि का सूक्ष्म निरीक्षण तो व्यक्त होता है, किंतु प्रकृति के प्रति कोमल अनुभूति अथवा रागमयी दृष्टि नही लक्षित होती ।

इसी प्रकार हेमन्त मे विभावरी के बढने, कोकी के दु खित होने और शिशिर के सूर्य मे चन्द्र की सुभग शीतल किरणो का सा सुख प्राप्त करती हुई चकोरी का वर्णन अतिशयोक्तिपूर्ण होने पर भी प्रकृति के आलम्बन स्वरूप को चित्रित करता है, किन्तु उसमे परम्परा निर्वाह अधिक है सौन्दर्य कम ।

बिहारी चमत्कारवादी कवि थे । उनका सौन्दर्य-बोध अत्यन्त परिष्कृत और सूक्ष्म था । अत जहाँ कही उन्होने प्रकृति के स्वरूप मे चैतन्य की प्रतिष्ठा कर उसे अलकृत कर दिया है वहाँ प्रकृति के चित्र अनूठे है—

चुवत स्वेद मकरन्द कन, तरु-तरु तर बिरमाइ ।
आवत दक्खिन देस तैं, थक्यो बटोही बाइ ।।

शीतल-मन्द-सुगन्धित मलय-मारुत का यह रूपक मय चित्र कवि का प्रकृति के साथ रागात्मक सम्बन्ध व्यक्त करता है। "रनित भृङ्ग घटावली" और "रुक्यौ साकरे" मे भी इसी प्रकार कुंजर और तुरग के रूप मे वासन्ती वायु के अलकृत चित्र है। वसन्त की मृदुल स्निग्ध समीर कवि को इतना मुग्ध करती है कि वह उसमे नवोढा सुन्दरी की भी कल्पना कर लेता है—

लपटी पुहुप पराग पट, सनी स्वेद मकरन्द ।
आवति नारि नवोढ़ लौं, सुखद वायु गति मन्द ।।

इस दोहे मे रूपक और उपमा के सगम को सरस्वती सी चेतना और भी अधिक मनोरम वना देती है। मानव रूप के वर्णन मे नवोढा उपमान एक ओर वायु की मृदुलता व्यक्त करता है और दूसरी ओर कवि की सुकुमार अनुभूति एव अलौकिक प्रतिभा का परिचय देता है।

इसी प्रकार शरत सुन्दरी कवि के हृदय मे आनन्द और उल्लास का सचार कर देती है—

अरुन सरोरुह कर चरन, दृग खजन मुख चन्द ।
समय आइ सुन्दरि सरद, काहि न करत अनन्द ।।

आलम्बन रूप मे प्रकृति की शारदीया शोभा कवि को सवेदनशील वना देती है और उसकी स्वान्त सुखाय स्वानुभूति रस-धारा प्रवाहित कर देती है। प्रकृति के साथ ऐकात्म्य स्थापित होने पर वह प्रकृति मे मानव-चेष्टाओ का अवलोकन करने लगता है। इसी प्रकार जेठ की दुपहरी मे वृक्ष मे आयामित छाया को देखकर वह उसे भी छाया की अभिलापिणी समझ लेता है।

मानव-क्रिया-कलाप की पार्श्व-भूमि के रूप मे भी बिहारी ने प्रकृति का प्रयोग किया है। यद्यपि ऐसे वर्णन अभिसारिका नायिका के मिलन-स्थल के सकेत मात्र है तथापि उनमे प्रकृति के यथातथ्य चित्र भी उपलब्ध होते है—

गोप अथाइन तैं उठे, गोरज छाई गैल ।
चलिचलि अलि अभिसारिके, भली सझौली सैल ।।
घाम घरीक निवारिये, कलित ललित अलिपुज ।
जमुना-तीर तमाल-तरु, मिलत मालती कुज ।।

प्रथम दोहे मे अभिसारिका के प्रति दूती की उक्ति है। नायक से मिलन की पृष्ठभूमि मे गो-धूलि-वेला का यथार्थ चित्रण हुआ है, इसी प्रकार द्वितीय दोहे मे दूती का नायक के प्रति कथन है जिसमे सकेत स्थल की विजनता का वर्णन करते हुए नायक को लक्षणा द्वारा अभिसार के लिए उत्तेजित किया जा रहा है। ऐसे वर्णनो मे उक्ति वैचित्र्य के साथ-साथ प्रकृति की मनोरम झाँकियाँ प्रस्तुत की गई है। नायक-नायिका के मिलन की पार्श्व-भूमि मे अकित ये चित्र आश्रयदाताओ के उपवनो और खसखानो के अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन नही है, वरन् प्रकृति के स्वाभाविक और सहज चित्र है।

विहारी मूलत शृगारी कवि थे अत रीति परिपाटी के अनुसार उन्होने प्रकृति को मानव भावनाओ की अभिवृद्धि और मानव के शरीरावयवो के उपमान के रूप मे अधिकाशत प्रयुक्त किया है। शृगार के सयोग और विप्रलभ दोनो रूपो मे प्रकृति मानव की सवेदनाओ और भावनाओ को उद्दीप्त करती रही है। सयोग मे हिडोला, जल-क्रीडा, वन-विहार और फाग आदि प्रेमी-प्रेमिका के रतिभाव को जाग्रत करते और सात्विक भावो को उद्दीप्त करते है, किन्तु वियुक्त हो जाने पर प्रेमी-प्रेमिका की मन-स्थिति ही अन्य प्रकार की हो जाती है। सयोग मे विहारी के जल-विहार वर्णन की छटा दर्शनीय है—

छिरके नाह नवोढ दृग, कर पिचकी जल जोर।
रोचन रग लाली गई, विय तिय लोचन कोर॥

नायक-नायिका के नेत्रो मे जल छिडकता है और नायिका के नेत्रो मे अनुराग की लालिमा छा जाती है। होली के अवसर पर दोनो गुलाल भर कर एक दूसरे पर फेकना चाहते है किन्तु प्रेमातिशयता के कारण सात्विक स्वेदाधिक्य से गुलाल गीला हो जाता है और गुलाल फेकने के प्रयास मे दोनो असफल हो जाते है। रस-सिक्त नायक-नायिका को स्थूल पिचकारी की भी आवश्यकता नही रहती और वे नेत्रो से प्रेम रस की वर्षा करते है—

गिरै कपि कछु-कछु रहै, कर पसीजि लपटाइ।
लैयो मुठी गुलाल भरि, छुटत झुठी ह्वै जाइ॥
रस भिजए दोऊ दुहुन, तऊ टिकि रहे टरै न।
छवि सौं छिरकत प्रेम-रगु, भरि पिचकारी नैन॥

सयोग-वर्णन की अपेक्षा विहारी के वियोग-वर्णन के अधिक मनोरम और प्रभावशाली चित्र अकित किये है। वियोग-वर्णन कही तो रूढ और परम्परागत है, कही सवेदनात्मक और हृदय-स्पर्शी है और कही सहानुभूति-परक है। पावस ऋतु को प्राय सभी भावुक कवियो ने वियोग-व्यथा को उद्दीप्त करने वाली वर्णित किया है। कालि-दास का मेघदूत तो वर्षा के प्रथम पयोद के आगमन से उद्दीप्त यक्ष की मनोव्यथा की अश्रुलडियो से ही गुम्फित है। तुलसी जैसे मर्यादावादी भक्त के आराध्य राम को भी दु ख भार के असह्य होने पर कहना पडा था—"घन घमण्ड नभ गरजत घोरा। प्रिया हीन डरपत मन मोरा।" विहारी ने पावस को विरहियो के लिए अत्यन्त उत्पीडक चित्रित किया है। वियोगिनी नायिका पावस के प्रथम नीरद को देखकर कल्पना करती है कि ये बादल नही है वरन् धुआँ है जो विरहियो को जलाता आ रहा है। वह क्षुब्ध हो उठती है और कहती है—

कौन सुनै कासौं कहा, सुरति विसारी नाह।
बदाबदी ज्यौं लेत है, ए बदरा बदराह॥

उसे बादल भी अपने प्रियतम के समान निष्ठुर प्रतीत होते है। वियोग-सतप्ता नायिका को सम्मिलन-सुख की समस्त वस्तुएँ सन्त्रमित करती है। वह कराह उठती है—

औरै भाँति गए सबै, चौसरु, चन्दन, चन्द।
पति बिनु अति पारत बिपतु, भारत मारुत मन्द ।।

चौसर, चन्दन, चन्द्र और शीतल, मन्द पवन सभी उसकी व्यथा को उद्दीप्त करते है। इन्हे देखकर प्रियतम की स्मृति तीव्र हो जाती है। विरहोन्माद मे वसन्त का मजु मृदुल स्निग्ध शृगार भी उसे आकर्षित नही करता, समस्त कुसुमित दिशाएँ और विपिन-समाज उसे वसन्त के शर-जाल से प्रतीत होते है। उसे अनुभव होता है जैसे वायु मडल मे 'मारो-मारो' का स्वर गूँज रहा हो और वह अनाथ, निराश्रिता, निरवलम्बना सुख की खोज मे भटक रही हो —

बन-बाटनु, पिक बटपरा, लखि बिरहनु मत मैन।
'कुहौ-कुहौ' कहि-कहि उठे, करि-करि राते नैन ।।

वियोग-ज्वाला विचित्र है, जो निरन्तर अश्रु-वर्षा से बुझती नही वरन् और भी अधिक प्रज्वलित होती है। वस नेत्र प्रियतम के सम्मिलन-सुख के स्थलो को ही ढूँढते है —

जहाँ-जहाँ ठाढौ लख्यौ, सुभग स्याम सिर-मौर।
विनहू उन, छिनु गहि रहत आँखि अजौं वहि ठौर ।।

जीवन मे निराशा और निरीहता वियोगिनी को इतनी अधिक सवेदनशील और कोमल बना देती है कि प्रकृति उसके अन्तरतम की सहचरी वन जाती है। उसके दुख-सुख की साथिन प्रकृति उसके लिए सजीव और सप्राण हो जाती है, और सचेतन मानव की भाँति वह भी अपने प्रियतम वसन्त के वियोग मे दीर्घ नि श्वास लेती है। नायिका का वियोग-व्यथित हृदय अपनी सखी की पीडा से उद्विग्न हो उठता है —

नाहिन ए पावक प्रबल, लुबै चलत चहुँ पास।
मानहु विरह वसन्त के, ग्रीषम लेत उसास ।।

अपन्हुति अलकार की छटा और नायक वसन्त की विरहिणी नायिका ग्रीष्म की व्यथा दर्शनीय है।

विप्रलभ शृगार की काम दशाओ के चित्रण मे प्राय सभी शृगारी कवियो के काव्य मे ऊहात्मकता का समावेश है। बिहारी भी वियोगिनी कामोत्तप्त दशा की अभिव्यक्ति मे अपने युग की परम्परा से अछूते नही रहे है। वियोगिनी नायिका का विरह-ताप इतना अधिक बढ जाता है कि शीतोपचार के लिए प्रस्तुत गुलाब जल उसके शरीर तक पहुँच नही पाता और बीच मे ही सूख जाता है—

औंधाई सीसी, सुलखि, बिरह बरति बिललात।
बीचहीं सूखि गुलाब गौ, छीटौं छुई न गात ।।

यह तो मनोवैज्ञानिक सत्य है कि प्रिय-सान्निध्य मे सुख और उल्लास का सचार करनेवाली समस्त वस्तुएँ स्मृति को तीव्र कर, विरह-व्यथा को उद्दीप्त कर देती है। ऐसी स्थिति मे वियोगिनी नायिका अति उद्विग्न हो जाती है और 'जुगनुओ' को 'अगार' समझ लेती है। इस विरहोन्माद मे वह शशि, सरसिज और सुरभित समीर को काल के समान घातक समझ लेती है और मृत्यु की कामना करती हुई इधर-उधर

दौडने लगती है —

मरिबे कौं साहस ककै, बढ़ै विरह की पीर।
दौरति है समुहै ससी, सरसिज, सुरभि समीर ॥

नायिका का यह उन्माद अन्तत उसे निरीह और निराश्रिता बना देता है। उसका सताप उसके पालित पशु-पक्षियो तक को पीडित करता है —

कहे जु बचन बियोगिनी, विरह विकल बिललाइ।
किये न केहि अँसुआ-सहित, सुवा सु बोल सुनाइ ॥

वियोगिनी की पीडा प्रकृति के साथ एकात्म्य स्थापित कर देती है पालित शुक द्वारा कथित शब्द श्रोताओ के नेत्रो को भी अश्रुपूरित कर देते है।

इस प्रकार बिहारी ने उद्दीपन रूप मे षट्-ऋतु और प्रकृति के अन्य तत्वो का सहज चित्रण किया है। मानव ने सर्वदा हर्ष और विषाद मे प्रकृति से प्रेम और सवेदनात्मक सहानुभूति प्राप्त की है, किन्तु ऊहात्मक अभिव्यक्ति मे चमत्कार प्रदर्शन मुख्य है प्रकृति एक खिलवाड बनकर रह गई है।

बिहारी मानव-सौन्दर्य के अपूर्व पारखी थे। उन्होने उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, प्रतीप, मीलित और भ्रान्तिमान आदि अलकारो मे प्रकृति का उपमान रूप मे प्रयोग किया है। उनके अधिकाशत उपमान कवि-समय-सिद्ध है। किन्तु अपनी प्रतिभा और सूक्ष्म सौंदर्य-बोध के द्वारा उनमे नूतन कलात्मकता का समावेश कर दिया है। नख-शिख वर्णन रीति युगीन काव्यकारो का प्रिय विषय रहा है। बिहारी ने भी नायिका के अगो की सुषमा का कला-पूर्ण अलौकिक वर्णन किया है।

शरीर की कान्ति के लिए स्वर्ण, विद्युत, दीपशिखा और सोनजुही उपमानो का प्रयोग किया जाता है। बिहारी ने इन रूढि-भुक्त उपमानो को अपनी सौंदर्य-चेतना द्वारा नवीन परिवेश दे दिया है। वे पुराने होकर भी नवीन और जीर्ण भी पुष्ट है —

सोन जुही सी जगमगै, अँग-अँग जोबनु जोति।
सुरग कुसुँभी चूनरी, दुरगु देह दुति होति ॥

सोनजुही सी कान्ति को कुसुभी चुँदरी के मेल से दुरगी बना दिया है। इसी प्रकार श्वेताम्बरा नायिका की झिलमिलाती स्वर्णिम कान्ति को जल चादर मे से झिलमिलाती दीप-शिखा के समान चित्रित कर सौदर्य के प्रभाव को तीव्र कर दिया है —

सहज सेत पचतोरिया, पहरैं अति छबि होति।
जल-चादर के दीप लौं, जगमगाति तन दोति ॥

बिहारी के काव्य मे ऐसे अनेक सजीव और मोहक चित्र है। सादृश्यमूलक उपमा के ये चित्र बिहारी की अप्रतिम कला के द्योतक है।

बिहारी की उत्प्रेक्षाएँ तो और भी अधिक मनोरम है। सौदर्य-चित्रण मे उपमानो का सयोजन सुन्दर प्राकृतिक दृश्य की सृष्टि कर देता है —

छप्यौ छबीलौ मुख लसै, नीले आँचर चीर।
मनौ कलानिधि झलमलै, कालिन्दी के नीर ॥

नीलपरिधानावृता सुन्दरी नायिका की श्यामागी यमुना मे प्रतिबिम्बित चन्द्र

से तुलना कवि की प्रकृति के प्रति अनुरागमयी अनुभूति को अभिव्यक्त करती है। प्रकृति की सहज सुषमा ने कवि को मुग्ध किया, उसका अभिनव शृंगार कवि के हृत् पटल पर अंकित हो गया और नायिका के अपूर्व सौदर्य को देखकर उसकी स्मृति सजग हो उठी, उसका उल्लास मुखरित हो गया। इसी प्रकार झीने पट के घूँघट मे मीनाक्षी नायिका का भ्रू-विक्षेप और चाचल्य अनूठा दृश्य उपस्थित कर देता है —

चमचमात चंचल नयन, बिच घूंघट पट झीन।
मानहु सुर-सरिता विमल, जल उछरत जुग मीन ।।

उपमेय-उपमान मे सादृश्य और साधर्म्य का अद्भुत सयोग है।

कतिपय दोहो मे बिहारी ने मानव-सौदर्य को प्रकृति की अपेक्षा अधिक महत्त्व दिया है। ऐसा प्रतीत होता है कि ऐसे प्रसग आश्रयदाताओ और उनकी प्रेमिकाओ को प्रसन्न रखने की परवशता मे ही लिखे गए है क्योकि इस प्रकार के सादृश्य मूलक अलकारो मे कवि का उत्साह और हर्षोल्लास व्यक्त नही होता —

कहा कुसुम, कँह कौमुदी, कितिक आरसी जोति।
जाकी उजराई लखै, ऑखि ऊजरी होति ।।

ऐसे परम्परागत उपमान देवमदिर मे चढे हुए मुरझाये पुष्पो के समान है। इसी प्रकार उन्मीलित अलकार मे वर्णित निम्न प्रयोग मे भी न नवीनता हे और न लालित्य।

रच न लखियत पहरियें, कचन से तन बाल।
कुम्हिलाने जानी परै, उर चम्पे की माल ।।

वस्तुत यह तुलसीदास के सीता-सौदर्य-वर्णन की छाया मात्र है—

चपक हरवा अग मिलि, अधिक सुहाइ।
जानि परै सिय हयरे, जब मुरझाइ ।।

सादृश्य और साधर्म्य मे बिहारी ने मूर्त उपमेय के हेतु मूर्त प्राकृतिक उपमाओ को ही प्रयुक्त किया है, किन्तु वैधर्म्य की अभिव्यजना मे मूर्त और अमूर्त का अपूर्व मिश्रण है। नायिका के अमूर्त वियोग की उपमा मूर्त अग्नि से दी है, किन्तु विशेषोक्ति द्वारा दोनो मे वैधर्म्य की व्यजना कर अद्भुत रस की निष्पत्ति कर दी है—

लाल तिहारे विरह की, अगनि अनूप अपार।
सरसै बरसै नीर हूँ, झरहूँ मिटै न झार ।।

इसी प्रकार सूर की गोपियो के 'उपमा नैन न एक गही' कथन की छाया पर बिहारी की नायिका भी अपने नेत्रो का कमल के साथ वैधर्म्य व्यक्त करती है —

कहत सबै कवि कमल से, मो मत नैन पषानु।
नतरकु इन विय लगत कतु, उपजत विरह कृसानु ।।

लाक्षणिकता और साकेतिकता—बिहारी को विशेष प्रिय है। अभिधा द्वारा न तो काव्य मे सौदर्यानुभूति व्यक्त होती है और न कलात्मकता लक्षित होती है। कवि ने लक्षणा का प्रयोग सौंदर्य-वर्णन मे भी किया है और वेदना-विवृत्ति मे भी। नायिका की सखी उसके मुख की शोभा और सपत्नियो पर उसके प्रभाव को लक्षणा द्वारा

अभिव्यक्त करती है —

हा ! हा ! बदन उघारि दृग, सफल करैं सब कोइ ।
रोज सरोजन कै परै, हँसी ससी की होइ ।।

इस दोहे मे बिहारी की चामत्कारिकता प्रकट होती है। इसमे प्रतीप और अनुप्रास के अपूर्व समन्वय से लक्ष्यार्थ द्वारा नायिका की सपत्नियो का तिरस्कार किया गया है । पति के विदेश जाते समय मुग्धा नायिका के कथन मे बिहारी ने नारी हृदय की मृदुल मनोव्यथा का सवेदनात्मक चित्रण किया है ।

चलत चलत लौ लै चलै, सबु सुख सग लगाइ ।
ग्रीषम बासर, शिशिर निसि, पिय मो पास बसाइ ।।

पत्नी का विदेश जाते हुए पति के प्रति यह कथन कि तुम मुझे गर्मी के दिन और शिशिर की राते देकर जा रहे हो—लक्ष्यार्थ द्वारा व्यक्त करता है कि वियोग मे उसके लिए दिन भी बडे हो जाएँगे और राते भी। ऐसे प्रसग कवि की भावुकता, भाव प्रवणता और द्रवणशीलता के परिचायक है ।

बिहारी की अन्योक्तियो मे भी प्रकृति के उपादानो का प्रयोग किया है। ये अन्योक्तियाँ कवि की व्यक्तिगत सीमाओ को तोडकर सरिता के उद्दाम वेग की भाँति तत्कालीन राजनैतिक और सामाजिक परिस्थितियो का परोक्ष रूप मे उद्‌घाटन करती है —

जिन दिन देखे वे सुमन, गई सु बीति बहार ।
अब अलि रही गुलाब में, अपत कटीली डार ।।

यह अन्योक्ति विगलित यौवना नायिका और विगत वैभव दानी के प्रति सकेतित है। प्रकृति के माध्यम से कवि ने अपना लक्ष्य प्रकट कर दिया है। समय की परिवर्तनशीलता के प्रति कवि की व्यथा व्यक्त होती है । इसी प्रकार गुडहल के फूल को लक्षित करते हुए बिहारी कहते है—

बहकि बड़ाई आपनी, कत राचतु मति भूल ।
बिनु मधु मधुकर के हियैं, गडै न गुडहल फूल ।।

लक्ष्यार्थ मिथ्यावादी प्रशसको द्वारा प्रशसित और गर्वित व्यक्ति के प्रति है। गुण-ग्राही प्रशसक तो और ही होते है ।

आशा मनुष्य की जीवन-शक्ति है। सर्वस्व नष्ट हो जाने पर भी आशावृन्त पर जीवन पुष्प खिल ही जाता है । इसी आशय को कवि ने अली, गुलाब के मूल और वसन्त के प्रतीक द्वारा अन्योक्ति मे व्यक्त किया है —

इही आस अटक्यो रहै, अलि गुलाब के मूल ।
ह्वै है फेरि बसन्त ऋतु, इन डारनु वे फूल ।।

बिहारी का अनुभव जीवन-व्यापी था। सामन्तयुगीन वातावरण मे रहते-रहते उन्हे मानव प्रकृति और उसकी सूक्ष्मतम अन्तर्वृत्तियो का पूर्ण अनुभव था। जहाँ एक ओर उन्होने राज-दरबार मे नायक-नायिकाओ की काम क्रीडाओ और भाव भगियो का अवलोकन किया वहाँ दूसरी ओर सामाजिक एव सास्कृतिक विशेषताओ का भी

गहन एव सूक्ष्म निरीक्षण किया। उनका सवेदनशील हृदय किसी भी क्षेत्र मे अनौचित्य और विगर्हणा को न सह सका और वह स्पष्ट रूप से कटु सत्य को कहने का साहस न कर सके अत प्रकृति के माध्यम से अन्योक्तियो मे अपना आशय व्यक्त किया। वुद्धि-जीवी के लिए अन्योक्तियो मे अन्तर्निहित भाव स्पष्ट थे। 'नहि पराग नहिं मधुर मधु' अन्योक्ति के लिए तो प्रसिद्ध है कि राजा जयसिह पुन राजकार्य सभालने मे तत्पर हो गये थे।

कविवर विहारी पार्थिव सौदर्य के कवि होकर भी प्रकृति के पुजारी थे। उन्होने मुक्तक काव्य मे—और उसके एक-एक दोहे मे ही प्रकृति के सश्लिष्ट चित्र सयोजित किये है। उनके काव्य मे प्रकृति की सौम्य सुषमा, भाव सापेक्षता, सहज सुकुमारता मनोहरता और स्वाभाविकता की प्रधानता है। राज-दरवार के विलास-प्रिय वातावरण मे सीमित होकर भी उनकी दृष्टि प्रकृति की उपेक्षा नही कर सकी है।

तिरुवल्लुवर और बिहारीलाल : विरह-वर्णन की तुलना

डॉ० सु० शकर राजू नायडू

कवि की महानता का मापदण्ड यह नही है कि उसने अनेकानेक काव्यग्रथो की रचना की हो अथवा विविध विषयो और कथानको पर लेखनी चलायी हो। जिस भाव को भी कवि लिपिवद्ध करने का प्रयत्न करता है उसमे यदि सूक्ष्मातिसूक्ष्म दृष्टि एव चित्रोपमता हो तो वही श्रेष्ठ काव्य होता है। इस दृष्टिकोण से भारत की प्राचीनतम एव आधुनिक जीवित भाषा तमिल तथा हिन्दी का अन्वेषण करने पर हमे दोनो मे एक-एक सत्कवि के दर्शन होगे, और वे है—तिरुवल्लुवर एव विहारीलाल। इन्ही दोनो के एक भाव-विशेष 'प्रेम' का विश्लेषण इस अध्ययन का उद्देश्य है।

तिरुवल्लुवर और विहारीलाल मे हम अनेक प्रकार की समता देखते है। एक तो दोनो का ग्रथ एक-एक ही है और दोनो है मुक्तककार। दोनो की भाषा अति मधुर, प्रभावपूर्ण प्रसादमय है। छन्द एक का 'कुरल' है जिसमे ७ 'शीर' होते है और जो लगभग आधे दोहे के समान लम्बाई मे होता है। दोहा जैसे छोटे छन्द मे, जिसमे १३-११ १३-११ मात्राओ के केवल चार छोटे-छोटे चरण होते है, विहारी ने भाव-समुद्रो को भर दिया है। मानव-जीवन मे प्रेम का जो स्थान है और जिन-जिन रूपो मे प्रेम अपनी लीला को प्रस्फुटित करता है, उन्हे अपनी पैनी दृष्टि से परख कर उनमे भव्य कल्पना का पुट देकर यथोचित रूप मे भाषाबद्ध करने की प्रखर शक्ति उन दोनो मे थी। 'तिरुक्कुरल' के तृतीय अर्थात् अन्तिम भाग 'प्रेम खण्ड' तथा 'विहारी-सतसई' के अध्ययन से उन दोनो की अपार शक्ति का अवलोकन किया जा सकता है।

तिरुवल्लुवर की प्रेम-पद्धति के दो भाग है—'कववियल' (अविवाहित प्रेम) एव 'कर्प्पियल' (विवाहित प्रेम)। दोनो अवस्थाओ मे सयोग एव वियोग सम्भव है। 'सतीत्व' (कर्पु) सिद्ध हो जाने पर अविवाहित प्रेम दाम्पत्य प्रेम (विवाहित) बन जाता है। (सयोग की अपेक्षा वियोग अधिक प्रभावपूर्ण है, हमारे दोनो ही कवि वियोग-वर्णन मे अपूर्व सिद्ध होते है)।

नायक अपनी प्रिया का सर्वस्व है, परन्तु उसको जीवन मे अनेक प्रकार के कार्य करने होते है। विशेष-अध्ययन, धनार्जन, राज-सेवा, समाज-सेवा अथवा अन्य किसी कारण से उसे कभी अपनी प्रिया से अलग होना ही पडता है, और प्रिया का प्रेमी से वियोग हो जाता है। इस वियोगावस्था का वर्णन तिरुवल्लुवर ने 'कर्प्पियल्' मे किया है।

जाते समय नायक अपनी नायिका के सम्मुख जाकर उसकी ओर देखता है। नायिका उससे कहती है—

"न जाने का विचार हो तो मुझसे कहे, और यदि जाकर लौटने का विचार हो तो उनसे कहे जो आपके आगमन के अनन्तर जीवित रहेगे।"—(कुरल ११५१)

भाव यह है कि नायक के प्रस्थान के साथ-साथ नायिका के प्राण भी प्रस्थान कर जाएँगे। नायिका यह सुनने के लिए भी तैयार नही है कि नायक का उससे वियोग होने वाला है। वह फिर कहती है कि उन्हे जाने से रोक लो, अन्यथा मेरे प्राण पखेरू भी उड जाएँगे। (कुरल ११५५) सतसई की नायिका की भी कुछ ऐसी ही दशा है। प्रिय-तम चले गये, और उस प्रिया के प्राण उडना ही चाहते है। उसे जीवित रखने के लिए एक ही उपाय रह गया है।

दुसह विरह दारुन दसा, रह्यो न और उपाय।
जात जात जिय राखिये, पिय की बात सुनाय।।

तिरुवल्लुवर इस प्रेम-जनित विरह की विशिष्टता को स्पष्ट करते हुए कहते है कि "आग किसी को छूने पर जलाती है, पर वह क्या काम-रोग के समान बिछुडने पर भी जला सकती है ?" (कुरल ११५९)

तात्पर्य यह कि काम-ज्वर की अग्नि साधारण अग्नि से भयकर होती है। यही प्रेमाग्नि प्रिया को प्रियतम के बिछुडते ही भस्मीभूत कर देती है।

विरहिणी नायिका मे प्रेमाधिक्य का होना स्वाभाविक ही है। उसे वह अन्य सखी-सहेलियो से, अथवा घर के व्यक्तियो से गुप्त ही रखना चाहती है, परन्तु इसमे वह सर्वथा असमर्थ रहती है—

"अपने ज्वर की पीडा को गुप्त रखना चाहती हूँ। परन्तु ये (नेत्र) कुएँ के सोते के जल के समान रिक्त किये जाने पर भी पुन भर ही जाते है।" (कुरल ११६१)

इसे देख लोगो को वस्तु-स्थिति का भान स्पष्टत हो जाता है। बिहारी ने इसी भाव को अनुमान अलकार मे इस प्रकार व्यक्त किया है—

"प्रेम अडोल डुलै नही, मुख बोलै अनखाय।
चित उनकी मूरति बसी, चितवन माँहि लखाय।।

बिहारी ने इस वियोग जनित अश्रुप्रवाह का अपनी कल्पना मे जैसा विश्व रूप देखा उसे भी देखिये—

"गोपिन के अँसुवन भरी, सदा असोस अपार।
डगर डगर नै ह्वै रही, बगर बगर के बार।।"

हाँ, तिरुवल्लुवर स्वाभाविकता के निकट हैं, और बिहारी मे कुछ अतिशयोक्ति अवश्य है।

तिरुवल्लुवर का विचार है कि सयोग-सुख मे वियोग-दुख तीव्रतर होता है। उनके अनुसार "विवाहित जीवन का आनन्द-सागर अवश्य विशाल होता है, परन्तु उससे कही अधिक विशाल होता है विरह-वेदना का।" (कुरल ११६६)

इस दुख को मिटाने के लिए एक ही मार्ग है। वेदना उत्पन्न होती है तब, जब

कि मन प्रियतम का विचार करता है। अत "यदि मन के समान नेत्र भी प्रेमी के पास पहुँच जाय तो इन्हे (नेत्रो को) इस प्रकार विशुद्ध जल की वेगवती धारा मे तैरने की आवश्यकता न हो।" (कुरल, ११७०)

विहारीलाल इसी प्रयत्न मे एक हद तक सफल भी हुए है। प्रियतम तो नही परन्तु प्रियतम की एक वस्तु की परछाँई पहुँच कर नायिका को विचलित कर देती है—

गुड उडी लखि लाल की अँगना अँगना माँह।
बौरी लौं दौरी फिरति, छुवति छबीली छाँह।।

मनोविज्ञान का एक साधारण नियम यह है कि जो दु ख पहुँचाता है, उसे दु खी देखकर मानव को सुख प्राप्त होता हे। इसी सिद्धान्त के आधार पर, नायिका के मन को दु ख पहुँचाने वाले हैं उसी के नेत्र, और जब नायक को नेत्र नही देख पाते तो वे ही नेत्र दु खित होकर विलाप करने लगते हे। इसे देख नायिका का मन प्रसन्न है—

"हाँ, मैं वस्तुत अति प्रसन्न हूँ कि मेरी विरह-वेदना के आधार वे ही नेत्र अब स्वय दु खी है।" (कुरल, ११७६)

विहारी ने इनी का सिद्धान्त-सूत्र इस प्रकार प्रस्तुत किया है—

क्यो वसिये, क्यो निवहिये, नीति नेह पुर नाँहि।
लगा लगी लोयन करें, नाहक मन वँधि जाँहि।।

इस वन्धन के कारण नेत्र ही हैं। अत नेत्रो के दु खित होने पर मन, मानो, प्रसन्न है। तात्पर्य यही है कि प्रियतम के वियोग मे नायिका के नेत्र सदा सजल रहते है।

प्रियतम प्रिया को छोड उसे प्रोपित-पतिका बनाकर चले गये। जाते समय वे क्या-क्या ले गये और वदले मे प्रिया लो क्या-क्या दे गये, इसे तिरुवल्लुवर से सुनिये—

'सौन्दर्य और लज्जा तो वे ले गये और वदले मे विरह-वेदना और पीलापन मुझे दे गये।" (कुरल, ११८३)

विरह मे नायिका का सारा सौन्दर्य नष्ट हो गया है। स्थान-कुस्थान का, समय-कुसमय का विचार तज कर उसके शरीर के अवयव अनुचित गति को प्राप्त होते है। विरह-ताप के फलस्वरूप शरीर क्षीण, और सुन्दर वर्ण फीका पडने लगता है—

हौं हिय रहति हुई छई, नई जुगति जग जोय।
आँखिन आँखि लगे खरी, देह दूवरी होय।।

विरहिणी नायिका का जीवन इसी प्रकार व्यतीत होता है, और वह एकान्त मे अपने विगत जीवन का स्मरण करके रोती है। जागृत अवस्था मे तो लेशमात्र भी नही। पर हाँ, स्वप्न मे अवश्य कुछ शाति प्राप्त होती है—

"जागृत अवस्था मे न आने वाले मेरे प्रियतम को मेरे पास लाने के कारण मुझे स्वप्न से विशेप प्रेम है।" (कुरल, १२१४)

इसी की, मानो, व्याख्या करते हुए विहारी कहते है—

सुख सो वीती सव निसा, मनु सोये मिलि साथ।
मूका मेलि गहे जु छिन, हाथ न छोडे हाथ।।

तिरुक्कुरल मे, प्रिया अपनी सखी से कहती है—

"वे स्वप्न मे तो मेरे वक्षस्थल का आलिंगन करते है, परन्तु जगते ही वक्षस्थल के अन्दर शीघ्र प्रवेश कर जाते हैं।" (कुरल १२१८)

यह मानो विहारी के ही निम्न प्रश्न का उत्तर है—

"देखो जागि त वैसिये, साँकर लगी कपाट।
कित ह्वै आवत, जाति भजि, को जानै केहि बाट।।"

जव कमरे का कपाट ही वन्द है तो न मालूम किस अज्ञात मार्ग से नायक आता है और भाग जाता है ? बिहारी के इस प्रश्न का मानो उत्तर तिरुवल्लुवर ने इस प्रकार दिया कि वह प्रियतम के वक्षस्थल के भीतर से आता है और वही छुप जाता है क्योकि वही उसका स्थायी निवास स्थान है। (कुरल १२०४, १२०५)

तिरुवल्लुवर का यह निश्चय है कि—

"जो स्वप्न मे अपने प्रिय के दर्शन नही करती वे ही जागृतावस्था मे अपने प्रिय को निष्ठुर कहती है।" (कुरल १२१९)

प्रेमियो को वियोगावस्था मे समदु खियो को देखकर सान्त्वनात्मक सुख, तथा सयोगावस्था मे जिन वस्तुओ से सुख प्राप्त होता था उनको देखकर दु ख होता है। तिरुवकुरल मे नायक मदप्रभ सायकाल को देखकर ही कुछ सतोष का अनुभव कर रहा है—

"हे मदप्रभ-सायकाल ! चिरजीव रहो। क्या कारण है कि तुम भी मेरे समान पीले पड गये हो और तुम्हारे नेत्रो की द्युति भी मद पड गई है ? क्या, तुम्हारी प्रियतमा भी मेरी प्रियतमा के समान निष्ठुर है ?" (कुरल १२२२)

विहारी कहते है कि विरहिणी नायिका को अग्निवर्षा से मेघ-वर्षा अधिक दु खद लगती है—

पावक-झर ते मेघ-झर, दाहक दुसह विशेष।
दहै देह वाके परस, याहि दृगन के देख।।

दोनो कवियो के भाव का आधार विरह-वेदना का आधिक्य ही है। इसी को प्रकृति की विभिन्न अवस्थाओ को लेकर दोनो ने साहित्यिक ढग से चित्रित किया है।

नायिका को नायक वियोग के द्वारा कितना ही दु ख क्यो न पहुँचावे, पर वह 'निष्ठुर' प्रेमी आखिर तक 'प्रेमी' ही है। नायिका औरो के द्वारा अपने प्रियतम को 'निष्ठुर' कहे जाते हुए नही सुन सकती।

"विरह-वेदना के फलस्वरूप मेरे वाहु इतने क्षीण पड गये है कि कडे खिसक कर गिरे पडते है, पर इतने पर भी यदि कोई मेरे प्रियतम को निष्ठुर कहता है तो मुझसे नही सुना जाता।" (कुरल १२३६)

विरह-ताप के कारण नायिका का शरीर क्रमश क्षीण होता गया, और स्थिति यहाँ तक पहुँच गई कि आभूषण आदि भी शारीरिक दौर्बल्य के कारण खिसक पडते है। सतसई की विरहिणी नायिका की स्थिति अत्यन्त ही दयनीय है—

नेकु न जानी परत यो, परयो विरह तन छाम।
उठति दिया लौ नादि हरि, लिये तिहारो नाम।।

प्रियतम के अधिक काल तक अनुपस्थित रहने के कारण प्रियतमा इधर क्षीण-काय हो अनेक प्रकार के शारीरिक और मानसिक दु खो को भोग रही है। प्रियतम उधर अपने अभीष्ट कार्य मे इस प्रकार व्यस्त है कि मानो अपनी प्रियतमा का उन्हे स्मरण भी भी नही है। अबला का दु ख दिनो-दिन बढता ही जाता रहा है। सान्त्वना देने के लिए पास कोई नही है। इतना होने पर भी मन उन्ही के लिए दु खित हो रहा है। इस विषम परिस्थिति को देखकर प्रोपितपतिका कहती है—

"हे मेरे हृदय ! तुम चिरजीव रहो। तुम इतने वुद्धिमान हो कि जो तुम से प्रेम नही करता उस प्रियतम के लिए दु खित हो रहे हो।" (कुरल १२४२)

प्रिया वस्तुत इस वात से प्रसन्न हो रही है कि उसकी विरह-वेदना से कदाचित् अनभिज्ञ प्रियतम से भी उसका मन प्रेम को स्थाई रूप से बनाये हुए है, क्योकि यथार्थ मे गरज प्रेमिका की ही है। इसी भाव को बिहारी किस सुन्दरता से चित्रित करते है—

अपनी गरजनि बोलियत, कहा निहोरो तोहिं।
तू प्यारो मो जीव को, मो जिय प्यारो मोहिं॥

मानो तिरुवल्लुवर के ही उक्त कथन का उत्तर बिहारी ने दिया हो।

इस स्थिति से अव रक्षा कैसे प्राप्त हो, यह नायिका के सामने प्रश्न है, क्योकि उससे अब और वियोग नही सहा जायगा। सखी-सहेली, वन्धु-वान्धुवो ने साथ छोड ही दिया, और उन्ही के वीच मे नायिका अपने मन को लिए अकथ वेदना का अनुभव कर रही है। उसे एक ही उपाय सूझता है, और अपने मानस को सवोधित करके कहती है—

"हे मेरे मानस ! काम को छोड दे, अन्यथा लज्जा को तज दे। मुझ से दोनो का भार नही सहा जाता।" (कुरल १२४७)

वेचारी अबला दोनो का भार सहे भी कैसे ? एक ओर कामाग्नि जलाये जा रही है, और दूसरी ओर लज्जा के कारण वह न वाहर निकल सकती है और न किसी मे अपनी अभिलाषा को व्यक्त कर सकती है। परिस्थिति वस्तुत अत्यन्त ही विपम है। काम और लज्जा दोनो समान रूप से अपनी उच्च अवस्था मे है। इसी भाव को मुग्धा नायिका के सवध मे बिहारी इस प्रकार व्यक्त करते है—

समरस समर सकोच बस, बिबिस न ठिकु ठहराय।
फिरि फिरि उझकति फिरि दुरति, दुरि दुरि झमकति जाय॥

कुरल की नायिका ने ऊपर स्पष्ट कर दिया है कि इस समय स्थिति यहाँ तक पहुँच चुकी है कि काम और लज्जा मे से एक के भार को उतारे विना कार्य नही चल सकता। अत अन्त मे एक निश्चय पर आती है। काम को तो कदापि नही छोड सकती, अत लज्जा को जवाव देना पडता है। *काम लज्जा से कही अधिक वलवान जो ठहरा !* वह कहती है—

"आवेगपूर्ण काम ने मेरी स्त्रियोचित लज्जा की चटकनी से वद शिष्टता के द्वार को तोड दिया है।" (कुरल १२५१)

प्रियतम के विरह मे पडी-पडी, उनकी वाट जोहते-जोहते, प्रिया की क्या गति हुई। इसका वर्णन करते हुए तिरुवल्लुवर कहते है—

"प्रियतम की राह देखते-देखते नेत्रो की शक्ति जाती रही और दिन गिनते-गिनते उँगलियाँ घिस गई।" (कुरल १२६१)

तमिलनाड मे एक पद्धति-विशेष यह है कि दिनो की सख्या गिननी हो तो दीवार पर प्रति दिन एक लकीर उँगली से खीचते जाते है, और अत मे सब लकीरो को गिन कर कुल का पता लगा लिया जाता है। इसी प्रकार कोमलागी नायिका ने अपनी क्षीण होती हुई उँगलियाँ, रेखाएँ खीच-खीच कर, घिस डाली है। अब अवधि निकट आ रही है और पुनर्मिलन की आशा भी अधिक हो रही है—

"बिछुडे हुए प्रियतम के पुनर्मिलन की आशा के अधिक होने के साथ-साथ मेरा वक्षस्थल भी ऊपर उठता जाता है।" (कुरल १२६४)

बिहारी ने भी इसी आशय का वर्णन करते हुए लिखा है—

ज्यो ज्यो आवति निकट निसि, त्यो त्यो खरी उताल।
झमकि झमकि टहले करै, लगी रहँचटे बाल॥
मृगनैनी दृग की फरक, उर उछाह तन फूल।
बिन ही पिय आगम उमगि, पलटन लगी दुकूल॥

प्रियतमा को उमग मे भरी हुई देखकर उसकी सखियाँ मीठी चुटकी ले रही है। वस्तुत नायिका अपने भाव को छिपाना चाहती है, परन्तु नही छिपा पाती। सखी कहती है,

"तुम्हारे कहे बिना, छिपाने पर भी, तुम्हे पार करके तुम्हारी आँखे कुछ कह रही है।' (कुरल १२७१)

यहाँ 'कुछ' शब्द ध्यान देने योग्य है। उसी मे एक विशिष्ट भाव छिपा है। यही भाव बिहारी से लीजिये—

वहकै सब जिय की कहत, ठौर कुठौर लखै न।
छिन औरै छिन और हैं, ये छबि छाके नैन॥

मानसिक भावनाओ को व्यक्त करनेवाले शरीर के प्रधान अग 'नेत्र' ही है। उनकी चलाचली, उनका निर्निमेष रहना, उनका चुभना, उनमे से निरन्तर जल प्रवाहित होना, उनका उनीदापन, उनकी तिरछी नजर, और न मालूम क्या क्या ? ये सब नेत्रो के बिना कहे व्यक्ति के मन मे उपस्थित भावो को अभिव्यक्त करने की विविध प्रणालियाँ है। इसके पश्चात् स्थान आता है 'मुँह' का। वाक्-शक्ति से यहाँ तात्पर्य नही है। यहाँ मुँह की उस प्रणाली से तात्पर्य है जो वाक्-शक्ति को भी मात कर देती है। वही है कामिनी का 'हास्य'। इसमे अन्य व्यक्ति को वशीभूत करने की अपार शक्ति निहित रहती है। तिरुवल्लुवर कहते है—

'कली मे जिस प्रकार सुगन्धि उपस्थित रहती है उसी प्रकार उस कामिनी के हास्य मे भी कुछ गुप्त है।" (कुरल १२७४)

क्या वस्तु गुप्त है, इसकी कल्पना तिरुवल्लुवर पाठको पर ही छोड देते है। इस प्रकार भाव-वस्तु को अर्धाग व्यक्त और अर्धाग अव्यक्त रखने मे ही तो सौंदर्य निहित है। यदि भाव पूर्णत व्यक्त कर दिया जाता तो भाव-सौंदर्य कुठित हो जाता।

जब नायक एव नायिका इस प्रकार असहनीय वेदना मे हो तो तिरुवल्लुवर उन्हे एक शिक्षा देते है। स्त्री के पक्ष मे, कदाचित्, यह उपदेश अधिक सार्थक है—

"स्त्री का प्रेम यदि तालवृक्ष से भी अधिक उठ जाय तो वह अपने प्रेमी से अपने हृदय को लेशमात्र भी छिपाये बिना व्यक्त कर दे।" (कुरल १२८२)

इसी उपदेश को स्वीकार करके प्रेमिका प्रियतम के पास जाती है, और अपने विचारो को व्यक्त करने से पूर्व दो-चार खरी-खरी सुना कर कुछ 'प्रणयकलह' भी करना चाहती है। परन्तु प्रियतम के सम्मुख पहुँचते ही वह 'वह' नही रहती—

"हे सखी, मैं तो गई उनसे कलह करने, परन्तु (उन्हे देखते ही) उसे भूल, हृदय ने सुलह कर ली।" (कुरल १२८४)

और वह भी बिना किसी शर्त के यही भाव दूसरे रूप मे बिहारी ने इस प्रकार व्यक्त किया है —

सतर भौंह रूखे बचन, करत कठिन मन नीठि।
कहा करौं ह्वै जाति हरि, हेरि हँसौ हीं डीठि॥
दहै निगोडे नैन ये, गहै न चेत अचेत।
हौं कसुकै रिसहै करौ, ये निसिखे हँसि देत॥

तिरुवल्लुवर कहते है कि प्रेमिका का हृदय अपने प्रियतम के गुणो को ही देखता है, दोषो को नही—"जिस प्रकार नेत्रो को अजन से रजित करते समय नेत्र तूलिका को नही देखते उसी प्रकार प्रिय को देखते समय हृदय उनके दोषो को नही देखता।"

(कुरल १२८५)

हॉ, यह स्वाभाविक ही है। जो अपने होते है, उनके दोष नही दीखते। यह देखनेवाले की आँख और मन पर ही निर्भर रहता है।

पुर्नमिलन की भी आशा करते-करते दिन अधिक व्यतीत हो गये। प्रियतम नही आये। बिचारी क्या करे? अपने ही मन से कहती है —

'हे मेरे मन! यह जानकर भी कि वे अपना ही विचार सदा करते है, तू क्यो उनके ही ध्यान मे निरन्तर मग्न रहता है?' (कुरल १२९१)

'हे मेरे हृदय! तू मुझे छोड झट उनके पीछे क्यो भाग जाता है? क्या इसलिये कि गिरे हुओ का सहायक ससार मे कोई नही होता? (कुरल १२९३)

इस प्रकार अनेकानेक रूपो मे विरहिणी नायिका प्रियतम का ध्यान करके विलाप-प्रलाप करती रहती है। अधिक समय के अवसान के पश्चात् किसी प्रकार प्रियतम का आगमन होता है और दोनो आनन्द से जीवन व्यतीत करते है।

इस जीवन मे दाम्पत्य सुख की कोई कमी नही है। परन्तु यह सुख तभी सजीव बना रहता है जब बीच बीच मे 'प्रणयमान' का दौरा भी चलता रहे। अत तिरुवल्लुवर ने इस 'प्रणयमान' के आधार पर 'कामत्तुप्पाल' के अतिम तीन अध्यायो की रचना की है।

वे कहते है —

'नमक के समान प्रणयमान भी उचित मात्रा मे आनन्ददायक होता है। पर हाँ,

तनिक भी अधिक होने पर सारा मजा किरकिरा पड जाता है।' (कुरल १३०२)

'बीच बीच मे दम्पति मे तनिक रोष एव प्रणयमान न हो तो कामफल या तो गल जायगा अथवा कच्चा ही रह जायगा।' (कुरल १३०६)

बिहारी ने भी कहा है—

सकत न तुव ताते बचन, मो रस को रस खोय।
खिन खिन औटे खीर लौं, खरो सवा दिल होय ।।

'ताते वचनो' से नायक-नायिका का प्रेम 'खिन-खिन औटे खीर' के समान स्वादिष्ट ही होता जाता है।

प्रणयमान के अनेक रूप हो सकते है। साधारण से साधारण बात भी मुख से निकलने पर यह सभव है। प्रणयकलह के कारणो के आधार पर ही प्रेम की मात्रा की कल्पना हो सकती है। एक कुरल इस प्रकार है—

'प्रेमी का यह कथन कि इस जन्म मे कभी हम पृथक् न होगे, सुनते ही प्रिया के नेत्र अश्रुपूर्ण हो गये।' (कुरल १३१५)

प्रिया यहाँ 'मान' कर बैठती है केवल इस कथन पर, कि प्रिय ने केवल इस जन्म का सकेत अपने शब्दो मे किया, अर्थात् मानो आगामी जन्म मे पृथक् हो जाएँगे। इसी भय के फलस्वरूप नायिका रोती है और प्रणयमान कर बैठती है। वस्तुत इसका विचार प्रियतम को लेशमात्र भी नही रहा होगा।

एक और कुरल की सूक्ष्म कल्पना का दर्शन कीजिये। नायक कहता है—

"मैने प्रिया से कहा कि (बिछुडे हुए उन दिनो मे) तुम्हारा स्मरण आया। बस (जो मेरा आलिगन करनेवाली थी) तुरन्त अलग और दुखित हो बोली, तात्पर्य यह कि कभी मुझे भूले भी रहे।' (कुरल १३१६)

नायिका इसी पर दु खित हो प्रणयमान कर बैठती है। कारण देखिये, कैसे साधारण शब्द ! और वे भी नायक के प्रेम से ओतप्रोत ! परन्तु यही नायिका के प्रणयमान का भी साधन हो जाता है। कविवर की सूक्ष्म भावना यही व्यजित होती है। प्रणयकलह के कारणो मे से एक 'छीक' भी है। माना जाता है कि छीक तब तक आती है जब कोई किसी का विचार करता है। इसी प्रचलित भावना के आधार पर तिरुवल्लुवर ने अनेक सुन्दर कुरलो की रचना की। नायक कहता है—

"मुझे छीक आ गई। प्रिया ने मुझे इस पर आशीश दिया और विलाप करके पूछने लगी कि किस महिला ने आपका स्मरण किया कि आपको छीक आई ?"

(कुरल १३१७)

बिचारा नायक इसका क्या उत्तर दे ? यही परिस्थिति बिहारी के सामने भी है। छीक का काम यहाँ 'श्रुतिमनि झलक कपोल' ने इस प्रकार किया—

तेह तरेरे त्यौर करि, कत करियत दृग लोल ।
लीक नहीं यह पीक की, श्रुतिमनि झलक कपोल ।।

यहाँ भ्रान्ति के आधार पर नायिका की भौहें चढ जाती है, और नेत्र चचल हो उठते है।

एक दूसरे कुरल मे नायक फिर कहता है—

"मुझे छीक आ रही थी, पर मैने उसे रोक लिया। (कारण यही कि कही छीकने पर प्रिया रुष्ट न हो जाय) इसे देख मेरी प्रिया रोई और कहने लगी कि अपने दिल की दूसरी प्रेमिका को मुझसे आप छिपाते है।" (कुरल १३१८)

प्रणयकलह के आधार का इससे अधिक सूक्ष्म वर्णन और हो ही क्या सकता है ! छीको तो दोषारोपण, और आती हुई छीक को रोको तो उससे बढकर दोषारोपण ! प्रेम दो हृदयो के सामीप्य का सहज परिणाम है। परिपक्व फल के समान तनिक सी ठेस से भी इसको क्षति पहुँच सकती है।

राधा-नागरी की कलावती शिष्याएँ

डॉ० ओम्प्रकाश

विहारी की मुख्य व्यक्तिगत विशेषता उनकी 'नागरता' है जो उनके काव्य को 'गँवई, गाँव' के वातावरण से सहज पृथक् कर देती है। उनकी दृष्टि मे समाज के दो अग हे—नागर तथा ग्रामीण। ग्रामीण समाज सभी प्रकार की कलाओ से अछूता, अत अपरिष्कृत है, उसमे 'तन्त्री-नाद, कवित्त-रस, सरस राग, रति-रग' की चर्चा भी व्यर्थ है क्योकि वह गुलाब को 'कर लै सूँघि, सराहि हू' (दोहा ६२४), अपने को क्रय मे असमर्थ जानकर मौन रह जाता है। जहाँ तक कला का प्रश्न है ये ग्रामीण तो प्रत्यक्ष 'पशु-नर' है जिनके लिए सुन्दर-से-सुन्दर गुलाब भी 'फूल्यौ, अनफूल्यौ' (दो० ४३८) है—वेचारे धोवी, ओड तथा कुम्हार (दो० ४३९)। यदि प्रश्न किया जाय कि क्या ये गँवार कभी नागर हो सकते है, तो उत्तर निषेधात्मक ही होगा, हीग को कपूर मे मिलाकर रख दीजिए फिर भी क्या वह अपनी गन्ध को छोडकर कपूर की सुगन्ध ग्रहण करेगी[1]। जिस व्यक्ति को नगर के इस सभ्य समाज का चसका लग गया है वह ग्राम मे जाने का कभी नाम न लेगा—जिसने एक वार अगूर को चख भर लिया है उसकी जीभ को निवौरी[2] क्षण भर भी अच्छी कैसे लग सकती है। अस्तु, 'गर्व और गुण' (दो० २७६) की निधि नगर के ये 'विविध विलास' (दो ५०६) अपूर्व है। परन्तु ग्रामीणो मे इसका कोई आदर नही, वे तो इन पर व्यग्य से[3] हँसते है। विहारी को अपने कलापूर्ण विलासी जीवन का वडा गर्व था, वे दरबारी चमक-दमक से वचित समाज मे टिकना भी पसन्द न करते थे। सभव है उनको कुछ कटु अनुभव हुए हो, परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि यह भावना उस समय के शिरोमणि कलाकारो मे वसी हुई थी।

---

१ सगति सुमति न पावहीं, परे कुमति के धंध।
राखौ मिलि कपूर मै, हींग न होइ सुगुन्ध॥२२८॥
२ जीभ निबौरी क्यो लगै, बौरी, चाखि अगूर॥१९७॥
३ सबै हँसत कर-तार दै, नागरता कै नाँव।
गयौ गरबु गुन को सरबु, गएँ गवारै गाँव॥२७६॥

'नगर' और 'ग्राम' से सर्वदा किसी भौगोलिक क्षेत्रफल आदि का सकेत नही मिलता। आश्रयदाता का सम्पन्न निवास-स्थल ही 'नगर' है, और विपन्न सामान्य जनता के घर ही 'ग्राम' है। सभवत किसी कलाकार या पारखी को अयोग्य सिद्ध करने के लिए 'गँवार' शब्द का प्रयोग आज तक उसी परम्परा मे चला आ रहा है। प्रत्येक आश्रयदाता अपने को रसिक-शिरोमणि समझता था और प्रत्येक कवि कला का अवतार माना जाता था। फिर भी बिहारी को इस 'नागरता' की ऐसी लगन थी कि मगलाचरण के प्रथम दोहे मे अपनी इष्टदेवता को 'राधा-नागरी' के नाम से उन्होने सम्बोधित किया है। सामान्यत उस समय कवि अपने कवित्व के गर्व मे चूर-चूर रहता था। अतएव खुले दरबार वह इस प्रकार की चुनौती प्राय दे दिया करता था कि 'गिन लीजिए इस कविता मे अनेक अमूल्य अलकार[1] है', या 'आप आँखे खोलकर[2] देखिएगा तो सौन्दर्य पर मुग्ध हो जाइएगा', या 'लोग समझते है कि कविता सरल[3] कार्य है, परन्तु यह प्रतिभा का विषय है', या 'मेरी कविता को वही समझ सकता है जिसकी आँखो मे स्नेह[4] रँजा हुआ हो'। बिहारी ने भी अपनी कविता के विषय मे 'वह चितवन और कछू, जिहि बस होत सुजान' (दो० ५८८) लिखकर उसकी अन्त स्थ अपूर्वता का सकेत दिया है। परन्तु इतना ही पर्याप्त नही।

'नागरता' से बिहारी का, काव्य-कला के सम्बन्ध मे, अभिप्राय ध्वन्यात्मकता से है। युवती के अगो मे लावण्य, पाटल मे सौरभ, तन्त्री मे नाद, या काव्य मे रस एक ही प्रकार की वस्तुएँ है। इनका स्थूल रूप इदमित्थम् नही, परन्तु अमूर्त्त प्रभाव निर्विवाद है—स्थूल रूप भी उस अमूर्त्त प्रभाव का वाहक मात्र है। अत अगो का वर्णन करते हुए बिहारी उनके मोहक प्रभाव को ही लक्ष्य समझते है। रति आदि का वर्णन उन्होने सकेतो से किया है, स्थूल चित्रण द्वारा नही। यदि विद्यापति से तुलना की जाय तो अधिक स्पष्ट हो जाता है। विद्यापति ने नायक और नायिका की रति का चित्रण करते हुए उनके चुम्बन[5], आलिगन आदि का वर्णन खुले शब्दो मे दे दिया है। इसके विपरीत बिहारी अपने प्रथम दोहे मे ही सम्भोग शृगार का वर्णन करते है परन्तु इस कौशल के साथ कि सामान्य पाठक उसे देखही न सके—श्याम ने राधा को देखा और उनका मन खिल उठा, तत्काल ही पर्दा गिर गया और आगे की सारी चेष्टाएँ नेपथ्य मे हुई। रति का इतना 'नागर' वर्णन हिन्दी के किसी भी शृगारी कवि ने नही किया। बिहारी की यही कला उनको सजातीयो मे उच्च स्थान प्राप्त कराती है। काव्य-कला के इस आदर्श का स्पष्ट सकेत बिहारी के निम्नलिखित दोहे मे है—

---

१ सख्या करि लीजै अलकार है अधिक या मै (सेनापति)।

२ ज्यौं-ज्यौं निहारिये नेरे ह्वै नैननि, त्यौं-त्यौं खरी निकरै सी निकाई। (मतिराम)

३ लोगन कवित्त कीबौ खेल करि जानौ है। (ठाकुर)।

४ समुझै कविता घनआनन्द की जिन आँखिन नेह की पीर तकी। (घनानन्द)।

५ सुखद सेजोपरि नागरि-नागर बइसल नव रति साधे।
प्रति अग चुम्बन, रस अनुमोदन, थर-थर काँपए राधे ॥

दुरत न कुच बिच कचुकी चुपरी, सारी सेत ।
कवि-आकन के अरथ लौं प्रगटि दिखाई देत ।।१८८।।

(चोवा आदि से चुपडी हुई कचुकी तथा श्वेत साडी मे ढके हुए नायिका के कुच छिपे नही रहते, कवि के अक्षरो मे अर्थ भी स्थूलत आवृत्त परन्तु सूक्ष्म दृष्टि के लिए प्रकट रहता है––यह व्यग्यार्थ जो है ।)

इसी हेतु इस कवि के अक्षरो मे सलज्जता सर्वत्र है, जो भी कहा है प्राय सकेतो मे ही । नायिका के अगो पर इस सिद्धान्त का प्रभाव यह पडा कि सकेत के आधार नेत्र और उनके कटाक्ष वर्णन का विषय अधिक बने हैं, स्तन आदि स्थूल अग कम । बिहारी के काव्यादर्श मे विद्यापति के काव्यादर्श से यह भिन्नता सर्वत्र लक्षित हो जाती है । विद्यापति वर्णन करेगे तो उत्तुग उरोजो का, क्योकि वे उद्दाम यौवन के स्थूल प्रतीक है, परन्तु बिहारी कटाक्षो से ही गहरी-से-गहरी बात कहलवा देते है–उनमे तो 'चितवन' ही तन और मन की सारी उमगो की वकालत करती है । कटाक्ष के बाद सकेत का दूसरा साधन है 'मुसकान', जिसको 'सुजान' ही समझ सकते है । नेत्र और मुसकान, परिचय की सामान्य भूमियाँ और मन मिलने से पूर्व की आवश्यक भूमिकाएँ है प्राय इनका कार्य साथ-साथ ही होता है, मन को फुसलाने वाले ये दोनो सहचर है । बिहारी ने प्रथम मिलन से सम्भोग तक की सारी परिस्थिति का चित्रण एक ही दोहे मे कितने कौशल से किया है—

उन हरकी हँसि के इतै, इन सौंपी मुसकाइ ।
नैन मिलैं, मन मिलि गए, दोऊ मिलवत गाइ ।।१२८।।

––पहले नेत्र मिले, फिर दोनो के मन मिल गए, तब दोनो ने अपने आप को ही मिलाकर एक कर लिया ।

बिहारी ने धोबी, ओड, कुम्हार आदि गँवारो को दुत्कारा है परन्तु कातनहारी (दो ६४७), बिलोवनहारी (दो २८५) आदि ग्रामीणाओ मे रुचि दिखलाई है । देव के समान प्रत्येक जाति की नायिका के रूप-सौन्दर्य मे डूब-डूबकर तो उन्होने काव्य रचना नही की, परन्तु कुछ गँवारिनो से वे अपने मन को दूर न कर पाये । ग्रामीणा का भी अपना सौंदर्य है पारखी उसको पहिचानता है । ग्वालिनो (दो० ६०६) मे विचरण करने वाला ग्रामीणा मे अरुचिमान हो भी कैसे सकता है ? उनकी कुछ ग्रामीणाएँ नागर-नरो पर अपने काननचारी नेत्रो से[1] प्रहार कर देती है । उस ग्रामीणता मे भी आकर्षण है—

गदराने तन गोरटी, ऐपन-आड लिलार ।
हूठ्यो दै, इठलाइ, दृग करै गवारि सुवार ।।६३।।

उसके दृगो का वार अचूक है–परिपक्व (पूर्ण) यौवन और गोरा शरीर, फिर कमर पर हाथ रखकर इठलाना । जब वह खडी होकर खेत रखाती है तब कितने लोग

---

१ लेखन सिखिए, अलि भले, चतुर ~ हेरी भार ।
कानन-चारी नैन-मृग, नागर-नरनु सिकार ।।८५।।

उसके यौवन पर मुग्ध हो जाते है (दो० २४८) । सत्य तो यह कि रूप और कुरूप[1] का कोई प्रश्न नही, मन की जिधर रुचि हो जाए, जहाँ जिसकी प्यास बुझ सके[2], वही उसके लिए सुन्दर है । इसीलिए रीझने वाले नेत्र[3] और रिझाने वाला रूप जहाँ मिल जाते है, वही आकर्षण हो जाता है, भले ही नायिका ग्रामीणा हो, 'सुनकिरवा' की विन्दी लगाने वाली —

गोरी गदकारी परै, हसत कपोलन गाड ।
कैसी लसति गवारि यह, सुनकिरवा की आड ।।७०८।।

विहारी ग्रामीणा नायिका को, हरी-हरी अरहर का खेत दिखाकर, धैर्य बँधाते है (दो० १३५) या कपास बीनती हुई स्मृति-दु खिता पर दयार्द्र हो आते है (दो० १३८) ध्यान देने की वात है कि उनकी ग्रामीणा सर्वत्र सहज सौन्दर्य से आलोकित एव अपने व्यवसाय के कार्य मे रत रहती है, नागरियो के समान उसका जीवन केवल विलास के लिए ही नही है । नागरियाँ कही अगो को सजा रही हे, कही वारुणी का सेवन कर रही हैं, और कही विरह मे तडप रही है—वे विलास-विदग्धा है, जीवन का रस लूटने वाली, ग्रामीणाएँ अपना-अपना काम कर रही है, विना बनाव-शृङ्गार के ही, और उनका जीवन इतना व्यस्त हे कि नागर-रसिक उन पर रीझते है परन्तु विनिमय मे उनसे कुछ नही पाते । ग्रामीणा का शृङ्गार उसका स्वस्थ शरीर एव उसका प्राकृतिक वातावरण है, जो अगूर खानेवालो को निबौरी[4] चखने के लिए आकृष्ट करता है । विहारी धोविनि, कुम्हारिनि, मनिहारिनि आदि के रूप पर नही रीझे—यद्यपि उनके समकालीन कवियो ने इन नायिकाओ को भी नही वचाया—नाइनि (दोहा ३५,४४ तथा ६८७) आदि सेविका के रूप मे आती है, नायिका वनकर नही । दरवारी कृत्रिम वातावरण के विलास से क्षणभर ऊबकर विहारी का मन अकेली दुकेली कृपक-पत्नी, (दोहा २४८), घर मे व्यस्त ग्वालिनी (दोहा ६६६) या परिश्रम से कातकर जीविका चलाने वाली (दोहा ६४७) युवती को छिपकर देख लेता है, मानो इस आशका से कम्पित होकर कि 'आक की कली से रली' करने के अपराध मे (दोहा १४) 'रसिक' के पद से च्युत न कर दिया जाय । नागर-ग्रामीणा की इस काम-कथा मे शृङ्गार नही है, केवल एकागी कामुकता है, क्योकि ग्रामीणा रस का आश्रय नही समझी गई, रसिक जिस प्रकार पशु-पक्षियो से मन बहलाकर अपने को गुणाग्राही समझते है उसी प्रकार ग्रामीणा नायिका पर रीझकर उसको अपनी भोगलिप्सा का आधार बनाते है, यह एकागी आकर्षण साधारण लम्पटता से आगे नही चलता, अत रति आदि का प्रश्न भी इस वर्णन मे नही है ।

राधा-नागरी की कलावती शिष्याएँ विहारी का मुख्य वर्ण्य-विपय है । उनके

---

१ **समै समै सुन्दर सबै, रूपु, कुरूपु न कोइ ।**
मन की रुचि जेति जितै, तित तेती रुचि होइ ।।४३२।।

२ **सो ताकौ सागरु, जहाँ जाकी प्यास बुझाइ ।।४११।।**

३ **रूप रिझावनहारु वह, ए नैना रिझवार ।।६८२।।**

४ **जीभ बिनौरी क्यो लगै, बौरी चाखि अगूर (दोहा १६७)**

जीवन को कवि ने विभिन्न परिस्थितियो मे देखा है, यहाँ तक कि गर्भवती का लजीला सौन्दर्य भी उसकी कामुक दृष्टि से नही छिप सका—'सुरति-सुखित-सी देखियत, दुखित गरभ के भारे (दोहा ६९२)। बालिका और वृद्धा का तो प्रश्न नही आता, परन्तु किशोरी, स्वकीया और परकीया, अनेक अवस्थाओ और दशाओ मे, कवि के सामने आई है। विहारी के मत मे नायिका 'दीपशिखा-सी देह' वाली (दोहा ६९, २०७, २९९ तथा ५९५) होनी चाहिये उसके शरीर का अग-अग जगमगात[1] हो, राधा भी अपने तन की झाँई (दोहा १) से नायक के मन को हराभरा करती है। अपनी द्युति से वह ज्योत्स्ना मे मिलकर (दोहा ७) एक हो सकती है क्योकि उसके शरीर पर 'यौवन की ज्योति' (दोहा ४०) हे, उसके मुख की आभा शशि का परिहास[2] करती है, मुहल्ले के लोग प्रतिदिन ही पूर्णमासी के भ्रम मे रहते है (दोहा ७३)। रग की दृष्टि से नायिका को चपकवर्णी (दोहा १०२) कहा जा सकता है, परन्तु यौवन की सचित ज्योति, जिसके समक्ष ज्योतसना उसकी छाया सी[3] लगती है, आकर्षण का प्रथम हेतु है। इस ज्योति मे रग का उतना महत्त्व नही जितना कि अगो की यौवन-जन्य दीप्ति का और सास्कृतिक विलास-कलित परिवेश का। पुरुष के मुख पर जिसे तेज कहते है, किशोरी के वदन पर उसी दीप्ति का, विहारी ने 'ज्योति' (दोहा ४० तथा १०९) कहकर, वर्णन किया है। सामान्यत इसी को 'रूप' कहते हे। विहारी ने इस रूप मे नागर परिवेश को महत्त्व दिया है, और नागरी को इसी के आधार पर नायिका माना हे, नागर परिवेश से वचित युवती को गोरी या 'गोरटी' (दोहा ९३) कहकर उसके भोग्य शरीर की प्रशसा की है, परन्तु उसे रस-विलास मे भागी नही बनाया। नायिका विलास-कला मे कुशल होनी चाहिए, उसकी ज्योति उसके आन्तरिक उल्लास, उसकी नागरता (कला-कुशलता) तथा उसके शारीरिक विकास तीनो की ही समवेत द्योतक है, आन्तरिक उल्लास और शारीरिक विकास तो सहचर है—जहाँ रहेगे, साथ-साथ ही, परन्तु नागरता नारी का वह गुण है जिससे जीवन रसमय (दोहा ४२) हो जाता है।

वर्णन के तीन विषय और हे—स्तन, नेत्र तथा मुसकान। जिस प्रकार मुख रूप का सामान्य प्रतिनिधि है, उसी प्रकार स्तन यौवन-जन्य शारीरिक विकास के सामान्य द्योतक है। इसी हेतु शृगारी कवि कामुकता की उमग मे स्तनो की प्रशस्ति भाँति-भाँति की कल्पनाओ के द्वारा गाया करते है। विहारी ने स्तन और नितम्ब का 'इजाफा' कर दिया (दोहा २), परन्तु केवल इसी अग की स्तुति पर उनका ध्यान केन्द्रित नही रहा। यदि काव्य-शास्त्र की शब्दावली का प्रयोग करे तो यौवन-रस की अभिव्यक्ति मे ज्योति-वर्णन ध्वनि-काव्य है, नेत्र-मुसकान-वर्णन गुणीभूत व्यग्य, और

---

१ अग-अग-नग जगमगत, दीपसिखा सी देह।
दिया बढाएँ हूँ रहै, बडौ उज्यारौ गेह ॥६९॥

२ रोज सरोजनु कै परै, हँसी ससी की होइ ॥५३॥

३ वाहि लखै लौइन लगै, कौन जुवति की जोति।
जाकै तन की छाँह-ढिग, जोन्ह छाह सी होति ॥१०९॥

स्तन-वर्णन चित्र-काव्य। जिस प्रकार चित्र-काव्य अधम काव्य है उसी प्रकार स्तनो का स्थूल वर्णन यौवन-रस का विशुद्ध आस्वाद नही करा सकता। गुणीभूत-व्यग्य-काव्य मे व्यग्यार्थ वाच्यार्थ से अधिक महत्त्वपूर्ण नही रहता, उसी प्रकार, नेत्र और मुसकान का वर्णन और यौवन-रस का वर्णनोत्तर आस्वाद समान भाव से ग्राह्य है। गुणीभूत-व्यग्य-काव्य के लक्षणामूलक और अभिधामूलक व्यग्य के समान क्रमश नेत्र-वर्णन और मुसकान-वर्णन को समझना चाहिए। ज्योति-वर्णन और स्तन-वर्णन की चर्चा ऊपर हो चुकी है। नेत्र और मुसकान मे से नेत्रो का वर्णन बहुत अधिक और मुसकान का अपेक्षाकृत कम है। मुसकान की व्यजना कुछ स्थूल होती है, इसलिए उससे मन का भाव ही नही उसकी गहराई भी ज्ञात हो जाती है। गोरे मुख की मुसकान (दोहा ३०५), दुलहिनि का सलज्ज हास (दोहा ३४६), मुसकान के विना वचन (दोहा ३६४), रिससूचक मुसकान (दोहा ३७९) तथा मान की मुसकान (दोहा ३८३) आदि के अन्तर्भुक्त भाव नायक और सखी दोनो पर प्रकट है। परन्तु नेत्रो की कहानी कुछ भिन्न है। उनकी स्थिति, गति, रग, आकार आदि मे एक समय एक ही भाव नही रहता, इसीलिए उनकी व्यजना दुर्बोध्य है। बिहारी ने नेत्रो का वर्णन 'ज्योति' से भी अधिक किया है। विशाल नेत्र सुन्दर होते है, उस युग मे तीक्ष्णता या नुकीलापन (अनियारे) आकर्षण माना जाता था, कजरारी आँखे (दोहा ६७०) स्वय शृगार है, बिहारी ने इन तीनो प्राकृतिक गुणो को स्वीकार किया है, परन्तु सबकी मुकुटमणि है 'चितवनि'—वह सबमे नही होती, उसका वर्णन भी सभव नही। सुजानो को वश मे करने वाली इस 'चितवनि' को 'औरै कछू'[१] कहकर ही बताया जा सकता है—'वह चितवनि और कछू जिहि बस होत सुजान'। 'चितवनि' से अनुराग तो द्योतित होना ही है, मान भी जनाया जाता है (दोहा २९), यहाँ तक कि कथन, निषेध, रीझ, खीझ, मिलन, उल्लास, लज्जा आदि अनेक भाव एक साथ ही नेत्रो से प्रकट कर दिये जाते है (दोहा ३२)। भरे समाज मे आँखे चल जाती है। (दोहा १७७), अनुमति प्राप्त किए बिना मन को दूसरे के हाथ बेच देती है (दोहा १९५), और न जाने कौनसी माया है उनमे, कि नायक बेसुध हो जाता है—'कहा लडैते दृग करे, परे लाल बेहाल' (दोहा १५४)। नेत्रो की महिमा सचमुच अकथनीय है।

बिहारी की नागरी का शारीरिक गुण सुकुमारता है। काम-काज के बिना विलास मे पलकर किशोरियाँ रग-रूप मे अलग- होते हुए भी सौकुमार्य मे सजातीय है। मध्यकालीन सस्कृति मे सौकुमार्य नारी के सामाजिक स्तर की माप था। तुलसी की सीता भी पर्य्यक, पीठि, गोद और हिडोले से नीचे पैर नही रखती, उन्होने अनुभव ही नही किया कि कठोर अवनि[२] का स्पर्श कैसा है। मुगल-शासन मे यह सौकुमार्य सामाजिक

---

१ अनियारे दीरघ दृगनु, किती न तरुनि समान।
वह चितवनि औरै कछू, जिहि बस होत सुजान ॥५८८॥

२ पलग पीठि तजि गोद, हिडोरा।
सिय न दीन पग अवनि कठोरा ॥ (अयोध्याकाण्ड)

स्तर के साथ-साथ योग्यता का भी पदक बन गया। पुरुष का पौरुष जिस प्रकार तन और मन की कठोरता और विशालता मे अन्तर्निहित था, उसी प्रकार नारी का नारीत्व तन के सौकुमार्य और मन की भीरुता मे सचित माना जाता था। पुरुष भोगी था और नारी भोग्या, भोग के लिए जिस प्राप्ति की आवश्यकता थी वह बाहु-बल पर निर्भर थी, इसलिए जो बली था वही नारी-रत्न को प्राप्त कर सकता था, दूसरे लोगो को उनके बल के अनुसार ही मूल्यवती नारियाँ प्राप्त हो सकती थी। यो तो वसुन्धरा की सभी वस्तुएँ वीरभोग्या है, परन्तु निर्जीव और सजीव लक्ष्मी के लिए यह नियम विशेषत लागू होता है। राजपूती आदर्श भी पुरुष और नारी के सम्बन्ध मे इस विशेषता को महत्त्व देता था। परन्तु विदेशी शासन ने एक विशेष परिस्थिति के कारण इसको मूल-मन्त्र बना लिया, क्योकि यहाँ भोग के अतिरिक्त, उससे अधिक महत्त्वपूर्ण प्रश्न रक्षा का था—भोग तो आपका विषय है परन्तु जब 'सलीम' बादशाह होते ही आप पर चढ आवेगा तो क्या आप अपने बाहुबल से रक्षा करके 'मेहर' को अपनी कह सकेगे ? इस स्थिति ने पुरुष और नारी के जीवन मे जो पाशविकता भर दी वह इतिहास की लज्जा-स्पद एव बर्बर कहानी है। नारी सौकुमार्य से परखी जाती रही, और सौकुमार्य का फल था भोग्यता। अस्तु, बिहारी की नायिका विलासी सुकुमारता की मूर्त्ति है। इस दृष्टि से उसके शरीर मे अगो की अल्पता, कोमलता और झीनापन देखने योग्य है (विलास की मुख्य भूमि पद्मिनी नायिका कामशास्त्रियो के यहाँ इन्ही शारीरिक गुणो के कारण मूर्धन्य मानी जाती है)। बिहारी ने इन गुणो की व्यजना सयोग और वियोग दोनो ही परिस्थितियो मे की है। गुलाब की पखुडी से गात्र मे खरोट पड जाती है (दो० २५६), हाथ इतने छोटे है कि श्वसुर महाशय वधू को कण देने का काम सौपते हैं (दो० २६५), पान खाते हुए जब वह पीक निगलती है तो त्वचा मे से झलककर लाल रेखा सखी को कठाभूषण-सी प्रतीत होती है (दो० ४४०), एक दिन बेचारी सहेट से वापिस आ रही थी कि सुगन्ध से आकृष्ट मधुपो ने उसे घेर लिया (दो० ४५९), अगर वह गुलाब के झाँवे से पैर मलवावे तो निश्चय ही छाले पड जाएँगे (दो० ४८३), और उसकी कमर तो तीन बार बाँस की छडी के समान[1] लचकती है। कारण यह कि नायिका 'नाजुक कमला' (दो० ४०५) अर्थात् सुकुमारी पद्मिनी है, बिल्कुल ऐसे समझिए जैसे कुसुम हो (दो० ५१६), इसीलिए तो कहा था कि उसको आभूषण मत पहिनाइए—सुकुमार कलेवर उस व्यर्थ के भार को कैसे सहन करेगा[2] ? वियोग मे यह फूल-सी सुकुमारी दीर्घ निश्वासो के साथ ही आगे-पीछे खिसकती रहती है (दो० ३१७)। यही कुशल है कि वह किसी दिन उड न गई, कुम्हला तो ऐसे जाती है जैसे हाथ से मला हुआ कुसुम—'करके मीडे कुसुम लौ, गई बिरह कुम्हिलाइ' (दो० ५१६)। यह नागरी उसी सामग्री

---

१ लहलहाति तन तरुनई, लचि लगि औं लचि जाइ।
लगै लाँक लोइन-भरी लोइनु लेति लगाइ ॥५३२॥

२ भूषन-भारु सभारिहै क्यो इहि तन सुकुमार।
सूधे पाइ न धर परैं, सोभा ही कें भार ॥३२२॥

से बनी है, जिससे कि जायसी आदि की नायिका, दोनो पर मध्ययुगीन जीवन के अकर्मण्य विलास का निष्क्रिय प्रभाव है।

नागरी का दैनिक कार्यक्रम भी कम खेदोत्पादक नही। वह विलासिनी है, इसलिए उसका सारा दिन काम-क्रीडाओ के सग्रह मे वीत जाता है—कभी प्रेमिका और कभी प्रेयसी बनकर बडे कौशल से वह नायक की प्राप्ति और तदनन्तर उसके साथ सुख-भोग मे भूली रहती है, कभी नायक की छाया से उसने अपनी छाया को छुवा दिया (दो० १२), कभी रूक्ष नेत्रो से उसने मान की सूचना दी (दो० २६), कभी वाल व्यौरने के बहाने कच और अँगुलियो के वीच नेत्रो से उसने नायक को देखा (दो० ७८), कभी चाले की वाते सुनकर अपने मन का उल्लास प्रकट किया (दो० १४४)। एक नायिका हार के व्याज से दिन-रात अपने वक्षस्थल को ही देखती रहती है (दो० २५२), तो दूसरी टट्टी की ओट मे दीर्घ निश्वासे निकालकर दूसरो के हृदय को पिघलाती है (दो० २६२)। अगर उसकी वीरता देखना चाहे तो धनुर्विद्या देखिए, क्या मजाल कि चचल लक्ष्य भी उस बक वाण-प्रहार[१] से बच जाय। एक लजीली वारुणी का सेवन करके (दो० ३६८) अपनी ढिठाई मे मीठी लगी, तो दूसरी प्रेम मे ही मतवाली होकर प्रेमी की पतग की परछाई को छूती हुई दौडती रही (दो० ३७३)। नायक की मुरली छिपाकर उसे छकाने के लिए प्रयत्नशील नायिका वडी व्यस्त मालूम (दो० ४७२) पडती है। मुख मोडकर मुसकाना (दो० ४९३), वैठकर आराम से मँहदी सुखाना (दो० ५००), कभी उभकना और कभी छिपाना (दो० ५२७), या आलसभरी जम्हाई लेना (दो० ६३०) इन कामो मे वह सिद्धहस्त है। मदिरा-पान का तो अनेक प्रकार से वर्णन किया गया है। कही रूप गर्व है तो कही वनावटी मान, कही प्रेम की ज्वाला है तो कही सपत्नी से ईर्ष्या, कही गुरुजनो से चालबाजी है तो कही भूठा वहिनापा (दो० ६५४)। इस प्रकार इन्द्रिय-रस की भूमिका, क्रिया तथा अवसिति मे नागरी को तल्लीन करके बिहारी अपने युग का तरल चित्र अकित कर रहे है, उस यथार्थ का समर्थन ऐतिहासिक तथ्यो से भी होता है।

बिहारी की अधिकतर नायिकाएँ लज्जाशीला है, परन्तु सबकी सब नही, कितनी ही कुलटा भले ही न हो, उससे कम भी नही है। देवर के कुयत्नो और घरेलू कलह के बीच सूखनेवाली कुलस्त्री[२] तो एक-दो ही मिलेगी, परन्तु देवर के विवाहपर विषाद मे[३] डूबने वाली अनेक है। आती है जामन लेने और मन मे स्नेह जमा[४] जाती है। देवर ने

---

१ तिय, कित कमनैति पढी, विनु जिहि भौंह-कमान।
चल-चित-बेझैं, चुकति नहि, बक-बिलोकन-बान ॥३५६॥

२ कहति न देवर की कुबत, कुल-तिय कलह डराति।
पजर-गत मंजार-ढिग, सुक ज्यो सूकति जाति ॥८५॥

३ और सबै हरषी हँसति, गावति भरी उछाह।
तुँही, बहू, बिलखी फिरै, क्यौं देवर कै ब्याह ॥६०२॥

४ आई जावनु लैन, जिय नेहै चली जमाइ ॥१४४॥

स्वभावत जो फूल मारे थे (दो० २४६) वे ही उसके शरीर मे रोमाच करने लगे। मिश्र जव पुराण मे पर-नारी-गमन के दोप सुना रहा था तो नागरी जी निर्लज्जता से (दो० २६४) हँस दी। ऐसे ही एक इठलानेवाली नायिका से खीझकर सखी बोली—इधर क्यो लगती है जिधर तेरा दिल लगा है उधर ही जा (दो० ३८२)। और जव गोद मे बच्चे को चढाते हुए किसी युवक का हाथ नायिका के वक्ष से लग गया तो वह उस गरीब को[1] कीचड मे घसीटने लगी। ऐसी कलावती ही तो छायाग्राहिणी[2] है, जो किसी भी पुरुष को सहज भव-सागर पार नही करने देती।

विहारी ने स्त्री के दो रूप देखे है—नायिका और दूती। दूती वयोवृद्धा हो, या अन्य किसी कारण से नायिका-पद के अयोग्य हो, अन्यथा वह स्वय नायिका बनने का प्रयत्न करेगी। नायिकाएँ भी दो प्रकार की है—कुलस्त्री और कुलटा। इन दोनो मे अन्तर केवल लज्जा का है। कुलस्त्री लज्जा के अवगुठन मे पति (या उपपति) मे अनुरक्त होती है, उसकी कामुकता हृदय की किसी स्थिरता मे पगी रहती है। कुलटा ने लज्जा त्याग दी, अत प्रत्येक पुरुष उसका नायक है और उसकी समस्त चेष्टाएँ कामोद्‌गार से प्रेरित है। कुलस्त्री को कुलटा बनाने मे ही उस शासन का प्रयास था, विहारी मे मानो अकबर से शाहजहाँ तक के इतिहास की सामाजिक स्थिति अक्षरश प्रतिफलित हो गई है। सभी कुलटाएँ किसी-न-किसी समय कुलस्त्रियाँ थी, परन्तु दूती की 'सीख' या किसी अन्य भूल मे वे अपने को गिरा वैठी और फिर उन्होने अपना मन समझाया कि जब तक अवसर नही आता तब तक सब कुलस्त्री बनती है। परन्तु एक बार स्वर्णावसर प्राप्त करने पर फिर कोई इस मिथ्या गरिमा की परवाह नही करती—

किती न गोकुल कुल-बधू, काहि न केहि सिखि दीन।
कौनें तजी न कुल-गली, ह्वै मुरलौ-सुर-लीन ॥६५२॥
जौ लौं लखौं न, कुल-कथा तौ लौं ठिक ठहराइ।
देखें आवत देखि हीं, क्यो हू रह्यौ न जाइ ॥७०९॥

नागरी-सम्बन्धी इन वर्णनो मे समाज का प्रतिविम्ब नही, 'आदर्श' है, समाज की नारियाँ ऐसा जीवन व्यतीत न करती थी, परन्तु इस बात का पूरा प्रयत्न हो रहा था कि वे ऐसे जीवन को ग्रहण करले। पाँच शताब्दी पूर्व, देश के, वाम-मार्ग से प्रभावित एक कोने मे किसी विलासी कवि ने कुलटा बनने पर पश्चात्ताप करती हुई कुलकामिनी को छटपटाते देखा था और 'कुलकामिनि छलौ, कुलटा होइ गेलौ, तिनकर वचन लोभाई' की समस्त कहानी का मार्मिक वर्णन करके, उसने परिणाम मे निराशा[3] दिखाकर, दूसरो को सावधानकिया था। कालान्तर मे वही पश्चात्ताप-वाक्य समस्त उत्तर भारत

---

१ **लरिका लैबे कै मिसनु लंगरु मो ढिग आइ।**
गयौ अचानक आंगुरी छाती छैलु छुवाइ ॥२८६॥

२ **या भव-पारावार कौ उलघि पार को जाइ।**
तिय-छवि छायाग्राहिनी ग्रहै बीचहीं आइ ॥४३३॥

३ **माधव, हम परिनाम निराशा।** (विद्यापति)

के राजाश्रित समाज का आदर्श-वाक्य बन गया । पतन की यह यात्रा समाज की भाव-भूमि पर जो चरण-चिन्ह अंकित कर गई है, वे साहित्यिक कृतियो के रूप मे आज भी अतीत का प्रत्यक्ष करा सकते है ।

सामाजिक जीवन की दृष्टि से सतसई मे जिन व्यवसायियो की चर्चा है उनमे से मुख्य है शासक (दो० २, ५ तथा २२०), वैद्य (दो० ११६, ४८६ तथा ५५७), ज्योतिषी (दो० ५७५), मिश्र (दो० २६४), गधी (दो० ६२४), नट (दो० १६३ तथा १६४), धोबी (दो० ४३६), बढई (दो० ४४४) आदि । स्त्री का मुख्य व्यवसाय जगत को 'रसयुत' करना है, यह ऊपर कहा जा चुका है, परन्तु बिहारी ने नायिका-पद केवल नागरी को दिया है, ग्रामीणा को नही । ग्रामीणा या तो लम्पट युवको की कामुक चर्चा का विषय बनी है, या नागरी के सेवा कार्यो मे व्यस्त दिखाई गई है । प्रथम वर्ग मे खेत रखानेवाली, कातनेवाली और बिलोनेवाली गृहणियाँ है । दूसरे वर्ग से नापित-स्त्री कवि को अधिक पसन्द है, वह भोली जब नायिका के पैरो मे महावर लगाने बैठी तो स्वाभाविक लाली के कारण (दो० ४४) एडी को ही महावरी समझ बैठी और उसी को रग के लिए मीडने लगी (दो० ३५) । स्त्री के लिए दो व्यवसाय और थे नर्त्तकी-कर्म और दूती-कर्म । नर्त्तकी को 'पातुर' (दो० २८८) कहा जाता था, वह अपनी अग-भगियो के द्वारा रसिको का मनोरजन किया करती थी । दूती तो शृगार-काव्य का प्राण है, प्राय वह नापिता, रजकी आदि होती है, क्योकि अपने व्यवसाय के लिए उसका प्रवेश कुल-कामिनियो के अन्त पुर तक हो जाया करता है, ऐसी दूती वयस्का होनी चाहिए, अन्यथा मुग्धा कुलकामिनी पर उसका जाल सफल नही हो सकता । विद्यापति ने इसी दूती का प्राय साहाय्य लिया है । परन्तु बिहारी की दूती नायिका की सखी है, उसको सामाजिक स्तर पर नीचा नही दिखाया गया । कारण यह जान पडता है कि विद्यापति के युग मे इन्द्रियजन्य भोग का उद्दाम लास्य समाज मे हेय समझा जाता था, केवल वेश्या और कुलटा ही इसको पसन्द करती थी नागरियाँ नही अत इसकी अप्रच्छन्न चर्चा सभव न थी, इसीलिए रजकी आदि बनकर ही प्रौढा कुलटा इस छूत को समाज के अभिजात वर्ग मे प्रविष्ट करा सकती थी । बिहारी के युग मे समाज के अधिकारी वासना-पकिल हो चुके थे, न युवको को लम्पटता मे सकोच था, न युवतियो को कामुकता मे लज्जा, शील नामक गुण केवल उस वर्ग मे सचित था जिसने अपने को बाह्य जीवन से खीचकर घर मे घुट-घुट कर जीना स्वीकार कर लिया था । विदेशियो का यह विष वेध इतना सफल हुआ कि स्फूर्ति और उत्साह वासना से रंग गये, पवित्रता और सद्‌गुण एक कोने मे सडकर क्षीण होने लगे । उच्छृ खल वासना का ऐसा प्रवाह आ गया था कि समाज का प्रत्येक अधिकारी इसमे मग्न होकर अपने को सुखी समझने लगा । बिहारी-सतसई मे वेश्या का वर्णन नही है, इसका कारण यह नही कि उस युग मे वेश्यागमन कुकर्म समझा जाता था, प्रत्युत यह कि नागर जनो को रूप-यौवन के क्रय की आवश्यकता उतनी न थी—जब सद्‌भाव ही इस भोग को सुलभ कर सकते थे तो धन का व्यय करने पर नायिका को नागरीपद से च्युत करके पण्यस्त्री बनाते हुए यौवन-रस का अजस्र आस्वाद क्यो किया जाता ?

बिहारी की नायिका इन्द्रिय-सुख के सचय मे व्यस्त रहती है । उसके अनेक रूप है और नायिका-भेद के अनुसार उसको भिन्न-भिन्न सज्ञाएँ प्रदान की जा सकती है । परन्तु उस नागरी की मुख्य विशेषता असयम है । यह ऊपर कहा जा चुका है कि कुलटा और कुलकामिनी मे अन्तर लज्जा का ही है, जिस क्षण कुलकामिनी ने लज्जा का आवरण समेट लिया उसी दिन वह यौवन के रग-मच पर कुलटा बनकर प्रकट हो सकेगी अवसर और सुविधाएँ तो उस युग मे सर्वसुलभ थी ही । विलास-कक्ष मे स्वकीया वर्णन तो नायिका की नही, प्रत्युत कवि की निर्लज्जता का द्योतक है, परन्तु गली-गली के कामोद्दीप्त अभिनयो मे नायिका की मनोदशा ही प्रकट हुई है, सखियाँ परस्पर मे जो परिहास करती है उससे उनके कुल-शील का पतन द्योतित हो जाता है । ऐसी नायिकाओ को सिद्ध कुलटा मत कहिए, परन्तु कुल-कानि का उल्लघन करके बाहर निकलने को उद्यत तो मानना ही पडेगा । बिहारी की मुग्धाएँ प्राय इसी प्रकार की है, या तो वे अविवाहिता है भावी पति की प्रतीक्षा मे कल्पना-प्रसूत अभिनय करनेवाली, या वे अनास्वादितरसा है प्रणय-रस को अधरो मे लगाती हुई सकोचशीला । सखी का वाग्जाल उनको उकसाने के लिए—उद्दीप्त करने के लिए ही है । एक सखी ने उसके कटीले नेत्रो की सराहना की (दो० ४५), दूसरी ने और भी स्पष्ट कह दिया कि आज किसके भाग्य जग गये है, आज किस पर कामदेव की कृपा होना चाहती है (दो० ५८), तो तीसरी ने नायिका के कजरारे नेत्रो को 'कजाकी' करते पाया (दो० ६७०) नेत्रो मे कामुकता का उल्लास जब सखी पर प्रकट हो गया तो उम्मीदवारो पर क्यो छिपा रहा होगा ? सखियो के ये लक्ष्य- विषयक प्रश्न सामान्य रली मात्र भी माने जा सकते है परन्तु इनमे लोक लज्जा का त्याग भी प्रतिबिम्बित है जो कुटला का प्रथम चिन्ह है । दो दोहे इस मत के समर्थन मे प्रस्तुत है—

रही अचल सी ह्वै, मनो लिखी चित्र की आहि ।
तजै लाज, डरु लोक को, कहो, बिलोकति काहि ॥५३३॥
पलन चलै, जकि सी रही, थकि सी रही उसास ।
अब-ही तनु तिरयो, कहो, मन पठयो किहि पास ॥५३४॥

मज्जागत लज्जा और लोक का भय नारी के सामान्य गुण है इसलिए पति को देखनेवाली दृष्टि भी इन्ही झरोखो मे से झाँकती है, परन्तु लोकलज्जा का भय अवैध सम्बन्ध मे ही अधिक सभव है, इसलिए इस नायिका को कुलकामिनी मानना उतना सगत नही वस्तुत सखी का नायिका से प्रिय-विषयक, प्रश्न 'काहि', 'किहि पास', 'कौन पर', 'कौनु', 'कित', आदि या तो विशेष-ध्वनिगर्भित है या उसके भावी कुलटात्व का अनिष्ट केतु है ।

बिहारी के युग मे नायिकाएँ तो गुण-कर्म-स्वभाव से भाँति-भाँति की थी परन्तु उन सबका सेव्य (भोक्ता) नायक नन्दकिशोर (दो० ५८१) एकरस ही था । वह कामुक भी उतना नही, जितना कि लम्पट । अपना बोल सुनाकर दूसरो का राग बिगाडना (दो० ५५२) मानो उसका व्यसन है, किसी के 'बिथुरे-सुथरे' केशो मे फँसकर उसका मन (दो० ९५) प्राय पथ को भूलकर अपथ पर चला जाता है । कभी रास्ता

चलती हुई सलोनी नायिका उसको नागिन के समान (दो० १९६) डस गई, कभी उसकी पायल की ध्वनि पर मुग्ध (दो० २१२) होकर वह ललचाने लगा, कभी नायिका की भोली चितवनि (दो० ३०५) ही उसके चित्त मे खटकने लगी, और कभी उसको श्याम चुनरी (दो० ३२६) पहिने देखकर नायक के मन पर स्नेह ने अपना अधिकार कर लिया । यदि अवगुठनवती नायिका जिज्ञासावश वस्त्र को हटाकर देखने लगे तो नायक समझेगा कि वह उससे प्रेम करती है (दो०३५०), और फिर सखी मुख से प्रार्थना करेगा कि मुख पर से वस्त्र हटाया जाय जिससे नेत्र सफल हो सके (दो० ५३) यदि नायिका का मुख अनावृत है, तो उसकी द्युति नायक के हृदय को छेद देगी (दो० ४४३) । यदि नायिका हडवडी मे वाहर देखती हुई अपने घर घुसी तो नायक ने समझा कि वह अनेक शृगारिक चेष्टाएँ करके (दो० २४२) अपने प्रेम का प्रमाण दे गई, उसका दृढ विश्वास है कि नारी से समाज को अन्य कोई लाभ हो या न हो उसका एकान्त उपयोग शिशिर के शीत से मोक्ष (दो० ३४३) अवश्य है। एक दिन वह किसी कार्यवश नायिका के घर गया और भला आदमी समझकर नायिका शिष्टाचार-स्वरूप उसको पान देने लगी तो नायक उस पर रीझ गया (दोहा २६५), उस दिन से उसने नायिका के पडोस मे मकान ले लिया और उसकी एक झलक पाने के लिए (दो० २६३) झरोखे के पास आसन जमाकर बैठ गया। यह साधना सफल उस दिन हुई जब अवसर देखकर एक दिन वह सूने घर मे, जान-पहिचान के कारण, घुस गया और लज्जाशीला अवला का उसने वलपूर्वक हाथ पकड लिया (दो० ५८२) । इसी प्रकार के राहुओ से भयभीत होकर इन्दुकलाएँ कपने मगल-ग्रह के भीतर जा छिपी थी (दो० ६९०) । विहारी का काव्य तत्कालीन विलासी जीवन की वास्तविक स्थिति का यथार्थ सकेत देता है। विदेशी शासन के उस विलासी वसत मे मर्यादा का परित्याग किये बिना कोई भी व्यक्ति राजप्रसाद रूपी दल, फल-फूल का अधिकारी न वन सकता था (दो० ७७४) । पतन की यह कहानी सुन्दर रगो से विचित्र होकर भी विचारशील नेत्रो के सम्मुख घृणास्पद चित्र ही उपस्थित कर सकती है।

"चित्र क्यों न बन सका ?"

पद्मसिह शर्मा

दोहा—लिखन बैठि जाकी सबिहि गहि गहि गरव गरूर।
भये न केते जगत के चतुर चितेरे कूर॥
शेर—शक्ल तो देखो मुसव्विर खींचेगा तसवीरे-यार,
आपही तसवीर उसको देखकर हो जायगा।
(जौक)

'न हो महसूस जो शै किस तरह नक्शे में ठीक उतरे।
शबीहे-यार खिचवाई कमर बिगडी दहन बिगडा॥
(मसहफी)

विहारी के उक्त दोहे मे और इन शेरो मे कुछ भावसाम्य की छटा है। जौक को तो आशा ही नही है कि मुसव्विर यार की तस्वीर खीच सकेगा, उनका ख्याल है कि मुसव्विर यार को देखकर खुद तस्वीर वन जायगा। जौक के मजमून मे मुहावरे का ज़ोर है, किसी अदृष्टपूर्व आश्चर्यजनक पदार्थ को देखकर हक्का वक्का हो जाने को—स्तब्ध भाव की स्थिति को—'तस्वीर वन जाना' या 'वुत बन जाना' वोलते है।

मसहफी ने 'शबीहे यार' खिचवायी थी, पर नक्शा ठीक नही उतरा, तस्वीर मे मुँह और कमर विगड गयी, पर इसमे वह मुसव्विर (चित्रकार) का दोप नही वतलाते। उर्दू फारसी वालो के यार (माशूक) के मुँह और कमर होती ही नही, जो चीज है ही नही, नजर ही नही आती, उसकी तस्वीर क्या खिचे!

ज़ौक ने तो मुसव्विर को तस्वीर खीचने का मौका ही नही दिया, मसहफी ने एक बार तस्वीर खिचवायी थी सो उसकी कमर और मुँह का नक्शा विगड गया।

विहारी कहते है कि एक बार नही, अनेक बार, और एक नही ससार भर के अनेक, साधारण नही चतुर, चितेरे—जिन्हे अपनी चित्रकला पर गर्व था—दावे के

साथ सबी—शबीह—खीचने बैठे, पर चित्रकार वेवकूफ बनकर—हारकर—बैठ रहे। चित्र नही खिच सका, पर नही खिच सका।

बिहारी के दोहे के सामने ये दोनो शेर दोपहर के दीपक है।

चित्र क्यो न बन सका ?

उर्दू कवियो ने तसवीरे यार के न खिच सकने का सबब साफ साफ बतला दिया है, पर विहारीलाल इस बारे मे चुप है, उन्होने चतुर चितेरो के 'कूर' कहलाकर रह जाने का—चित्र न बन सकने का—कोई कारण नही कहा, विहारीलाल के कारण निर्देश न करने मे कुछ रहस्य है। इस विषय मे उनका चुप रहना बहुत ही उचित हुआ है, उन्होने यहाँ बडी मार्मिकता प्रकट की है। जिस काम मे जगत् के कितने ही चतुर चित्रकार वेवकूफ सावित हो चुके है, उसका कारण शब्दचित्र द्वारा प्रकट करना भी कुछ वैसी ही बात होती। कारण कोई बहुत ही गूढ है। कितने ही चित्रकारो के वेवकूफ बनने मे कारण भी कितने ही हो सकते है, उन सबके उल्लेख की गुजायश छोटे से दोहे मे कहाँ ? एकाध का निर्देश करना, कारण वाहुल्य के महत्त्व को घटाना है, हम समझते है यही समझ कर कारणान्वेषण का कार्य कवि ने दूसरे लोगो की समझ-बूझ पर छोड दिया है।

कुछ प्राचीन टीकाकारो ने अपनी-अपनी समझ के अनुसार, चित्र न वन सकने के भिन्न-भिन्न कारण समझाये है इसके कुछ नमूने देखिए—कृष्ण कवि ने इस दोहे पर अपने कवित्त के तिलक मे कहा है—

"यह नायिका की निकाई सखी नायक सो कहती है कि वाहि देखे 'सात्त्विक भाव' होत है, याते चितेरे पर क्योऊ लिखत बनै नाही—

काहू पै न बन्यो वाके चित्र को बनाइयो"—

(१) सात्त्विक भाव का आविर्भाव भी चित्र न बन सकने का कई प्रकार से एक कारण हो सकता है—

नायिका का अलौकिक रूप लावण्य देखकर किसी चित्रकार को सात्त्विक 'स्तभ' हो गया तो हाथ ही काम नही करता। किसी को 'प्रस्वेद' हो गया तो उसने चित्रकारी का रग ही न जमने दिया। किसी को 'कम्प' हो गया तो चित्ररेखाएँ तिरछी टेढी होकर रह गयी। किसी को 'आँसू' (वाष्प) उमड आये तो कुछ सूझता ही नही, नजर ही नही जमती। चित्रलेखन मे इस प्रकार सात्त्विक भाव के बाधक होने का प्रमाण भवभूति ने माधव की दशा मे दिखाया है। माधव अपनी प्रिया मालती का चित्र लिखने बैठा है, पर नही लिख सकता, विचारा बडे 'विषाद' से कहता है—

वार वार तिरयति दृशावुद्गतो वाष्पपूर—
स्तत्सकल्पोपहितजडिम स्तम्भमभ्येति गात्रम्।
सद्यः स्विद्यन्नयमविरतोत्कम्पलोलागुलीकः
पाणिर्लेखा विधिषु नितरा वर्तते किं करोमि ॥

अर्थात् वार-वार उमडे हुए आँसुओ का प्रवाह आँखो पर परदा डाले हुए है, मालती विषयक सकल्प से शरीर मे जडता आकर 'स्तम्भ' हो रहा है, चित्र लिखने

मे इस हाथ की यह हालत है कि पसीने मे तर है, उँगलियाँ निरन्तर काँप रही है। क्या करूँ, कैसे चित्र लिखूं !

(२) हरि कवि चित्र न वन सकने का कारण 'रूप की अधिकाई' वतलाते है—अर्थात् रूप इतना अधिक है कि वह चित्र के साँचे मे किसी प्रकार नही समा सकता ! यह भी हो सकता है, वडे आदमी कहते है इसलिए इसे भी ठीक समझना चाहिए।

(३) शृगार सतसईकार ने विहारी के इसी चोटी के दोहे की छाया पर—(अपनी समझ से शायद विहारी का भाव स्पष्ट करने के लिए !)—जो यह नीचे का दोहा लिखा है, इसमे भी इन चतुर चितेरो की चर्चा है, चित्र न खिच सकने का एक कारण स्पष्ट कर दिया गया है। इनके कहने के ढग से मालूम होता ह कि चित्र तो खिचता है, पर उसमे उसकी "वाकी अदा—(हाव भाव की छटा)—नही खिचती—

दोहा—नगरव गरव खींचै सदा चतुर चितेरे आय।
पर वाकी बाँकी अदा नेकु न खीची जाय ॥४६॥

(शृगार सतसई)

(४) एक कारण यह भी वतलाया जा सकता है कि नायिका वय सन्धि की अवस्था मे है—रूप निरन्तर वर्धमानावस्था मे है वह प्रतिक्षण वढ रहा है, वरावर बदल रहा है उसे एक हालत पर कयाम नही, चित्रकार, चित्र वनाकर अच्छी तरह दुरुस्त करके, उसे जव असल से (नायिका से) मिलाकर देखता है तो विम्व और प्रतिविम्व मे वहुत भेद पाता है, चित्र वनाकर मिलान करने तक के थोडे समय मे ही कुछ मिनटो मे ही—कुछ से कुछ हालत हो जाती है, नक्शा ही वदल जाता है, चित्रकार वेचारा हक्का-वक्का रह जाता है। पद्माकर ने यही कहकर ऐसी किसी ब्रजवाला के स्वरूप-वर्णन मे (अपनी) असमर्थता प्रकट की है—

पल पल में पलटन लगे जाके अग अनूप।
ऐसी इक ब्रजवाल को कहि नहिं सकत सरूप ॥

इस मत की पुष्टि उर्दू के सर्वश्रेष्ठ वर्तमान महाकवि जनाव 'अकवर' भी करते हैं, फर्माते है—

लहजा लहजा है तरक्की पै तेरा हुस्नोजमाल,
जिसको शक हो तुझे देखे तेरी तसवीर के साथ

(५) नायिका की नजाकत और नातवानी—(सौकुमार्य और विरहदौर्वल्य)—भी चित्र न खिच सकने मे कारण हो सकते हैं। चित्रकार डरता है कि कही चित्र के साथ वह (नायिका) भी न खिच जाय !

नातवानी मेरी देखी तो मुसव्विर ने कहा,
डर है तुम भी कही खिच आवो न तसवीर के साथ

(अकवर)

(६) एक कारण यह भी हो सकता है, यदि सहृदय भावुक इसे पसन्द करे, नायिका के प्रत्येक अग का रूपमाधुर्य [illegible] र्षक है, कि जिस चित्रकार की दृष्टि जिस अग पर पहले पडी [illegible] वह वही [illegible] रह गयी, फिर दूसरे अग पर जा ही न

सकी, और कुछ देख ही न सकी । इस प्रकार सर्वांग के देखने का अवसर किसी भी चित्रकार को न मिला सब एक ही एक अग देखकर रह गये । इस दशा मे सर्वांग चित्र बनता तो कैसे बनता ?

यह बात एक पुराने प्राकृत कवि की कल्पना है—

जस्स जह विअ पढम तिस्सा अंगम्मि णिवडिआ दिट्ठी ।
तस्स तहि चेअ ठिआ सव्वङ्ग केण विण दिट्ठम् ।।
यस्य यत्रैव प्रथम तस्या अगे निपतिता दृष्टि ।
तस्य तत्रैव स्थिता सर्वाङ्ग केनापि न दृष्टम् ।।

(गा० स० ३।३४)

(७) चित्र कैसे बने, अवयवो की पृथक्-पृथक् प्रतीति तो होती ही नही। उसके अलौकिक कान्तिवाले अग आपस मे इस प्रकार प्रतिबिम्बित हो रहे है—एक की आकृति दूसरे मे पडी इस तरह झलक रही है—कि यह हाथ है, यह मुख है, इत्यादि अवयव-विभाग का पता ही नही चलता । कोई चतुर आवे तो, इस समस्या का निर्णय तो करे । फिर कहे कि चित्र क्यो नही बना ।

अवयवेषु परस्परबिम्बिते—
ष्वतुलकान्तिषु राजति तत्तनोः ।
अयमय प्रविभाग इति स्फुट
जगतिनिश्चिनुते चतुरोऽपि कः ।

(८) चित्र तो तब बन सके जब श्रीमती अगना का कोई अग दीख पडे, वहाँ तो सौदर्यज्योति के चाकचिक्य मे चित्रकार बेचारे को कुछ सूझता ही नही, आँखे ही चौधिया गयी । ज्योति के परदे मे ज्योतिष्मान् पदार्थ छिपा हुआ है, ज्योति दीखती है, पर जिससे वह ज्योति निकल रही है, वह चीज नजर से गायब है। (मूसा की तजल्ली का सा नजारा है ।)

सुन्दरी (कीदृशी) सा भवत्येष विवेकः केन जायते ।
प्रभामात्र हि तरल दृश्यते न तदाश्रयः ।

(दण्डी)

(९) कोई चित्रकार अपनी निष्फलता पर स्वय कह रहा है—

जो नकाब उट्ठी, मेरी आँखो पै पर्दा पड़ गया ।
कुछ न सूझा आलम उस पर्दानशी का देखकर ।।

(मोमिन)

(१०) कोई नजारे की ताव न लाकर कह रहा है—

[1]दिला ! क्योकर मै उस रुखसारे-रोशन के मुकाबिल हूँ,
जिसे खुरशीदे-महशर देखकर कहता है मैं तिल हूँ।
(अकवर)

इत्यादि अनेक कारण चित्र न वन सकने के हो सकते है। वास्तविक कारण क्या था, सो तो विहारी ही जानते होगे, या उनके चुतर चितेरे।

"की है या वन्दिश जहने-रसाने, जिसने देखा हो वह जाने।"

• • •

लिखन बैठि जाकी सबिहि गहि गहि गरब गरूर।
भये न केते जगत के चतुर चितेरे कूर॥ (वि० स०)
सगरब गरब खिचै सदा चतुर चितेरे आय।
पर वाकी बाँकी अदा नेकु न खींची जाय॥ (शृ० स०)

मालूम होता है विहारी के 'गरब, गरूर' मे पुनरुक्ति समझ कर, नीचे के दोहे मे 'सगरव गरव' की 'इसलाह' दी गई है। इसे पुनरुक्ति समझ कर कुछ और लोग भी अक्सर धोखे मे पडे है, किसी ने 'गरत्र' का 'गहव' (अधिक, भारी) बनाया है। किसी ने हिन्दू और मुसलमान चितेरो के साथ 'गरव' का और 'गरूर' का यथाक्रम सम्बन्ध जोडा

---

१ किसी चमकीले चेहरे को देखने के लिए बेचैन अपने दिल से कोई कहता है कि भई! क्यो मजबूर करता है, मै इस रुखसारे-रोशन के—प्रकाशमय मुख के—सामने कैसे जाऊँ, उस पर किस तरह दृष्टि डालूं ? उस पर—जिसे देखकर प्रलयकाल का सूर्य कहता है—कि तेरे सामने मै 'तिल'—कपोल पर का काला तिल—हूँ! परले दर्जे की अत्युक्ति है। परमार्थ पक्ष में ले जाने पर यहअ त्युक्ति यथार्थता में परिणत होकर और भी हृदयगम हो जाती है। गीता की उक्ति से भी बढ जाती है। उस परमज्योति के सम्मुख प्रलयकाल के सहस्रो सूर्य काले तिल से भी काले है।

दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद् युगपदुत्थिता।
यदि भा. सदृशी सा स्याद्भासस्तस्य महात्मन ।
(गीता)

नवीन ज्योतिर्विज्ञान से सिद्ध है कि सूर्य का पिण्ड वस्तुत. घोर काला है, जो ज्योतिर्मय प्रचडताप से उत्तप्त वायव्यो और वाष्पो के घने मेघ से आच्छादित है। ज्योति का पर्दा पड़ा हुआ है, कहीं-कही इन्हीं भास्वर बादलो के फटने से गवाक्ष से वन जाते है जिन्हें ज्योतिषी सूर्य के धब्बे कहते है। इन्हीं झरोखो में सूर्य के वास्तविक पिंड का कभी-कभी दर्शन हो जाता है। कोई-कोई नन्हा धब्वा वस्तुत. ५,००० मील से भी अधिक व्यास का अनुमित हुआ है। इसलिए अकवर की काले तिल की उपमा बहुत ही युक्त और सगत है।

है । पर यहाँ पुनरुक्ति नही है, इस जगह 'गरूर' का अर्थ 'मगरूर'—सरापा गरूर—है अर्थात् बहुत गर्वीला । जहाँ गुणवाचक या भाववाचक शब्द से गुणी का बोध कराया जाता है, वहाँ गुणी मे गुणप्रकर्ष व्यग्य होता है । यथा—'साक्षादिव विनय ' यहाँ विनयी मे विनयाधिक्य व्यग्य है, बाण की कादम्बरी मे तो इस प्रकार के प्रयोग बहुतायत से हे—'प्रत्यादेशो धनुष्मताम्—इत्यादि ।

उर्दू कवियो के 'जौक' 'शौक' 'दर्द' 'दाग' आदि 'तखल्लुस' भी एक प्रकार से इसका उत्तम उदाहरण हो सकते है ।

शृगार सतसई के इस दोहे की 'क्रिया' खराब हो गई है, 'कर्म्म' भी कुछ बिगड गया है । 'खिचै' रखे तो बेचारे चतुर चितेरे खुद खिचे आते है । और चितेरो पर दया करके 'खीचै' पढे तो मात्रा की टाग खिच कर बढ जाती है । इस दोहे की शब्दस्थापना कुछ ऐसी बेढगी और विषम है कि पढने मे जबान को धचका लगता है, सहृदय के सुकुमार कोमल कान इस खीचतान को सह नही सकते ।

बिहारी-सतसई के अध्ययन की नवीन दिशाएँ

डॉ० भगीरथ मिश्र

'अनेक सवाद' भरी बिहारी-सतसई के अध्ययन की एक लम्बी परम्परा है। हिन्दी का यह ग्रन्थ सुदुर्लभ सौभाग्यशाली है जिसकी टीकाएँ और अनुवाद पहले ही सस्कृत और उर्दू मे भी हो चुके है। परन्तु टीका, व्याख्या और अनुवाद की प्रगाढ परम्परा होते हुए भी, यह कहा जा सकता है कि अध्ययन सीमित क्षेत्र मे ही होता रहा। आधुनिक शिक्षा-विकास के साथ साहित्य के अध्ययन के जो नवीन क्षेत्र उद्घाटित होते जा रहे हे, उनमे भी हमारे प्राचीन काव्य नूतन सभावनाओ से युक्त सिद्ध हो रहे है। ऐसा सिद्ध हो रहा है कि जो काव्य लोकप्रिय, स्मरणीय एव युगान्तर-स्थायी होता है, वह अपने अन्तर्गत इन नूतन सभावनाओ को भी छिपाये रहता है। हिन्दी-साहित्य के प्रसग मे यह बात दो अतिप्रसिद्ध काव्यो, 'रामचरित मानस' और 'बिहारी-सतसई' के सम्बन्ध मे पूर्णतया सत्य है। 'रामचरित मानस' जहाँ पहले धार्मिक और साहित्यिक महत्त्व का ग्रन्थ समझा जाता था वही अब वह सास्कृतिक, सामाजिक, एव राजनैतिक महत्त्व का ग्रन्थ सिद्ध हो रहा हे। इसी प्रकार बिहारी-सतसई जो केवल रमणीय काव्य की दृष्टि से पढी जाती रही है, अब वह सास्कृतिक, मनोवैज्ञानिक एव ऐतिहासिक विशेषताओ से सम्पन्न ग्रन्थ स्पष्टत सिद्ध हो रही है। अत हिन्दी-काव्यो का इन नवीन दृष्टियो से अध्ययन अपेक्षित है।

इसके अतिरिक्त हिन्दी-काव्य के गौरव की पूर्ण प्रतिष्ठा के लिए प्रतिष्ठित गौरव वाले साहित्यो की परम्परा मे आने वाले ग्रन्थो के साथ हिन्दी ग्रन्थो के तुलनात्मक अध्ययन की भी आवश्यकता है। इन परम्पराओं और तुलनाओ के बीच रखकर ही हम राष्ट्रभाषा हिन्दी के काव्य का समुचित मूल्याकन कर सकते है। ऐसे अध्ययन न केवल अधिक विश्वसनीय होते है, वरन् वे सत्काव्यो की रचना की प्रेरणा भी देते है। बिहारी-सतसई के अध्ययन से स्पष्ट होता है कि लोक की सहज काव्य-प्रतिभा मुक्तक के रूप मे प्रकृत्या प्रस्फुटित होती है। साथ ही यह काव्य सहज स्मरणीय होने के कारण अधिक प्रचलित एव स्थायी होता है। बडे-बडे प्रबन्ध काव्य मौखिक रूप मे उतने दीर्घ-

जीवी नही होते जितने छोटे-छोटे धार्मिक भावना, रसत्व या जीवनानुभव से सयुक्त मुक्तक होते है। इसके अतिरिक्त मुक्तक जहॉ बहु-मुखोच्चरित हो सहज प्रचार पाते है, वहॉ दीर्घ काव्य-प्रबन्ध सामान्यतया कठिनाई से ही इस सौभाग्य को प्राप्त करते है।

कला की दृष्टि से भी मुक्तक काव्य मे अभिव्यक्ति-भगिमा एव चमत्कार की विशेषता प्रबन्ध की अपेक्षा अधिक रहती है। मुक्तककार जहॉ एक-एक शब्द को सँभाल कर प्रयुक्त करता है, एक-एक वर्ण को सजाकर रखता और उसकी मात्रा को तोलकर लगाना है और इस प्रकार एक दृष्टिपात मे ही अपनी पूर्णकला की चमत्कृति की चका-चौध दिखा सकता है, वहॉ प्रबन्धकार को कथा-प्रवाह और चरित्र-चित्रण के प्रति अधिक जागरूक रहने के कारण कला के प्रति अधिक सजग होने का अथवा चमत्कार-प्रदर्शन का अवसर उतना नही मिलता। वरन्, वहॉ कुतूहल और भावना की तीव्रता के कारण कला की सूक्ष्मता और जटिलता समझने का धैर्य भी पाठक को नही रहता।

मुक्तक काव्य की सुन्दर परम्परा के साथ ही समस्यापूर्ति काव्य का भी विकास हुआ। मुक्तक काव्य का कलागत उत्कर्ष अपने एक विशिष्ट रूप मे समस्यापूर्ति काव्य मे पाया जाता है जिसके अध्ययन की भी आवश्यकता है। मुक्तक का यह रूप सुभाषित, सूक्ति या चमत्कार काव्य के रूप मे आया है।

यह कहना भी अधिक सगत नही है कि सस्कृति, समाज एव इतिहास का समावेश केवल प्रबन्ध-काव्य मे ही रहता है। बिहारी जैसे मुक्तककारो ने अपने दोहो मे इन तीनो की विशेषताएँ भर दी है। उदाहरणार्थ सस्कृति चित्रण के कुछ दोहे निम्नाकित है—

पतवारी माला पकरि, और न कछू उपाउ।
तरि ससार-पयोधि कौ, हरि-नावै करि नाउ॥३६१॥
जप माला, छापा, तिलक, सरै न एकौ कामु।
मन-काचै नाचै वृथा, साचै राचै रामु॥१४१॥
तजि तीरथ, हरि-राधिका-तनदुति करि अनुरागु।
जिहिं ब्रज-केलि-निकुज-मग, पग-पग होतु प्रयागु॥२०१॥

उपर्युक्त दोहो मे वेशभूषा एव अन्य वाह्याडम्बरो को छोडकर भक्ति-भाव को ग्रहण करने का उपदेश है और उसमे भी सर्वोपरि है प्रेम-भक्ति का सकेत। यह प्रेम भक्ति-भावना भारतीय सस्कृति का महत्त्वपूर्ण अग थी। इसी प्रकार बिहारी के दोहो मे सामाजिक जीवन से सम्बन्धित सूक्तियॉ देखिए—

बसै बुराई जासु तन, ताही कौ सनमानु।
भलौ-भलौ कहि छोडियै, खोटै ग्रह जपु, दानु॥३८१॥
अरे, परेखो को करै, तुहीं बिलोकि बिचारि।
किहिं नर, किहिं सर राखियै, खरै बढै परपारि॥६२०॥
कहै यहै स्रुति सुम्रृति हूँ, यहै सयाने लोग।
तीन दबावत निसकहीं, पातक, राजा, रोग॥४२९॥

करि फुलेल को आचमन, मीठौ कहत सराहि ।
रे गधी, मति-अंध तूँ, अतर दिखावत काहि ।।८२।।
रह्यौ न काहू काम कौ, सेंत न कोऊ लेत ।
बाजू टूटे बाज कौं, साहव चारा देत ।।१०६।।

उपर्युक्त दोहो मे सामाजिक नीति की सूक्तियाँ है, परन्तु वे सब समकालीन समाज के विशिष्ट प्रसगो से भी सम्वन्ध रखती है । इनमे मध्ययुगीन समाज की दशा के अनुरूप कही गई सूक्तियाँ देख पडती है ।

इसी प्रकार इतिहास की घटनाओ और व्यक्तियो से सम्वन्धित दोहे भी विहारी के अनेक है, यहाँ तक कि जयपुर के आस-पास तो लोगो का विश्वास है कि उनके अधिकाश दोहे किसी-न-किसी सामाजिक या ऐतिहासिक घटना से सम्वन्ध रखते है और उन्ही घटनाओ का प्रतिविम्व होने के कारण विहारी के दोहो का दरवार मे इतना आदर होता था। इतिहास से सम्बन्ध रखने वाले कुछ प्रसिद्ध दोहे बिहारी के निम्नाकित है—

नहि परागु, नहि मधुर मधु, नहि विकासु इहि काल ।
अली, कली ही सो वँध्यौ, आगैं कौन हवाल ।।३८।।
स्वारथु, सुकृतु न, श्रमु वृथा, देखि बिहग, विचारि ।
वाज, पराये, पानि परि, तू पच्छीनु न मारि ।।३००।।
सामा सेन, सयान की, सबै साहि कें साथ ।
बाहुबली जयसाहिजू, फते तिहारैं हाथ ।।७१०।।
यो दल काढे बलक तें, तैं जयसिंह भुवाल ।
उदर अघासुर के परे, ज्यो हरि गाइ, गुवाल ।।७११।।
घर घर तुरकिनि, हिन्दुनी, देति असीस सराहि ।
पतिनु राखि चादर, चुरी, तैं राखी जयसाहि ।।७१२।।

उपर्युक्त उदाहरण इस वात को प्रमाणित करने के लिए दिये गए है कि विहारी जैसे मुक्तककारो की रचनाओ का अध्ययन सास्कृतिक, सामाजिक, ऐतिहासिक आदि दृष्टियो से भी किया जा सकता है ।

विहारी के दोहो के इतने अधिक प्रभावशाली होने का एक प्रमुख कारण उनमे समाविष्ट नाटकीय तत्त्व है । ये तत्त्व विशेष रूप से उनके रसात्मक मुक्तको मे देखे जा सकते है । मुगल शासनकाल मे नाटक-रचना को हतोत्साहित किया गया । यही कारण है कि उस समय के हिन्दी-साहित्य मे भी नाटक-रचना सुदुर्लभ हे । ऐसी दशा मे कवियो की नाटकीय प्रतिभा प्रवन्ध काव्यो, पदो एव मुक्तको मे प्रस्फुटित हुई । इन्ही कवियो को पढकर या लीलारूप मे अभिनय कर जन-सामान्य ने अपनी नाटकीय अभिरुचि की तुष्टि की । अत सूर, तुलसी, बिहारी, देव, पद्माकर जैसे महाकवियो की रचनाओ मे नाटकीय तत्त्वो का समावेश देखने को मिलता है । इन रचनाओ की लोकप्रियता का भी यह एक प्रधान कारण था ।

नाटकीय तत्त्व प्रवन्ध काव्यो मे तो कथा-तत्त्व के साथ सहज ही समाविष्ट हो सकते है, परन्तु मुक्तक काव्यो मे समाविष्ट करना कुछ कठिन कार्य है । फिर भी

इस दिशा मे बिहारी को अद्वितीय सफलता मिली है। नाटकीय विशेषता को स्पष्ट करते हुए दशरूपकार आचार्य धनजय ने लिखा है—

अवस्थानुकृतिर्नाट्यम् रूप दृश्यतयोच्यते।
रूपकम् तत्समारोपात् दशधैव रसाश्रयम् ॥७॥

इससे स्पष्ट है अवस्था की अनुकृति, रूप-योजना, चित्रात्मक वर्णन नाटक की विशेषता है। हम कह सकते है कि किसी व्यक्ति का स्वरूप, क्रिया-कलाप, भावानुभूति अथवा किसी घटना को प्रत्यक्ष कर सजीव रूप मे सामने प्रस्तुत कर देना नाटकीय विशेषता है। ऐसी दशा मे हम निश्चयत कह सकते है कि बिहारी के मुक्तक नाटकीय विशेषताओ से सम्पन्न है। उन विशेषताओ से युक्त कुछ उदाहरण देखिये—

अग-अग-नग जगमगत, दीपसिखा सी देह।
दिया बढाये हूँ रहे, बडो उजेरो गेह ॥६६॥
छुटी न सिसुता की झलक, झलक्यौ जोबनु अग।
दीपति देह दुहून मिलि, दिपति ताफता-रग ॥७०॥
मिलि चदन बेंदी रही, गोरे मुख न लखाइ।
ज्यो-ज्यो मद लाली चढै, त्यो-त्यो उघरति जाइ ॥१८०॥

उपर्युक्त प्रकार के बिहारी के अनेक दोहे है जिनमे रूप-लावण्य का चित्रण चटकीले ढग पर किया गया है जिससे आँखो के सामने सजीव लावण्य मूर्ति अकित हो जाती है। इनसे भी अधिक निखरे हुए बिहारी के वे चित्र है जो क्रिया-कलाप को प्रत्यक्ष करते है। उदाहरणार्थ देखिए—

चितई ललचोहे चखनु, डटि घूंघट-पट माँह।
छल सो चली छुवाइ कै, छिनकु छबीली छाँह ॥१२॥
कहत, नटत, रीझत, खिझत, मिलत, खिलत, लजियात।
भरे भौन में करत ह, नैननु ही सो बात ॥३२॥
मुँहु धोवति, एडी घसति, हँसति, अनगवति तीर।
धँसति न इदीवर-नयनि, कालिन्दी के नीर ॥६६१॥

कहने की आवश्यकता नही कि इन दोहो मे अभिनय की विशेषता है जो नाटक का गुण है। बिहारी के इन अभिनयात्मक चित्रणो को भुलाया नही जा सकता। साथ ही यह भी सत्य है कि 'बिहारी-सतसई' ऐसे क्रियाकलापमय चित्रो से भरपूर है। ये क्रिया-कलाप प्राय विभाव या अनुभाव रूप मे है। इनके साथ-साथ ऐसे भी दोहे है जिनमे भाव प्रत्यक्ष हुआ है। दो एक उदाहरण देखे जा सकते है—

छला छबीले लाल कौ, नवल नेह लहि नारि।
चूमति, चाहति, लाइ उर, पहिरति धरति उतारि ॥१२३॥
नासा मोरि, नचाइ दृग, करी कका की सौंह।
काँटे सी कसकै हिये, गडी कँटीली भौंह ॥४०६॥
बतरस-लालच लाल की, मुरली धरी लुकाइ।
सौंह करै भौंहनु हँसै, दैन कहै नटि जाइ ॥४७२॥

इन दोहो मे प्रेम (रति) भाव की सुन्दर अभिव्यक्ति है जो नाटकीय विशेपता के साथ प्रत्यक्ष होती है। भाव के इस प्रकार के प्रत्यक्षीकरण के अनेक उदाहरण मिलते है। इसके साथ-ही-साथ घटनाओ को सजीव रूप से स्पष्ट करने वाले दोहे भी 'बिहारी-सतसई' मे अनेक है, जैसे—

कुज-भवनु तजि भवन कौ, चलियै नन्द किशोर ।
फूलति कली गुलाब की, चटकाहट चहुँ ओर ॥८४॥
घर घर तुरुकिनि हिन्दुनी, देखि असीस सराहि ।
पतिनु राखि चादर, चुरी, तैं राखी, जयसाहि ॥७१२॥
अहे, दहेडी जिनि धरै, जिनि तूँ लेहि उतारि ।
नीकै ही छीकै छुवै, ऐसे ही रहि, नारि ॥६६६॥

इन समस्त उदाहरणो से यह बात प्रमाणित हो जाती है कि बिहारी के काव्य मे नाटकीय विशेपता विद्यमान है जो उसे इतना प्रभावशाली बनाती है।

मुक्तक काव्य मे इस नाटकीय विशेपता को लाने के लिए भाषा पर अधिकार चाहिए और यह मानना पडेगा कि बिहारी को वह अधिकार विलक्षण रूप से प्राप्त है। उन्होने इसी अधिकार के साथ अपने काव्य मे जगमगाती शब्द-योजना एव उक्ति-वैचित्र्य का सम्पादन किया था। सतसई के सात सौ दोहो मे ही उनके द्वारा प्रयुक्त शब्द भण्डार विशाल है। ठेठ ग्रामीण शब्दो से लेकर उत्कृष्ट साहित्यिक शब्दावली का प्रयोग सतसई मे हुआ है और दोनो ही प्रकार की प्रयुक्त शब्दावली मे एक मोहक आभा और रमणीयता विद्यमान है।

बिहारी ने अपने शब्दो के बहुविध प्रयोग से वैचित्र्य-सम्पादन किया है। कही तो वह पुनरुक्ति रूप मे है और कही अनेकार्थी शब्द प्रयोग-रूप मे। कही विरोध-द्वारा वैचित्र्य आया है, तो कही असगति का चमत्कार है।

उदाहरणार्थ—

सालति है नटसाल सी, क्यो हू निकसति नाँहि ।
मनमथ-नेजा-नोक सी, खुभी खुभी जिय माँहि ॥६॥
हरि हरि ! बरि बरि उठति है, करि करि थकी उपाइ ।
वाको जुरु, बलि बैद, जो, तो रस जाइ, तु जाइ ॥११६॥
औरे-ओप कनीनिकनु, गनी धनी-सिरताज ।
मनी धनी के नेह की, बनी छनी पट लाज ॥४॥
खेलन सिखये, अलि भलै, चतुर अहेरी मार ।
काननचारी नैन-मृग, नागर नरनु सिकार ॥४५॥

बिहारी के शब्द-प्रयोग के साथ-साथ शब्द-मैत्री, वर्ण-मैत्री वर्णावृत्ति आदि के चमत्कार भी उनके दोहो मे एक चमक भर देते है और बहुत-से लोग उनके काव्य पर इन्ही विशेपताओ के कारण लट्टू हे। इसमे सन्देह नही कि ये विशेपताएँ सर्वप्रथम प्रभाव डालती है और यदि इस वर्ण-शब्द-सौष्ठव के साथ-साथ अर्थगत विशेपता भी हुई, तो काव्य की उत्कृष्टता असदिग्ध रूप से सिद्ध हो जाती है। जैसे—

सायक-सम मायक नयन, रँगे त्रिविध रँग गात।
झखौ बिलखि दुरि जात जल, लखि जलजात लजात ।।५५।।

उपर्युक्त दोहे मे 'मायक' और 'जलजात' शब्दो के विविध प्रयोगो का चमत्कार है। अर्थ के अतिरिक्त शब्द का भी विलक्षण आकर्षण है। परन्तु इससे भी कठिन 'ट' जैसे वर्णो की आवृत्ति का चमत्कार है। इसका भी एक उदाहरण प्रस्तुत है —

लटकि लटकि लटकतु चलतु, डटतु मुकट की छाँह।
चटकु भर्यौ नटु मिलि गयो, अटक-भटक-बट माँह ।।१६२।।

उपर्युक्त कोमला और पुरुषा वृत्तियो के साथ एक उपनागरिका का उदाहरण तो अत्यन्त प्रसिद्ध ही है —

रस-सिगारु-मंजनु किए, कंजनु भजनु दैन।
अंजनु रंजनु हू बिना, खंजनु गंजनु, नैन ।।४६।।

यह बिहारी की वर्णो एव शब्दो की योजना विशिष्ट चमत्कार का साधन है। बिहारी के अनुकरण पर अब इसी प्रकार का चमत्कार दो-एक दोहो मे दिखा लेना और बात है, पर हिन्दी-काव्य मे प्रारम्भिक सतसई ग्रन्थो मे उपर्युक्त चमत्कार लाना बिहारी की मौलिकता है। शब्द-प्रयोग के प्रसग मे बिहारी का शब्द-निर्माण भी बडा वैशिष्ट्य-पूर्ण है। दोहे के साँचे मे ढालने के लिए तथा वर्णमैत्री और शब्द-सक्षेप की आवश्यकता-वश बिहारी ने शब्दो के नवल रूपो की रचना की है जैसे, झुलमुली, टलाटली, चितचट-पटी, उडाइक, सायक (सायकाल का सक्षेप), कैबा (कै बार का सक्षेप), रचौ है (रचाने वाले) लगौ है, चोरटी, गोरटी, बडबोली आदि।

ऐसी बात नही कि बिहारी ने शब्दो को विकृत न किया हो। अर (अड), बर (बल), नट साल, रोज (रोजा), अनही चितै, मोषु (मोक्ष), सक्रोनु (सक्रमण), करकै (करिकै) असोस (अशोष्य), मुत्तिय (मौक्तिक) आदि अनेक उदाहरण बिहारी द्वारा प्रयुक्त विकृत शब्दो के दिये जा सकते है। अत भाषा की दृष्टि से भी बिहारी की सतसई का अध्ययन बडा मनोरजक है।

बिहारी-सतसई की टीकाएँ

डॉ० रमेश मिश्र

'सतसई' पर टीका लिखने का क्रम उसके रचना-काल के लगभग पन्द्रह वर्ष वाद से ही चलने लगा था। इस क्रम परम्परा मे पाठक ही टीकाकार ओर आलोचक वनते रहे है। विभिन्न दृष्टिकोणो को लेकर 'सतसई' का आस्वादन हुआ हे, जिसका उच्छलन विभिन्न दृष्टियो के माध्यम से टीकाओ का रूप धारण करता रहा है। हिन्दी की उपभापाओ मे ही नही सस्कृत, अरवी, फारसी उर्दू आदि भापाओ मे भी 'सतसई' की टीकाओ का विस्तार हुआ है। कुछ टीकाएँ वैद्यकपरक और कुछ शातरस प्रधान अर्थ वाली भी है। इन वहुविधि टीकाओ मे आशिक अथवा समग्र रूप मे कवि-कल्पना की समाहार-शक्ति और भापा की समास-शक्ति को विस्तार मिला हे। इन अनेक टीकाओ मे से वहुत-सी तो खिलने से पहले ही काल कवलित हो गई। कुछ है जिनका सक्षिप्त परिचय[1] देना उचित प्रतीत होता है—

(१) **कृष्णलाल की टीका**—यह टीका 'सतसई' की प्रथम टीका मानी जाती है। इसके उपसहार मे यह दोहा मिलता है—

> **'सवत ग्रह, ससि, जलधि, छिति, छठ तिथि वासर चद।**
> **चैत मास पख कृप्न मै, पूरन आनँद कद॥**

कुछ टीकाओ मे उक्त दोहे को 'सतसई' की समाप्ति का सूचक माना है। अधिकाश टीकाओ मे यह दोहा नही मिलता। इससे इस दोहे को कृष्णलाल की टीका की समाप्ति का सूचक माना गया है। इसके अनुसार टीका की समाप्ति सवत् १९१९ की वैशाख कृष्णा षष्ठी अर्थात् ३१ मार्च सन् १६६२ को हुई थी।[2] इस प्रकार 'विहारी

---

१ यह परिचय 'कविवर बिहारी', 'बिहारी की वाग्विभूति', 'मिश्र बन्धु विनोद' 'विहारी-विहार' आदि ग्रथों की सहायता से लिखा गया हे।

२ 'इस तिथि के वारे में भी काफी विवाद है। जिसका समाधान जयपुर सीमांत में 'अमात साह' मानने की प्रथा से हो जाता है। इस प्रथा के अनुसार चैत्र कृष्णा छठ होती है। गणना करने पर उक्त तिथि ठीक बैठती हे।' 'कविवर बिहारी', पृ० २०१-२

सतसई' के निर्माण-काल (प्रारम्भ मवत् १६९२ समाप्ति सवत् १७०४-५) के केवल १४-१५ वर्ष वाद ही इस टीका की रचना हुई थी। इससे पूर्व की कोई टीका न मिलने के कारण इसे सतसई की प्रथम टीका होने का सौभाग्य प्राप्त है। टीका के अन्त मे एक दोहा यह भी मिलता है—

प्रथम देववानी हुती पुनि नरवानी कीन।
'लाल' विहारी कृत कथा पढ़ै सो होय प्रवीन॥

अर्थात् 'पहले यह (मुक्तक रचना या टीका) देववाणी—सस्कृत मे थी, फिर नरवाणी—व्रजभापा मे की गई। 'लाल' कवि कहते है कि जो विहारी कृत कथा—सतसई को (इस टीका की सहायता से) पढे वह प्रवीण होवे।' सस्कृत-गद्य-टीका का समय वाद का है, इससे अर्थ की सगति ठीक नही वैठती। 'लाल' टीकाकार का नाम या उपनाम है, क्योकि इसमे कवि का नाम 'विहारीदास' रूप मे प्रयुक्त हुआ है। इस सम्वन्ध मे यह जनश्रुति भी है कि विहारी के वेटे का नाम कृष्ण कवि था। उन्होने कवित्त-सवैयो मे 'सतसई' की एक टीका लिखी थी। पर, कृष्णदत्त द्वारा रचित कवित्त-सवैयो की टीका का रचना-काल स० १७८० के लगभग है। अत विहारी और इनके आविर्भाव काल मे वहुत अन्तर होने के कारण इन्हे विहारी का पुत्र कहना सगत प्रतीत नही होता। उक्त कृष्ण कवि अथवा 'लाल' कवि ही विहारी के 'लाल' (पुत्र) माने जा सकते है, जिन्होने सतसई की प्रथम टीका रची।

इस टीका की भाषा जयपुरी मिश्रित व्रजी मे है। इसका अर्थ साधारण कोटि का है। वक्ता बोधव्य तथा नायिका भेद का निर्देश है। अलकार-ध्वनि आदि का निर्देश नही है। उदाहरण के लिए विहारी के निम्नलिखित प्रसिद्ध दोहे का अर्थ इस प्रकार है—

पर्‌यौ सोरु सुहाग कौ इनु विनु ही पिय नेह।
उन दौंही अँखियाँ ककै कै अलसौंहीं देह॥

'टीका—मुग्धा स्वाधीन पतिका। सखी कौ वैन सखी सौ। हे सखी, इन राधिका विन ही भरतार सौ नेह सुहाग कौ सोर पार्‌यो है। सो कैसैक नायका के अलसोही देह करने तै नायक दोनु ही अँखियाँ करिके देखि सो चित चढी।'

(२) **मानसिह की टीका**—काल क्रमानुसार दूसरी टीका उदयपुर के विजय-गछ ग्राम निवासी मानसिह नामक कवि की है। ये उदयपुर के महाराजा राजसिह के दरवारी कवि थे। इस टीका का निर्माण-काल स० १७३४-३७ के बीच माना जाता है। कहा जाता है कि इन मानसिह ने जयपुर मे जाकर विहारी से साक्षात्कार भी किया था।

इस टीका का अर्थ सामान्य कोटि का है। अलकारादि की चर्चा नही है। कुछ दोहो के अर्थ तो अशुद्ध और अग्राह्य है। उदाहरण के लिए पूर्वोक्त दोहे का अर्थ इस प्रकार है—

'षडिता नायिका श्री राधा जू श्री कृष्ण जू सो कहै है। पार्‌यौ सोर० इन विनु इन पिय के नेह बिनु ही हमारौ व्रजमडल मे यो ही झूठौ ही सुहाग कौ सोर पसार्‌यौ है। इन दौही कै अलसो इन दोनु अँखियाँ देखे ही कौ सुहाग है। अर कै अलसौहो नीद भरी देह कै हमारै घर आइ सोवन कौ सुचाग है इत्यर्थ।'

(३) **अनवर चन्द्रिका**—'अनवर चन्द्रिका' नामक टीका शुभकरण तथा कमलनयन नामक दो कवियो का सम्मिलित प्रयत्न है। इस टीका की रचना नवाव अनवरखाँ की आज्ञा से हुई थी। ये अनवरखाँ दिल्ली के कोई सामन्त थे। इनकी प्रशसा मे टीका मे एक कवित्त मिलता है, जिसमे शुभकरण और कमलनयन ये दोनो नाम आते हैं—

'सुभकरनदास' इच्छित करन, जय जय जय सकर-तनय।
सीखत सिपाही त्यौं सिपाहीगरी 'कौलनैन'
कामतरु दान सीखै तजि अहमेव जू।

'अनवर चद्रिका' का रचना-काल स० १७७१ है। इस टीका को रचने का कारण बताते हुए लिखा है—

जु है बिहारी सतसया मै कवि-रीति-बिलास।
सो अव अनवर-चद्रिका सब कौ करै प्रकास॥

यह टीका सोलह प्रकाशो मे समाप्त हुई है। इस टीका मे वक्ता-बोधव्य, अलकार-ध्वनि आदि वताने का प्रयत्न किया गया है, पर दोहो का अर्थ उद्घाटित करने का विशेष प्रयत्न नही है। ध्वनि-भेद आदि की जानकारी से दोहे का प्रसगादि समझने मे विशेष सहायता मिलती है। उदाहरण के लिए प्रथमोक्त दोहे का अर्थ इस प्रकार है—

'जौ याही नायिका की सखी की उक्ति है तौ याही कौ झूठी कहति है। ताकि आगे कहते है यह कि कोऊ टोकै नही। जौ सौति की कै वाकी सखी की उक्ति होइ तौ अमर्ष ईर्ष्या सचारी। विभावना अलकार प्रथम भेद—

कारन विनहीं काज कौ उदै होइ जिहि ठौर।
पहिलौ भेद विभावना कौ भावत सिर-मौर॥

(४) **कृष्ण कवि की कवित्त वन्ध टीका**—इस टीका के अन्त मे यह दोहा मिलता है—

सतरह सै द्वै आगरे असी वरस रविवार।
अगहन सुदि पाँचै भए कवित बुद्धि-अनुसार॥

इस दोहे के अनुसार यह टीका स० १७८२ के अगहन माह की शुक्ला पचमी रविवार को समाप्त हुई थी।

इस टीका मे 'सतसई' का अर्थ समझने का पूर्ण प्रयत्न किया गया है। इसमे पहले वक्ता-बोधव्य तथा नायिका-भेद वताने के वाद घनाक्षरी अथवा सवैया छदो मे दोहो का अर्थ लगाया गया है। एक विशेषता यह भी है कि प्रति दोहे से पूर्व पिगलशास्त्र के अनुसार उसकी जाति तथा लघु-गुरु के रूप मे वर्णो की सख्या वताई गई है। इसमे अलकारादि का निर्देश नही है। उदाहरण के लिए पूर्वोक्त दोहे से पूर्व इस प्रकार लिखा है—

(नर। अक्षर ३३। गुरु १५, लघु १८।)

दोहे को देकर नायिका-भेद इस प्रकार है—'यह नायिका सौति कौ अलसवलित देखि अरु रसमसी आँखि देखि सखी सौ काकु ध्वनि कहति है। अन्य-सभोग-दुखिता होइ।

जो सखी नायिका सौ कहै तो याकी रिस कौ निवारन होइ।' दोहे के भावो को लेकर टीकाकार ने अपना कवित्त इस प्रकार बनाया है—

सै करि आँखि उनीदी करी अधऊनत सो मुख बोल उचार्यौ।
बारही बार जम्हाइ कै यौ ही खरौ तन आरस कै ढर ढार्यौ॥
झूठी जतावति है सुखसेन जगी यह जामिनी जामिनि चार्यौ।
देखि तौ प्रीतम की बिन प्रीति सुहाग कौ सोर कितौ इहि पार्यौ॥

(५) **साहित्य-चद्रिका**—जिस ध्वनि-विवेचन को 'अनवर-चद्रिका' मे उठाया गया था उसका विकास 'साहित्य चद्रिका' मे देखने को मिलता है। पर 'अनवर चद्रिका' के अर्थ की कमी इस 'साहित्य चद्रिका' मे हुई। इस टीका की समाप्ति पन्ना के कर्ण कवि ने स० १७९४ मे की थी। इस सवत् की पुष्टि उन्ही के एक दोहे मे होती है—

वेद खड गिरि चद्र गनि भाद्र पचमी कृष्ण।
गुरु बासर टीका करन पूज्यौ ग्रथ कृष्न॥

इस टीका मे दोहो का अर्थ करने के अतिरिक्त व्यग्य-कथन की ओर भी सकेत है। कही-कही अलकार भी दिए है। 'रत्नाकर' जी ने लिखा है कि 'इस टीका की प्रति स० १८८२ की मिलती, जिसमे प्रारभिक ४७ पृष्ठ न होने से उसके रचियता और रचना-समय का ठीक-ठीक बोध नही हो पाता।' पूर्वोक्त दोहे का अर्थ इस प्रकार है—'सखी कौ बचन सखी सौ। इस नाइका ने आँखे उनीदी करिकै और आलस भरी देह करिकै बिना नाहक की प्रीति सुहाग कौ सोरु पार्यो है। इस कहनावति सो सुरतात की व्यगिकरि लच्छिता होति है अथवा प्रेम गर्विता होति है। विभावनालकार।'

(६) **अमर-चद्रिका**—केशव-काव्य के प्रसिद्ध टीकाकार सुरति मिश्र ने 'अमर चद्रिका नाम' की टीका लिखी है। इसमे 'मगलाचरण' के पश्चात् टीका करने का कारण और काल इस प्रकार है—

जोधपुर राज-महाराज श्री उभयसिह,
नव कोटि नाथ गाथ प्रसिध बखानिये।
तिन के सचिव राय रायाँ श्री उभयसिह,
कोबिद-सिरोमनि जगत जस जानियै॥
तिन मिश्र सूरति सुकबि सौ कृपा सनेह,
करि कै कही यौ एक बात उर आनियै।
कठिन बिहार-सतसैया तापै टीका कीजै,
जी कौ सुख दायी नीकौ अर्थ जातै जानियै॥

सत्रह सै चौरानबै आस्विनि सुदि गुरुबार।
अमर चद्रिका ग्रंथ कौ विजय-दसमि अवतार॥

इन कथनो के आधार पर इस टीका की समाप्ति स० १७९४ की विजय दशमी गुरुवार को, जोधपुर के महाराजा अभयसिह के सचिव भडारी नाडूला अमरचद के कहने से, हुई थी।

अर्थोद्घाटन की दृष्टि से टीका मे दोहो की सीमा मे ही प्रयत्न किया गया है।

इससे टीकाकार का मन्तव्य समझने मे कठिनाई होती हे। कही-कही तो दोहे का अलकारादि बताकर ही कर्त्तव्य की इतिश्री समझ ली गई है। पर, अलकार-निरूपण मे कही-कही पाडित्य-प्रदर्शन भली प्रकार किया गया है। पूर्वोक्ति दोहे का अर्थ, शकासमाधान के रूप मे इस प्रकार किया गया है—

"प्रश्न—विनु प्रिय-नेह सुहाग कौ सोरु न केहूँ होई।
उत्तर—निज सखि- बच दीठि न लगै हित पै कहत सु जोई।
पर्यायोक्ति। लच्छन।

छल करि साधिय इष्ट जहँ पर्य्यायोक्ति सुनाम।
काउ न टौकै इष्ट छल-वच कहि किय काम॥"

उपरोक्त टीकाओ के अतिरिक्त १८वी शताब्दी मे कुछ ऐसी टीकाओ का उल्लेख भी हुआ है, जो उपलब्ध तो नही हो सकी किन्तु नाम प्रचलित है। 'मिश्र वन्धु विनोद' मे किसी चरणदास की 'विहारी सतसई' की टीका का उल्लेख मिलता है। आपकी 'नेह प्रकाश' नाम की एक अन्य पुस्तक का नामोल्लेख हे, जिसकी रचना स० १७४६ हुई थी। इसी आधार पर 'रत्नाकर' जी ने उक्त टीका का रचनाकाल अनुमानत स० १७५० माना है। इसी प्रकार पठान सुल्तान के कुडलियो वाली टीका की चर्चा लल्लूलाल की 'लालचद्रिका' की भूमिका मे मिलती हे। व्यास ने 'विहारी-विहार' की भूमिका मे पाँच कुडलियाँ खोलकर प्रकाशित की हे। 'शिवसिंह सरोज' मे पठान सुलतान की उपस्थिति स० १७६१ मे मानी गई है। अत इसका क्रम 'अनवर चद्रिका' से पूर्व आना चाहिए। सुलतान की जो कुडलियाँ मिलती है उनसे इसकी कविता की मधुरता-रोचकता स्पष्ट है। सम्पूर्ण टीका की अनुपलब्धि सतसई के टीका-साहित्य की एक विशेष कमी प्रतीत होती है।

काशीराज महाराज वरिवडसिंह के सभा कवि रघुनाथ वदीजन की टीका का उल्लेख 'शिवमिह सरोज', 'विहारी-विहार' तथा 'मिश्रवन्धु विनोद' मे मिलता है। वदीजन का आविर्भाव काल १८वी शताब्दी माना गया है। पर, टीका अप्राप्य है। इस प्रकार विक्रम की १८वी शताब्दी मे 'सतसई' की लगभग दस टीकाएँ रची गई, जिसमे कुछ उपलब्ध होती हे और कुछ अप्राप्य है।

(७) **रस चन्द्रिका**—यह टीका १९वी शताब्दी की प्रथम टीका है। इस की रचना नरवरगढ के राजा छत्रसिंह के कहने से किसी ईसवीखाँ नामक व्यक्ति ने की थी। टीका के अन्त मे रचना और रचनाकाल के सम्बन्ध मे ये दोहे मिलते है—

तव सवके हित कौं सुगम भाषा बचन बिलास।
उदित ईसवीखाँ कियौ रस चद्रिका प्रकास।
नद गगन बस भूमि गनि कीने बाल-विचार।
रस चद्रिका प्रकास किये मधु-पुन्यौ गुरुवार॥

इस टीका मे अर्थोद्‌वोधन का स्तुत्य प्रयत्न है इसकी व्यवस्था भी प्रशनीय है, क्योकि इसमे अकारादि क्रम से दोहे रखे गये है। इसमे वक्ता-बोधव्य, नायिका-निर्देश तथा अलकार आदि की योजना के अतिरिक्त अर्थ को सरल भाषा मे लिखा गया है।

इस टीका को देखकर टीकाकार की मर्मज्ञता और कुशलता स्वत ही स्पष्ट होती है। उदाहरण के लिए पूर्वोक्त दोहे का अर्थ इस प्रकार है—

'नायिका है तौ पिय की सुहागिनी पै इसकी जो सखी है सो इसके सुहाग को नजर लगने के वास्ते छिपावै है। ओर कै यौ अर्थ कीजिये कि नायिका को सौति के सुहाग का धोखा हुआ हे सो सखी नायिका को समुझावै है कि तेरी सौति ने उनीदी आँखै करि कै ओर आलसौ ही देह करि कै सुहाग कौ सोरु डार्यौ है पै सुहागिनी तूही है।

अलकार पर्य्यायोक्ति, तिस का लक्षण। मिस कै कारज साधियै।। सो यहाँ उनीदो आँखिनु अलसाही देह मिस पिय के सुहाग को सोर पार्यो। सो ज्यों नजर न लगै। यह इष्ट साधन सखी करै है। यह हेत मिस। नेह तोही सो है इस ही मे पर्य्यायोक्ति है।'

(८) हरिप्रकाश टीका—सवत् १८३४ मे हरिचरणदास अथवा हरिकवि ने हरिप्रकाश नाम की टीका की रचना की है—

सवत अठारह सौ बितै तापर तीसऽरु चारि।
जनमाठै पूरो कियौ कृष्न चरन मन धारि।
लिखे इहाँ भूषन बहुत अनवर के अनुसार।
कहुँ औरै कहुँ औरहू निकरैगे ऽलकार।।

इस टीका के महत्त्व और प्रसिद्धि के सम्बन्ध मे रत्नाकरजी ने लिखा है—'इनकी सतसई की टीका बडी ही उत्तम तथा अर्थ जिज्ञासुओ के निमित्त परम उपयोगी है। यह पुरानी सरल भाषा मे लिखी गई है और शब्दार्थ तथा भावार्थ दोनो ही के स्पष्ट करने की इसमे पूर्ण चेष्टा की गई है। यद्यपि टीकाकार ने कही-कही शब्द की चीरफाड करके अर्थो मे खीचातानी की है, तथापि यह मुक्तकठ से कहा जा सकता है कि यह टीका दोहो के अर्थ समझने के सिद्धात बडे काम की है। इस टीका मे अलकार निर्देश भी हैं। यह काशी के भारत जीवन प्रेस से (सन् १८९२ मे) प्रकाशित हुई थी।

(९) प्रताप चद्रिका टीका—जयपुर नरेश महाराज प्रतापसिह के आश्रित मनीराम कृत 'प्रताप चद्रिका' टीका का रचनाकाल अनुमानत स० १८५० के लगभग माना जाता है। रत्नाकर जी ने इन मनीराम को 'हम्मीर हठ' के निर्माता प्रसिद्ध कवि चद्रशेखर वाजपेयी का पिता बतलाया है। टीकाकार ने अपने विषय मे इस टीका मे कुछ भी नही कहा। जैसा कि इस टीका के एक दोहे मे प्रतीत होता है कि यह टीका 'अनवर' और 'अमर चद्रिका' के अलकारो की मीमासा करने के लिए लिखी गई थी। अर्थोद्बोधन का प्रयत्न इसमे न के बराबर है। अलकाराधिक्य के सम्बन्ध मे टीकाकार के ये दोहे प्रसिद्ध है—

'अनवरखाँ नै जे लिखे अलकार चित लाय।
अमर नै मुतिन मै अधिक अलकार दरसाइ।।
अनवरखाँ अरु अमर तै भूषन अधिक सुजोइ।
श्री प्रताप की चदिका लिखै लिखे कवि सोइ।।

उक्त समय के आसपास लालकवि वदीजन कृत 'लालचद्रिका' और अमरसिह

कृत 'अमर चद्रिका' का उल्लेख मिलता है । प्रथम का उल्लेख अम्बिकादत्त व्यास ने किया है । उनका कहना है कि 'लालचद्रिका' लल्लूलाल कृत 'लालचद्रिका' से भिन्न है । इसका रचनाकाल लगभग स० १८४० के बताया है । 'अमर चद्रिका' का उल्लेख 'मिश्रबधु विनोद' मे हुआ । इसके अनुसार यह टीका अमरसिंह कायस्थ ने रची है । इसी प्रकार राधाकृष्ण चौबे द्वारा रचित 'सतसई' की पद्यमय टीका का भी उल्लेख है । परन्तु ये तीनो टीकाएँ उपलब्ध नही होती ।

(१०) **सतसैया वर्णार्थ अर्थात् देवकीनदन-टीका**—देवकीनदन टीकाका रचना काल स० १८६१ है । इस टीका को ठाकुरकवि ने बाबू देवकीनदनसिह के प्रसन्नार्थ लिखा था । फलत टीका का नाम उन्ही के नाम पर प्रसिद्ध हो गया । 'सतसैया वर्णार्थ' शीर्षक नाम से यह ध्वनित होता है कि इसमे दोहो का शब्द-अर्थ स्पष्ट किया गया होगा । और वास्तव मे वर्ण-वर्ण का अर्थ खोलने का प्रयत्न भी किया गया है । अनेक स्थानो पर प्रश्नोत्तरो की योजना से गूढार्थ स्पष्ट करने का सम्यक् प्रयत्न भी किया है । प्रत्येक दोहे के साथ प्रसग की योजना तथा वक्ता-बोधव्य के माध्यम से अर्थ बताया गया है । टीकाकार का ध्यान अलकारो की ओर नही के बराबर गया है । 'सतसई के पाठको के लिए यह टीका महत्त्वपूर्ण है ।

(११) **रणछोड जी की टीका**—इस टीका मे टीका का रचना-काल नही दिया गया । पर, गुजरात प्रदेश के रणछोडजी दीवान की जीवन घटना के आधार पर इसका निर्माण-काल स० १८६०-७० के बीच होने का अनुमान है । निम्न दोहे मे टीकाकार के सम्बन्ध मे उल्लेख मिलता है—

सतसैया के अर्थ कौ महापदारथ जानि ।
सोधि यथारथ बुद्धिबल रनछोडराय दीवान ॥

(१२) **लालचद्रिका टीका**—फोर्ट विलियम कॉलिज के हिन्दी अध्यापक श्री लल्लूलाल जी ने 'लालचद्रिका' टीका की रचना की थी । लल्लूलाल जी ने इधर-उधर से सूचनाएँ एकत्रित करके कई ग्रन्थो की रचना की थी । उन सब मे 'लालचद्रिका' टीका उत्तम समझी जाती है । इस टीका का प्रथम प्रकाशन स्वय लल्लूलाल जी ने अपने छापेखाने से स० १८१९ मे कराया था । इस टीका की रचना माघ सुदी पाचे स० १८७५ को हुई थी ।

'लालचद्रिका' की एकमात्र विशेषता यह है कि इसमे शब्द-क्रम से ही अर्थ किया गया है । पर, अर्थ हरिप्रकाश टीका और कृष्णलाल टीका से मिलता जुलता है तथा अलकार व शका-समाधान 'अमरचद्रिका' जैसा है । उस समय की प्रचलित खडी बोली मे यह टीका लिखी गई है । भाषा-जनसाधारण पाठक के स्तर की है । जब से यह टीका सर जी० ए० ग्रियसन महोदय के सम्पादकत्व मे छपी है और उसके साथ उनकी उपयोगी भूमिका दी गई है, तब से इस टीका का महत्त्व बहुत बढ गया है, अब यह सस्करण उपलब्ध नही होता ।

उन्नीसवी शताब्दी की उक्त टीकाओ के अतिरिक्त कुछ का 'मिश्र बन्धु विनोद' आदि मे नामोल्लेख ही मिलता है । इनमे अमरसिह कायस्थ की 'अमरचद्रिका' राधा-

कृष्ण चौवे की 'पद्य टीका', महाराज मानसिंह जोधपुरवाले की टीका, रामजूकृत टीका आदि है। इनका रचना-काल उन्नीसवी शताब्दी का उत्तरार्द्ध माना जा सकता है।

(१३) **नव्वाव जुल्फिकार अली की कुडलिया टीका**—इस ग्रन्थ के अन्त मे यह दोहा मिलता है—

गुन नभ ग्रह अरु इंदु नभ सित पचमि बुधवार।
'जुल्फिकार सतसई' कौ प्रगट भयो अवतार॥

इसके अनुसार टीका का रचना-काल स० १९०३ ठहरता है। सबसे अन्त मे टीकाकार ने अपने विपय मे लिखा है—'सिद्धि श्रीमच्छ्री ५ नव्वाव जुल्फकार अली वहादुर विरचिता कुडलिका वृत्त सप्तशक्तिका समाप्त।'

भाव की दृष्टि से इस कुडलिया-टीका की कुण्डलियाँ 'सतसई' के दोहो पर साधारण ही है। अर्थोद्वोधन मे इनसे विशेप लाभ नही होता। उदाहरण के लिए पूर्वोक्त दोहे पर यह कुण्डलिया मिलती है—

पारयौ सोक सुहाग कौ इनु बिनु ही पिय नेह।
उन दौंही अँखियाँ ककै कै अलसोही देह॥
के अलसौही देह खिसौही सी के ठाढ़ी।
प्रीति जनावति अधिक रीति रति की ज्यो गाढी॥
गाढी करि अग आँगि घाघरौं घनो बिगार्यौ।
हार्यौ हियौ दिखाइ अनोखौं आनद पार्यौ॥

(१४) **सरदार कवि की टीका**—इसका रचना-काल स० १९२० से १९३० के वीच माना जाता है। इस टीका का उल्लेख सर ग्रियसन, पडित व्यास तथा मिश्र वन्धु महाशयो ने किया है। यह टीका अप्राप्य है। 'रत्नाकार' जी ने इस टीका को देखने का उल्लेख किया है। इसी प्रकार गदाधार भट्ट की टीका का भी उल्लेख मिलता है, वह प्राप्त नही होती। 'रसकौमुदी' टीका मे धनज्य कृत टीका तथा गिरधरकृत टीकाओ का उल्लेख मिलता है। पर, इस उल्लेख के अतिरिक्त उक्त टीकाओ के सम्वन्ध मे और कोई जानकारी नही मिलती।

(१५) **रसकौमुदी टीका**—यह टीका दोहे, सवैये और घनाक्षरी छदो मे रचित है। श्री जानकी प्रसाद जी उपनाम रसिक विहारी अथवा रसिकेश इसके टीकाकार थे। इसकी रचना स० १९२६ मे हुई थी। टीकाकार के सम्वन्ध मे मिश्रवन्धु-विनोद का साक्ष्य है—"इनका जन्म स० १९०१ मे हुआ था। आप कुछ समय मे वैरागी होकर अयोध्या मे कनक भवन के महन्त हो गए और अपना नाम जानकी प्रसाद रखा। ·· ·· आपने २६ ग्रन्थ रचे है।" 'रसकौमुदी' टीका मे विहारी के कुल ३१६ दोहो पर ही सवैया तथा घनाक्षरी छदो मे भाव-विस्तार है, पर 'रसकौमुदी' की छद-योजना महत्त्वपूर्ण है।

(१६) **प्रभुदयाल पाँडे की टीका**—यह टीका कई दृष्टियो से महत्त्वपूर्ण है। टीकाकार प० प्रभुदयाल पाँडे प० प्रतापनारायण मिश्र के शिष्य थे। इस टीका प्रकाशन स० १९५३ मे कलकत्ता से हुआ था। इस टीका की भापा वहुत सुलझी हुई है। शब्दो

की व्युत्पत्ति का अच्छा प्रयत्न किया गया है। इसको प्रचलित खडी बोली की प्रथम टीका कह सकते है । इसकी व्यवस्था इस प्रकार है—पहले अन्वय, फिर सरलार्थ तत्पश्चात् शब्द-व्युत्पत्ति । इसकी भूमिका महत्त्वपूर्ण है। 'सतसैया के दोहरे' वाला प्रसिद्ध दोहा पाडे जी द्वारा ही रचित माना जाता है।

(१७) **पडित अबिकादत्त व्यास की कुंडलियाँ**—व्यास जी ने 'सतसई' के दोहो का भाव विस्तार कुण्डलिया छदो मे किया है। इस टीका का नाम 'विहारी-विहार' है प्रथम बार इसकी समाप्ति स० १९४८ मे हुई थी पर, चोरी चले जाने के कारण आपने पुन स० १९५४ मे इस टीका को पूर्ण करके अयोध्या नरेश महाराज प्रतापसिह को समर्पित किया था।

'विहारी-विहार' मे विहारी के एक-एक दोहे पर एकाधिक कुण्डलियाँ लगाई गई हैं। यद्यपि इन कुण्डलियो से विहारी के गागर रूप दोहे मे निहित भावना रूप सागर को सरलता से सतरित करना कठिन ही है। पर, इसमे व्यास जी की कवित्व शक्ति का अच्छा परिचय मिलता है। पूर्वोक्त प्रसिद्ध दोहे पर व्यास जी ने तीन कुण्डलिया छदो की योजना की है। 'विहारी-विहार' की एक विशेषता यह है कि उसमे लेखक ने भूमिका भाग को वडी निष्ठा और परिश्रम से लिखा है।

(१८) **भावार्थ प्रकाशिका टीका**—इस टीका के अन्तिम दोहे के अनुसार टीका की समाप्ति स० १९५४ (पौष माह १३ बुधवार) को हुई थी। देखिए—

वेद बाण अरु अक बिधु सवत पौष सुमास।
तेरस तिथि बुधवार को पूरन किय सुखरास॥

यह टीका विद्यावारिधि प० ज्वालाप्रसाद मिश्र द्वारा रचित है। इसके प्रारम्भ मे साहित्य-परिचय नाम से १३-१४ पृष्ठो की एक अच्छी भूमिका भी है, जिसमे काव्य, रस और अलकारो का सक्षिप्त विवेचन है। पाठ-शोध के लिए किया गया टीकाकार का प्रयत्न पडिताऊपन को लिये हुए है। प्रमुखत यह टीका प्रभुदयाल पाँडे की टीका पर आधारित है। इस टीका की आलोचना स० १९६७ मे 'सरस्वती पत्रिका' मे 'सतसई सहार' नामक लेख के रूप मे हुई थी। इस लेख के माध्यम से ही आगे उक्त टीका की वहुत आलोचना-प्रत्यालोचना हुई थी। इसका प्रकाशन सभवत स० १९६० मे श्री वेकटेश्वर प्रेस, बम्वई से हुआ। इस टीका की भाषा प्रभावोत्पादक नही है।

(१९) **वावा सुमेरसिंहजी की टीका**—यह टीका भी पठान-सुल्तान की कुडलिया टीका तथा प० अविकादत्त व्यास की कुडलिया-टीकाओ के समान ही 'सतसई' के दोहो पर कुडलियो का विस्तार है। यह टीका व्यासजी की टीका के समय तक पूर्ण नही हो पाई थी। इसका निर्माण-काल अनुमानत स० १९५५-६० के वीच मे माना गया है।

वावा सुमेरसिंह पटना मे सिक्ख-मदिर के महन्त थे। ये भाषा के वडे पडित न थे, परन्तु कुडलिया-रचना सरस और सुमधुर है। उदाहरण के लिए एक कुडलिया यहाँ प्रस्तुत है—

मेरी भव बाधा हरहु राधा नागरि सोय।
जा तन की झाईं परे स्याम हरति दुति होय ।।
स्याम हरित दुति होय होय सभ कारज पूरो।
पुरषारथ सहि स्वारथ चार पदारथ रूरो।।
सतगुरु शरण अनन्य छूटि भय भ्रम की फेरी।
मन मोहन मित सुमेरेस गति मति मै मेरी।।

(२०) **सजीवनी भाष्य**—यह भाष्य विद्वद् वर प० पद्मसिह शर्मा द्वारा रचित है। यह दो भागो मे है। प्रथम भाग मे सतसई की समालोचना है। जिसमे विहारी की अन्य कवियो से तुलना की गई है। इस भाग मे सतसई की भूरि-भूरि प्रशसा तथा विहारी के गौरव की स्थापना है। दूसरे भाग मे सतसई की टीका है। इसका एक खण्ड ही प्रकाशित हो पाया था। इसमे १२६ दोहो की टीका ही २८४ पृष्ठो मे समा पाई है। शर्माजी के अनुसार सतससई उत्कृष्ट काव्य है, जिसकी भापा, कल्पना-शक्ति, रचना-प्रणली आदि ने मिलकर बिहारी को मूर्धन्य कवियो मे बिठाने का प्रयत्न किया है। इस टीका मे उर्दू लेखको जैसी उछलकूद अधिक है और अरबी-फारसी के शब्दो की भरमार है।

'सजीवनी भाष्य' मे पहले दोहो, उसके पश्चात् वक्ता-वोधव्य का कथन उसके बाद अर्थ दिया गया है और अन्त मे विशेष व्याख्या लिखी गई है। किन्ही दोहो का सौष्ठव दिखाने के लिए अन्य कवियो की समकक्ष काव्य-पक्तियाँ भी दी गई है। कही-कही अन्य टीकाकारो के मत भी दिये गए है। सबके अन्त मे अलकार निर्देशन है। इस टीका मे प्रतिपाद्य खण्डन-मण्डन रुचिकर है।

इस टीका का प्रथम सस्करण स० १९७५ मे ज्ञानमण्डल प्रेस, काशी से तथा द्वितीय सस्करण स० १९७९ मे बेताब प्रिटिग वर्क्स, दिल्ली से हुआ था। इस पर शर्माजी को हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन ने १२०० रुपये का मगलाप्रसाद पारितोषिक भी प्रदान किया था।

(२१) **बिहारी-बोधिनी**—लाला भगवानदीन उपनाम 'दीन' जी द्वारा लिखित 'विहारी-बोधिनी' टीका आधुनिक काल की तीन टीकाओ मे प्रमुख है। इस टीका की समाप्ति स० १९७८ मे हुई थी। स्वभावानुसार आप ब्रजभाषा के अच्छे कवि थे। फलत आपकी टीका मे कवियो की-सी सहृदयता सहज ही अभिव्यक्त हुई है।

यह टीका शुद्ध खडी बोली मे है। इसका क्रम इस प्रकार हे। पहले कठिन शब्दो का अर्थ, वक्ता-बोधव्य, उसके बाद भावार्थ दिया गया है। सबके अन्त मे 'विशेष' लिखकर दोहे मे आनेवाली विशेष बातो की ओर सकेत है। जैसे नायिकादि की विशेष मनोदशा, अलकारादि का लक्षण अथवा विशेप शब्द की योजनादि। कही-कही विशेष अवतरण लिखकर भी अर्थ को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। विद्यार्थीवर्ग के लिए यह टीका बहुत उपयोगी है। इस टीका के अन्त मे जो शब्दकोप है वह भी उपयोगी है। टीका की छोटी-सी भूमिका भी अर्थादि को समझने के लिए सहायक है।

(२२) **रामवृक्ष शर्मा बेनीपुरी की टीका**—इस टीका का प्रथम सस्करण स० १९८२ मे हिन्दी-पुस्तक-भण्डार, लहरिया सराय से प्रकाशित हुआ था। इसमे

विहारी के दोहो का अर्थ सुगम-सरल भाषा मे किया गया है। अलकारो का पचडा नही उठाया गया। विद्यार्थियो के लिए यह टीका महत्त्वपूर्ण है।

(२३) **विहारी-रत्नाकर**—यह टीका सन् १९८३ मे प्रकाशित हुई थी। इसके सम्पादन मे विद्वान् कवि टीकाकार वावू जगन्नाथदास 'रत्नाकर' ने बडे ही परिश्रम और अध्यवसाय से काम लिया है। इस टीका मे खोजपूर्ण सामग्री विद्यमान है। दोहो के क्रम, पाठ-निर्णय आदि के सम्वन्ध मे रत्नाकरजी ने २२ वर्षो का दीर्घ समय इस कार्य के निमित्त लगाया था।

इस टीका मे प्रथमत शब्दार्थ, फिर अवतरण और अन्त मे भावार्थ दिया गया है। दोहो मे आये हुए शब्दो से ही भावार्थ की पूर्ति की गई है। टीकाकार ने अपनी ओर से वढाए हुए शब्दो-वाक्यो को कोष्टको मे दिया है। इसमे अलकारो का प्रसग नही है। अन्त मे आकारादि क्रम से दोहो की जो सूची और सात अन्य टीकाओ का प्रमग दिया है, वह वडे महत्त्व का है। जिन दोहो का विहारीकृत होना सन्देहपूर्ण है, उनको 'उपस्करण' मे दिया गया है। इस टीका के प्रारम्भ मे जयपुर से प्राप्त बिहारीदास का एक चित्र भी है। अपने कलेवर मे यह टीका सर्वाधिक प्रामाणिक कही जा सकती है।

वीसवी शताब्दी मे लिखित कुछ अन्य टीकाओ के भी उल्लेख मिलते है। उदाहरण के लिए ईश्वरीप्रसाद कायस्थ की कुण्डलिया टीका, सरदार कवि की टीका, गदाधर की टीका, धनजय तथा गिरिधर की टीकाएँ, अयोध्याप्रसाद की टीका, रामवक्स तथा गगाधर की टीकाएँ, छोटूराम कृत टीका, वैद्यक टीका, भानुप्रताप तिवारी टीका, कुलपति मिश्र, उमेदराम तथा सूर्यमल्ल की टीकाएँ, धनीराम की टीका, सवैया छद टीका आदि।

उक्त टीकाओ मे 'सवैया छद' वाली टीका के सम्वन्ध मे अधिक जानकारी मिलती है। यह टीका ईश्वर कवि द्वारा लिखी गई है। इसका रचना-काल स० १९६१ के लगभग है। इस टीका मे दोहो पर सवैया छदो को पल्लवित किया गया है। कही-कही टीकाकार ने सक्षिप्त टिप्पणी लिखकर भी अपनी वात स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। भावो की दृष्टि से सवैया-छद सुन्दर वन पडे हैं। इसके रचना-काल के सम्वन्ध मे यह दोहा मिलता है—

सवत आतम रितु भगति सूरज रथ कौ चक्र।
भादव सुदि नवमी दिने अर्थवार वर नक्र॥

इस टीका से अर्थ स्पष्टीकरण मे अधिक सहायता नही मिलती। दोहे का भाव-विस्तार सवैया छद मे है। उदाहरण के लिए पूर्वोक्त दोहे पर यह सवैया है—

देखि कै आवत बालवधू वतरानी सबै करि आप सनेह है।
ईश्वर देखौ करै मिस कैसे हरै मन मारुत यौं नभ मेह है॥
पीतम हौ विन पार्यौ सुहाग कौ यानै अरी अव हीं करि नेह है।
कीनी उनींदी भली अँखियाँ अरु सौंहैं करी अलसौंही सी देह है॥

हिन्दी के अतिरिक्त अन्य भाषाओ मे भी 'सतसई' की टीकाओ के लिखने का क्रम चलता रहा है। सस्कृत मे लिखित चार टीकाओ की जानकारी प्राप्त होती है—

(१) **संस्कृत गद्य टीका**—इस टीका के सम्बन्ध मे 'विहारी-विहार' की भूमिका मे लिखा है—"इस अपूर्व टीका के रचियता का नाम आदि से अन्त तक ग्रथ मे कही भी नही है। टीका बहुत प्राचीन है। मुझे छपरा-निवासी बाबू शिवशकर सहाय द्वारा यह पुस्तक मिली है। इसी जिले के सोमहुता नामक ग्राम के रहनेवाले कायस्थ बाबू गगाविष्णु ने स० १८४४ वैशाख शुक्ला तृतीया को यह पुस्तक लिखी थी। इस ग्रथ के रचियता ये बाबू गगाविष्णु तो नही हो सकते, क्योकि अन्त मे चार ही पक्ति तो इनकी लिखी है और वे भी विविध अशुद्धियो से भरी है। जिसने ऐसी उत्तम सस्कृत टीका बनाई है, वह इतना अशुद्ध लेख नही लिख सकता। इस कारण ग्रथकार कोई दूसरे ही विद्वान् थे। यह सस्कृत टीका अत्यन्त सरल है और इसमे प्रत्येक दोहे के अलकार, नायिका, उक्ति आदि स्पष्ट रीति से कहे गए है। सरल दोहो पर केवल अलकारादि ही कह दिये गए है, टीका कुछ भी नही।"

(२) **आर्यागुफ टीका**—इस टीका मे सतसई के दोहो का 'आर्या' छद मे सस्कृतानुवाद है। आर्या छदो की रचना बडी सरस और सरल है। इसके टीकाकार प० हरिप्रसादजी है जो काशिराज श्री चेतसिहजी के प्रधान कवि पण्डित थे। इसकी रचना स० १८३७ मे हुई थी। 'विहारी-विहार' की भूमिका मे इस टीका का समुचित परिचय है। 'मेरी भव बाधा हरहु' नामक प्रसिद्ध दोहे की टीका उदाहरणार्थ यहाँ प्रस्तुत है—

सा राधा भवबाधा विविधामपहरतु नागरिकी।
यस्यास्तनु तनु कान्त्या कान्त श्यामो हरिर्भवति॥

टीकाकार ने अपने विषय मे इस टीका मे कुछ भी नही कहा।

(३) **अन्य सस्कृत टीका**—इस टीका की खण्डित प्रति 'रत्नाकर' जी को मिली थी। पर, इसमे रचयिता और रचना-काल के सम्बन्ध मे कुछ भी जानकारी प्राप्त नही होती। उन्होने इस टीका की गद्य-सस्कृत बडी सरल बताई है। दोहो का भाव-प्रकाशन करने का इसमे पूर्ण प्रयत्न किया गया है। प्रत्येक दोहे के नीचे अवतरण लिख कर वक्ता-बोधव्य, नायक-नायिका भेद की ओर सकेत है। इस टीका मे देवकीनन्दनजी की टीका का बहुत अश अनुवादित है और एक स्थान पर उनका नाम भी है। अत इसकी रचना उनकी टीका के बाद की है।

(४) **शृगार सप्तशती टीका**—प० परमानन्द भट्ट ने स० १९२५ मे इस टीका की रचना करके भारतेन्दु बाबू को दिखाया था। व्यासजी ने 'विहारी-विहार' की भूमिका मे इसके सम्बन्ध मे तथा इसके रचयिता की निर्धनता और स्वावलम्बी होने के सम्बन्ध मे उल्लेख किया है।

इस टीका मे सस्कृत अनुवाद सरल और सुबोध भाषा मे है। इसमे एक विशेष बात यह है कि सस्कृत अनुवाद को पहले दिया है हिन्दी अनुवाद दोहे के बाद मे। तत्-पश्चात् सस्कृत गद्य मे विस्तृत टीका लिखी है।

जोशी आनदीलाल शर्मा द्वारा लिखित टीका फारसी मे है। इसका रचना-काल इसके अन्त मे सन् १३१४ हिजरी बताया है जो सन् १८९३ मे होता है। इस टीका को

शर्माजी ने अलवर के महाराज जयसिंह सवाई के समय मे बनाया था। इसका नाम **'सफरगे सतसई'** रखा था। इसमे दोहो का फारसी भाषा मे भावार्थ देने का प्रयत्न है।

उर्दू मे दो टीकाएँ हैं—१ **'गुलदस्तए विहारी'** और **'गुल्जारे विहारी।'** 'गुलदस्तए विहारी' की रचना मुशी देवीप्रसादजी कायस्थ उपनाम 'प्रीतम' ने की थी। आप उर्दू-फारसी के अच्छे जानकार थे। 'दीन' जी के ससर्ग मे आकर आप हिन्दी-कविता के भी प्रेमी हो गए थे। 'गुलदस्तए-विहारी' मे 'सतसई' के दोहो का उर्दू-शेरो मे अनुवाद है। इन अनुवादित शेरो मे अनुवाद्य दोहो के मर्म तक पहुँचने का प्रयत्न है। आपने उर्दू मे ही हिन्दी के तत्सम-तद्भव शब्दो का नि सकोच प्रयोग किया है। इस टीका की विशेषता यह है कि एक दोहे का अर्थ एक ही शेर मे दिया गया है, जो टीकाकार की भाषा की सामासिकता की द्योतक है। कही-कही खीचातानी भी है। यह टीका सर्व प्रथम स० १६८१ मे साहित्य-सेवा-सदन, काशी से प्रकाशित हुई थी।

'गुल्जारे-विहारी' भी उर्दू शेरो मे ही है। रत्नाकर' जी ने अनुमानत इसका रचना-काल स० १६७५-८० के बीच माना है, जबकि 'गुलदस्तए विहारी' का रचना-काल स० १६६० बताया है। इस टीका मे टीकाकार का नाम नही है। इसका प्रकाशन राधेश्याम प्रेस, बरेली से हुआ था है।

भावार्थ प्रकाशिका गुजराती टीका—इसकी रचना गुजराती भाषा के प्रसिद्ध कवि श्री सविता नारायण गणपति नारायण ने गुजराती मे स० १६६६ मे की थी। यह एक स्वतन्त्र टीका है। इसकी रचना बडे परिश्रम से की गई थी। यह टीका विहारी के दोहो का अर्थोद्बोधन कराने मे बहुत सहायक होती है टीका सरल-सहज गुजराती भाषा मे है। वक्ता-बोधव्य का कथन अर्थ को खोलने मे सहायक हुआ है। प्रत्येक दोहे के अलकारो का भी उल्लेख है। भूमिका भी बडे परिश्रम से तैयार की गई है। गुजराती भाषा-भाषी पाठको के लिए 'सतसई' का अर्थ समझने के लिए यह टीका बहुत उपयोगी है। इस टीका का प्रकाशन गुजराती-प्रिंटिंग प्रेस, वम्बई से स० १६६६ मे हुआ था।

इस प्रकार विहारी-सतसई की टीकाओ का परिवार-वैविध्य सतसई की गौरव गाथा मुखर कर रहा है।

रीतिकाव्य में रसरीति

डॉ० गणपतिचन्द्र गुप्त

रीति शब्द की व्याख्या—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इस काल का नामकरण-'रीतिकाल'—करते हुए यह स्पष्ट नही किया कि 'रीति' शब्द से उनका क्या अभिप्राय है। फलस्वरूप परवर्ती विद्वानो को इस शब्द की व्याख्या अपने-अपने ढग से करनी पडी। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी इसका स्पष्टीकरण करते हुए लिखते है—"यहाँ साहित्य को गति देने मे अलकार-शास्त्र का ही जोर रहा है जिसे उस काल मे 'रीति' 'कवित्त-रीति' या 'सुकवि-रीति' कहने लगे थे, सभवत इन शब्दो से प्रेरणा पाकर शुक्लजी ने इस श्रेणी की रचनाओ को 'रीति-काव्य' कहा है।[1] डा० नगेन्द्र और प० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने भी इसी से मिलती-जुलती व्याख्या प्रस्तुत करते हुए 'रीति' शब्द को 'काव्य-रीति' का सक्षिप्त-रूप बताया है।[2] आचार्य शुक्ल के द्वारा इस शब्द के प्रयोग को देखते हुए इसमे कोई सन्देह नही कि उन्होने भी इसका प्रयोग 'काव्य-रीति' के अर्थ मे ही किया था तथा आज भी हिन्दी-साहित्य के क्षेत्र मे इसका व्यवहार इसी अर्थ मे होता है।

रीति कवियो का उद्देश्य—अस्तु, रीति शब्द की व्याख्या से स्पष्ट है कि इस काव्य-परम्परा का नामकरण इस धारणा पर आधारित है कि इस परम्परा के सभी कवियो का उद्देश्य काव्यागो का निरूपण या विवेचन करना था, किन्तु वास्तविकता यह है कि इनमे से अधिकाश का लक्ष्य 'काव्य-रीति' नही 'रस-रीति' अर्थात् रसिकता की शिक्षा देना है, जिसका समर्थन इन तथ्यो के आधार पर किया जा सकता है—

---

१ हिन्दी साहित्य, पृष्ठ २९१

२ "यहाँ काव्य-रचना सम्बन्धी नियमो के विधान को ही समग्रत रीति नाम दे दिया गया है।" (रीति-काव्य की भूमिका—ले० डा० नगेन्द्र, पृ० १२९), प० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र का मत देखिये—'बिहारी' की भूमिका।

(१) विभिन्न रीति-ग्रन्थो मे ऐसी उक्तियाँ मिलती हैं जिससे उनके उद्देश्य का स्पष्ट परिचय मिलता है यथा —

(क) एक मित्र हमसो अस गुन्यो।
मै नायिका भेद नहीं सुन्यो।
जब लगि इनके भेद न जानें।
तब लगि प्रेम-तत्व न पहिचानें ॥
बिन जाने ये भेद सब, प्रेम न परचे होय।
चरनहीन ऊँचे अचल, चढत न देख्यो कोय ॥[1]

(ख) सुरबानी यातें करी, बरबानी में ल्याय।
जातें मग रस-रीति, को सबतें समझो जाय ॥[2]

(ग) बरनत कवि सिंगार-रस छन्द बडे विस्तारि।
मै बरन्यौ दोहान बिच, तातें सुघरि विचारि ॥[3]

(घ) बाढै रति मति अति पढ़ै जाने सब रस-रीति।
स्वारथ परमारथ लहै, रसिक-प्रिया की प्रीति ॥

रसिकन को रसिक-प्रिया कीन्ही केशवदास।[4]

उपर्युक्त अशो मे 'प्रेम-तत्त्व' 'सिंगार-रस' और 'रस-रीति' आदि शब्द एक ही विषय के द्योतक हैं। जिस प्रकार काम के क्षेत्र मे 'काम-कला' या 'कोक-कला' का प्रचलन है वैसे ही रसिकता के क्षेत्र मे 'रस-रीति' या 'प्रेम-मार्ग' का है, अस्तु 'रस-रीति' का सम्बन्ध भरत द्वारा प्रतिपादित 'काव्य-रस' से नही अपितु रसिकता या विलासिता से प्राप्त होने वाले रस या आनन्द से है।

(२) इन कवियो के ग्रन्थो का नामकरण भी उनके इसी उद्देश्य को सूचित करता, यथा 'रस-प्रबोध', 'शृगार-सागर', 'रस-रहस्य' 'वधू-विनोद', 'रस-विलास', 'भाव-विलास', 'जगत-विनोद' आदि नामो मे रस, शृगार, विलास या विनोद आदि शब्द रसिकता के पर्यायवाची है।

(३) इनकी रचनाओ मे शृगार-रस का ही वर्णन मिलता है, काव्य के अन्य अगो की विवेचना का उनमे अभाव है।

यहाँ यह ध्यान रहे कि कुछ काव्य-ग्रन्थ विशुद्ध 'काव्य-रीति' के विवेचन के उद्देश्य से भी लिखे गये थे किन्तु उनका नामकरण दो प्रकार से किया गया है —

(१) जिनमे काव्य के सभी अगो का विवेचन हुआ है, उनके नाम-करण मे 'कवि' या 'काव्य' शब्द का प्रयोग हुआ है जैसे—'काव्य-निर्णय', 'काव्य-सिद्धान्त', 'काव्य-सरोज', काव्य-कल्पद्रुम', 'कवि-प्रिया' आदि। (२) ऐसे ग्रन्थ जिनका लक्ष्य कोरे अलकारो का निरूपण करना था, उनके नामकरण मे भूषण, आभरण, आभूषण

---

१ रस मजरी—नन्ददास। २ सुन्दर कवि—सुन्दर शृगार।
३ कृपाराम—हिततरगिनी। ४ केशवदास—रसिक प्रिया।

आदि अलकार के पर्यायवाची शब्दो का प्रयोग हुआ है यथा—'भाषा-भूषण', 'शिवराज-भूषण', 'अलकार-माला', 'कठाभूषण', 'कर्णाभरण' आदि।

उपर्युक्त दोनो वर्गों के ग्रन्थ विशुद्ध आचार्यत्व की दृष्टि से लिखे गए थे, जब कि 'रस-रीति' के ग्रन्थ रसिकता की शिक्षा के निमित्त। किन्तु हमारे इतिहासकारो ने इस अन्तर को ध्यान मे न रखने के कारण 'रस-रीति' वाले ग्रन्थो मे भी आचार्यत्व ढूढने का असफल प्रयास किया है।

रीति-बद्ध शृगार काव्य का स्वरूप—'रस-रीति' से सम्बन्धित ग्रन्थो मे शृगार निरूपण मुख्यत निम्नाकित रूपो मे हुआ है—

(क) शृगार-रस के विभिन्न अवयवो के रूप मे।
(ख) नायिका-भेद के रूप मे।
(ग) नख-शिख वर्णन के रूप मे।
(घ) षट्-ऋतु वर्णन के रूप मे।

उपर्युक्त चार विषयो मे भी सबसे अधिक विस्तार नायिका-भेद को ही दिया है शेष विषयो का तो अधिकाश कवियो ने चलता-सा वर्णन कर दिया है। श्री प्रभुदयाल मित्तल, एव डॉ० राजेश्वरप्राद चतुर्वेदी अपने ग्रन्थो मे नायिका-भेद का सागोपाग परिचय दे चुके हैं, अत यहाँ उसका परिचयात्मक विवरण न देकर, कुछ नवीन दृष्टिकोणो से विवेचन एव विश्लेषण-मात्र प्रस्तुत करना उचित होगा।

नायिका-भेद सम्बन्धी समूह—नायिका के विभिन्न भेदो को स्थूल-रूप से इन समूहो मे वर्गीकृत किया जा सकता है—

१ जाति के अनुसार चार भेद—पद्मिनी, चित्रिनी, शखिनी और हस्तिनी।
२. कर्मानुसार तीन भेद—स्वकीया, परकीया और सामान्या (वेश्या)।
३. दशानुसार तीन भेद—गर्विता, अन्य सभोग-दु खिता और मानवती।
४ अवस्थानुसार दस भेद—स्वाधीनपतिका, वासकसज्जा, उत्कठिता, अभिसारिका, विप्रलब्धा, खडिता, कलहतरिता, प्रवत्स्यपतिका, प्रोषितपतिका और आगतपतिका।
५ गुणानुसार तीन भेद—उत्तमा, मध्यमा और अधमा।
६ वयक्रमानुसार अनेक भेद—मुग्धा, मध्या, प्रौढा आदि।

इनके अतिरिक्त देश और जाति के अनुसार भी भेद किये गए है।

वर्गीकरण के आधार—उपर्युक्त समूहो मे से जाति अनुसार किये गए पहले वर्गीकरण मे नायिका की शारीरिक विशेषताओ को, दूसरे मे उसकी सामाजिक स्थिति को, तीसरे और चौथे वर्गीकरण मे प्रेम मार्ग की विभिन्न परिस्थितियो को, पाँचवे मे चारित्रिक गुणो को, छठवे मे यौवन के विकास को, आधार बनाया गया है। इनमे नायिका के व्यक्तित्व से सम्बन्धित वर्गीकरण पहला पाँचवा और छठवाँ ही है शेष का सम्बन्ध बाह्य परिस्थितियो से है।

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से विवेचना—उपर्युक्त समूहो मे से जाति, कर्म, गुण, देश

तथा व्यवसाय के आधार पर किये गए वर्गीकरणो का मनोविज्ञान से विशेष सम्बन्ध नही है। दशानुसार एव अवस्थानुसार वर्गीकरण मे नायिका की मनोदशा पर बाह्य परिस्थितियो के प्रभाव को आधार माना गया है, जो मनोविज्ञान-सम्मत है। वयक्रमानुसार किये गए वर्गीकरण के प्रारम्भिक भेद—मुग्धा, मध्या और प्रौढा तो स्वाभाविक हैं, किन्तु आगे चलकर सूक्ष्मातिसूक्ष्म उपभेद किये गए है। (इनमे नायिका की १२ वर्ष से लेकर २४ वर्ष की अवस्था तक के प्रत्येक वर्ष के आधार पर अलग-अलग भेद किये गए हैं जो अनावश्यक है, क्योकि सभी युवतियाँ एक ही वय मे एक जैसी मनोदशा को प्राप्त नही हो सकती)।

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से नायिका भेद मे एक दोष यह है कि इसमे नारी जाति को वाह्य परिस्थितियो से सम्बद्ध रूप मे ही देखा गया हे जिससे उनकी व्यक्तिगत विशिष्टताओ का सर्वथा लोप हो जाता हैं। एक ही अवस्था या परिस्थिति मे दो नायिकाओ की मानसिक स्थिति या गति-व्यवहार मे व्यक्तिगत दृष्टिकोण के कारण अन्तर भी हो सकता हैं, इसे नायिका-भेद मे भुला दिया गया है।

नायिका-भेद और रस के अवयव—नायिकाओ के जाति, वयक्रम, देश और पेशे के अनुसार किये गए भेदो मे उनका शारीरिक सौन्दर्य एव वाह्य चेष्टाओ का चित्रण होता है, अत इनमे ये आलम्बन रूप मे उपस्थित होती है जबकि दशा और अवस्था सम्बन्धी वर्गो मे नायक के व्यवहार से प्रभावित मनोदशाओ का उद्घाटन होता है, अत वे आश्रय रूप से चित्रित की जाती है। शेष वर्ग की नायिकाएँ आलम्बन और आश्रय रूप से चित्रित करते समय हावो, अनुभावो और सचारी भावो की आयोजना तथा अप्रत्यक्ष रूप से नायक के व्यक्तित्व की भी अभिव्यक्ति हो जाती हे। इस प्रकार नायिका-भेद के क्षेत्र मे शृगार रस के सभी अवयवो के समावेश के लिए स्थान है।

नायिका-भेद में प्रेम का स्वरूप—नायिका-भेद मे तत्कालीन कवियो एव आचार्यों के प्रेम सम्बन्धी आदर्श का भी प्रतिविम्ब देखा जा सकता है। सामाजिक दृष्टिकोण मे किये गए वर्गीकरण मे प्रेमिकाओ की तीन स्थितियाँ—स्वकीया, परकीया और सामान्या सम्बन्धी, स्वीकार की गई है, किन्तु एक चौथी स्थिति पर जिसमे नायक और नायिका दोनो अविवाहित हो, किसी का ध्यान नही गया। कुछ आचार्यों ने अविवाहिता नायिका को अनूठा नाम दिया है। किन्तु उसे परकीया के भेदो के अन्तर्गत रखा गया हे। यद्यपि सस्कृत काव्य की अनेक नायिकाएँ शकुन्तला, कादम्बरी, दमयन्ती आदि अनूढा स्वकीया के रूप मे चित्रित मिलती है, फिर भी नायिका-भेद के कवियो ने इस भेद को स्थान नही दिया। अनूढा की ऐसी उपेक्षा का कारण सभवत तत्कालीन समाज मे प्रचलित वाल-विवाह प्रथा ही है। नायक-नायिकाओ को यौवनावस्था से पूर्व ही विवाह वन्धन मे वाँध दिया जाता था। अत ऐसी स्थिति मे अविवाहित नायक-नायिकाओ का स्वतन्त्र-प्रेम-व्यवहार चलना सभव नही था।

अव स्वकीया के उप-भेदो पर भी दृष्टिपात कीजिये। उसके तीन प्रमुख भेद—मुग्धा, मध्या, प्रौढा और फिर उनके भी अवान्तर भेद अकुरित यौवना, उन्नत कामा, सुरति विचित्रा, उद्भट यौवना, मदनमत्ता, रति कोविदा—आदि यही सूचित करते

है कि इन कवियो की दृष्टि मे दाम्पत्य जीवन केवल रति-क्रीडा मात्र तक सीमित था। प्रेम भाव की न्यूनता या अधिकता की दृष्टि से या व्यक्तित्व की अन्य विशेषताओ के आधार पर भी पत्नियो का वर्गीकरण करने की वात इन्हे नही सूझती। हॉ, एक ऐसा वर्गीकरण अवश्य किया गया है, जिसके अनुसार जो अपने पति को पर स्त्री मे रत देख-कर भी अप्रसन्न नहीं होती, वह उत्तमा है, जो मान करती है वह मध्यमा है और जो पूरी तरह कलह करने पर उतारू हो जाती है वह अधमा है। भला वह पत्नी ही क्या जो पति के आनन्द-भोग मे बाधक सिद्ध हो।

स्वकीया के अन्य भेद मानवती, दडिता, अन्य सभोग-दु खिता कलहातरिता आदि भी तत्कालीन पुरुष की विलासिता और नारी की हीन-दशा के परिचायक है।

परकीया के उपभेद---इन कवियो ने सबसे अधिक विस्तार परिकीया के भेदो का किया है। ऊढा परकीया के दो मौलिक भेद, असाध्या और सुख-साध्या किये गए है। सुख-साध्या के सभी दस भेद वृद्ध-वधू, वाल-बधू आदि है। मुख-साधना शब्द का ही अर्थ है जिसे सरलतापूर्वक फुसलाया जा सके। इसका अर्थ है---ये नायिकाएँ स्वाभाविक प्रेम की प्रेरणा से नायक मे अनुरक्त नही होती थी अपितु नायक इनकी परिस्थिति से लाभ उठाकर इन्हे अपनी काम-तृप्ति का साधन बनाता था ऐसी स्थिति मे सच्चे प्रेम की तो कल्पना भी नही की जा सकती।

परकीया के अन्य भेद भी नायिका की हीन स्थिति को ही व्यक्त करते है। नायक के सकेत पर वह अभिसारिका का रूप धारण करती है, वासकसज्जा के रूप मे सकेत स्थल पर नायक की दीर्घ प्रतीक्षा करती है, किन्तु कुछ दिनो के रस-पान के अन-न्तर रसिक भ्रमर किसी और मे अनुरक्त हो जाता है और फलस्वरूप उसे निराशा विप्रलब्धा तक के वेष मे घर लौटना पडता है।

इसी प्रकार निवास स्थान और पेशे के अनुसार किये गए परकीया सम्बन्धी भेद भी पुरुष वर्ग की अति रसिकता के परिचायक है। अन्यथा मालिन, धोबिन, तेलिन आदि का व्यवसाय चाहे कुछ भी हो अपने-अपने घर मे तो वे स्वकीयाएँ ही है।

वस्तुत नायिका-भेद मे हम जिस शृगारिकता के दर्शन करते है वह सर्वथा कामुकता और रसिकता से ही ओत-प्रोत है, उसमे पुरुषो की काम-लोलुपता एव वच-कता, नारी की परवशता और दीनता, दाम्पत्य जीवन की विषमता और बाह्य सामाजिक जीवन की गर्हितावस्था का दर्शन होता है। प्रेम-भावना को ध्यान मे रखकर किया गया वर्गीकरण केवल एक रसलीन का---कामवती, अनुरागिनी, प्रेमासक्ता---मिलता है किन्तु इसे अन्य कवियो ने स्वीकार नही किया।

नायिका-भेद का मूल उद्गम-स्रोत---नायिका-भेद की परम्परा के मूल उद्गम-स्रोत पर विचार करते हुए डॉ० राजेश्वरप्रसाद चतुर्वेदी ने अपने प्रवन्ध मे 'नाट्य-शास्त्र' के रचयिता भरतमुनि को इसका आदि प्रवर्तक वताया है तथा अभिनय को ही नायिका भेद की उत्पत्ति का प्रेरक कारण सिद्ध करने का प्रयास किया है।[1] किन्तु उनका यह मत

१ रीति कालीन कविता और शृंगार रस का विवेचन, पृ० २६४

स्वीकार्य नही है। नायिका-भेद की उत्पत्ति का मूल कारण अभिनय नहीं अपितु काम-शास्त्रीय विश्लेषण है तथा इसकी परम्परा का प्रवर्त्तन काम-शास्त्रीय ग्रन्थो मे नाट्य शास्त्र की रचना से बहुत पूर्व हो चुका था। इस सम्बन्ध मे निम्नलिखित तथ्य विचारणीय है —

(क) वात्स्यायन के कामसूत्र का रचनाकाल स्वय डॉ० राजेश्वरप्रसाद ने चन्द्रगुप्त का शासनकाल कल्याब्द २३२२ (ई० पू० ३२४-३००) स्वीकार किया है।[१] जबकि भरत का नाट्य-शास्त्र प्रथम शताब्दी से पूर्व का नही माना जाता। जो विद्वान् दोनो ही ग्रन्थो को बाद की रचना मानते हे वे भी 'काम-सूत्र' को 'नाट्य-शास्त्र' से पूर्व रचित मानते है।

(ख) वात्स्यायन ने अपने पूर्व के आचार्यो के मतो का उल्लेख करते हुए आचार्य चारायण कृत नायिका के पाँच भेदो, सुवर्ण नाम के छ भेदो, घोटकमुख के सात भेदो की आलोचना की है। इससे सिद्ध होता है कि नायिका-भेद की परम्परा वात्स्यायन से भी बहुत पूर्व प्रचलित हो चुकी थी।

(ग) जहाँ वात्स्यायन ने नायिका भेद सम्बन्धी अन्य आचार्यों के मतो का उल्लेख किया है वहाँ वे भरत के नायिका-भेद के सम्बन्ध मे मौन हैं। यदि भरत का नाट्य-शास्त्र पहले निर्मित हो चुका होता तो वे उसका उल्लेख अवश्य करते परन्तु इसके विपरीत 'भरत-मुनि' ने अपने ग्रन्थ मे 'काम-सूत्र' का स्पष्ट उल्लेख किया है।[२]

(घ) भरत मुनि का नायिका-भेद काम-सूत्र से बहुत अधिक विकसित एव बाद का है, यह दोनो की तुलना से सिद्ध हो जाता है। वात्स्यायन ने नायिका के कुल आठ भेद किये हैं जबकि भरत के नाट्य-शास्त्र मे इनकी सख्या ७२ तक पहुँच गई है। भरत-मुनि द्वारा अवस्थानुसार किये गए आठ भेदो मे तो वात्स्यायन खडिता और अभिसारिका से ही परिचित हैं, शेष भेद बाद के विकसित है। वात्स्यायन ने अविवाहित कन्या को नायिका-भेद मे सर्वोपरि स्थान दिया है, किन्तु भरत ने इसकी उपेक्षा कर दी है, इसका कारण भी परवर्ती युग मे बाल-विवाह का प्रचलन हो जाना था। जहाँ पूर्व युग के स्मृतिकारो मे मनु जैसे भी उपयुक्त वर के न मिलने पर कन्या को दीर्घकाल तक अविवाहित रखने की आज्ञा देते है वहाँ याज्ञवल्क्य, नारद आदि परवर्ती स्मृतिकार हर स्थिति मे कन्या का विवाह ऋतु-काल से पूर्व ही कर देने का आदेश देते हैं।

उपर्युक्त तथ्यो के आधार पर नि सकोच रूप से कहा जा सकता है कि 'काम-सूत्र', 'नाट्य-शास्त्र' से पूर्व रचित है तथा नायिका-भेद परम्परा का मूल स्रोत काम-शास्त्रीय ग्रन्थ है जिनसे भरत-मुनि ने भी लाभ उठाया।

नायिका-भेद सम्बन्धी सामग्री के मूल आधार हिन्दी के कवियो ने नायिका-भेद के विवेचन एव वर्णन मे मुख्यत इन ग्रन्थो से सहायता ली है —

---

१. रीतिकालीन कविता और शृगार रस का विवेचन, पृ० ११०

२ उपचार विधि सम्यक् काम सूत्र समुत्थितम् ।

—नाट्य-शास्त्र । २४।१४२ ।

१—सस्कृत के काव्य-शास्त्रीय ग्रन्थों से जिनमे नाट्य-शास्त्र (भरत-मुनि), दश रूपक (धनजय), साहित्य दर्पण (विश्वनाथ), रस मजरी (भानुदत्त) आदि मुख्य है।

२—काम-शास्त्रीय ग्रन्थ जिनमे 'काम-सूत्र' प्रमुख है।

३—सस्कृत की काव्य रचनाएँ—गीत गोविन्द, 'अमरु शतक' आदि।

हिन्दी के रीतिवद्ध शृगारी कवि उपर्युक्त ग्रथो के कितने ऋणी है इसकी सम्यक परीक्षा करने के लिए आधार-भूत ग्रन्थो का तुलनात्मक अध्ययन करना उचित होगा।

(क) **संस्कृत के काव्य-शास्त्रीय ग्रन्थ**—हिन्दी कवियो के नायिका भेदो मे से कर्मानुसार, दशानुसार, अवस्थानुसार, गणनानुसार और वय क्रमानुसार किया गया वर्गीकरण, 'साहित्य-दर्पण' और 'रस-मजरी' मे मिल जाता है। इन वर्गो के अवान्तर भेद भी इन ग्रन्थो मे मिल जाते है।

वस्तुत हिन्दी कवियो ने सस्कृत आचार्यों की नायिका भेद सम्बन्धी समस्त सामग्री ज्यो की त्यो ग्रहण कर ली है उसमे उन्होने या तो कोई परिवर्तन किया ही नही और यदि कोई किया भी तो वह महत्त्वपूर्ण नही है। सस्कृत आचार्यो एव हिन्दी कवियो के प्रेम सम्बन्धी दृष्टिकोण मे भी पर्याप्त साम्य है। दोनो के ही वर्गीकरण मे कामुकता एव नायिका की बाह्य परिस्थितियो का प्राधान्य है, अविवाहित नायिका एव सामान्या की उपेक्षा भी दोनो ने ही समान रूप से की है। यदि इसमे कोई भेद है तो यही कि सस्कृत लेखको का मुख्य उद्देश्य आचार्यत्व होने के कारण उन्होने दूसरे कवियो के उदाहरण उद्धृत किए है जबकि हिन्दी कवियो का लक्ष्य काव्य-रचना होने के कारण उदाहरणो की रचना उन्होने स्वय की है।

(ख) **कामसूत्र से तुलना**—हिन्दी कवियो का जाति अनुसार, देशानुसार और व्यवसायानुसार किया गया वर्गीकरण सस्कृत आचार्यों की रचनाओ मे नही मिलता। इन वर्गीकरणो के मूलाधार काम शास्त्रीय ग्रन्थ है। जाति अनुसार पद्मिनी, हस्तिनी, चित्रिनी आदि वाला वर्गीकरण 'कामसूत्र' मे तो नही मिलता किन्तु परवर्ती काम शास्त्रीय ग्रथो 'रति-रहस्य' (कोक-शास्त्र) आदि मे प्रचलित है। 'कामसूत्र' के द्वितीय अधिकरण के पाँचवे अध्याय मे 'वेश्या-उपचार' प्रसग के अन्तर्गत मध्य देश वाल्हीक, आवन्तिक, मालव्य सिन्धु, लाटदेश, कौशल आदि प्रदेशो की विशेषताओ का अलग-अलग वर्णन किया है, अत हिन्दी कवियो के देशानुसार वर्गीकरण का मूलाधार यही कहा जा सकता है। व्यवसाय के आधार पर नायिकाओ का वर्गीकरण 'काम-सूत्र' मे नही मिलता, किन्तु विभिन्न वर्ण, जाति एव व्यवसाय वाली दूतिकाओ का वर्णन उसमे है। अत इस प्रकार के वर्गीकरण की प्रेरणा भी सभवत हिन्दी कवियो को यही से मिली होगी। रसलीन ने ऊढा, परकीया के दो भेद असाध्या एव सुखसाध्या किए हैं जो सस्कृत काव्य ग्रन्थो मे नही मिलते। 'काम-सूत्र' के पाँचवे अधिकरण के पहले अध्याय मे परकीयाओ के दो भेद दुर्लभ और अयत्न-साध्या करते हुए प्रत्येक के २५-२५ उपभेद किये गए है जिनमे रसलीन के सारे भेद मिल जाते है।

यद्यपि 'काम-सूत्र' से हिन्दी कवियो ने बहुत कुछ सहायता ली है किन्तु फिर भी

दोनो मे पर्याप्त वैषम्य है । जहाँ काम-सूत्रकार ने अविवाहित नायिका का सूक्ष्मातिसूक्ष्म विवेचन किया है, हिन्दी कवियो ने उसकी उपेक्षा करदी है । काम-सूत्रकार का शृगार सम्बन्धी दष्टिकोण भी हिन्दो कवियो की अपेक्षा बहुत अधिक व्यापक है । साधारणत लोग 'काम-सूत्र' का उद्देश्य स्थूल मिलन की शिक्षा देना मात्र समझते है किन्तु वात्स्यायन का लक्ष्य सूक्ष्म हार्दिक मिलन का रहस्य समझना ही है । वहाँ यदि शारीरिकता है भी तो वह मानसिकता की पूर्ति के लिए है । एक ओर उसने विवाह का आधार प्रेम को बताया है तो दूसरी ओर वेश्याओ तक का वर्गीकरण प्रेम-भावना के आधार पर किया गया है, जैसे 'एक निष्ठ प्रेम' वाली बहुतो से प्रेम करने वाली और किसी से भी प्रेम न रखने वाली । इसके अतिरिक्त वात्स्यायन ने प्रेम के भी सात भेद रागवद, आहार्य राग, कृत्रिम प्रेम, व्यवहित, पोटारत, खलरत और नियन्त्रित—किये है जिनके आधार पर हिन्दी कवि नायिका भेद निरूपण कर सकते थे पर ऐसा लगता है, काम-सूत्र से भी इन कवियो ने कामुकता को ही ग्रहण किया, उसके प्रेम सम्बन्धी पक्ष की ओर इनका ध्यान नही गया ।

वात्स्यायन के दृष्टिकोण से हिन्दी कवियो का एक मौलिक भेद यह भी है कि जहाँ 'काम-सूत्र' मे नायिका की शारीरिक एव मानसिक तुष्टि को सर्वोपरि लक्ष्य माना गया है, वहाँ हिन्दी कवियो के लिए वह उपभोग्य मात्र रह गई है । वात्स्यायन वेश्याओ और कुलटाओ तक के साथ शिष्ट एव सम्मान-पूर्ण व्यवहार की शिक्षा देते है । कभी प्रेमिकाओ को विप्रलब्धा भी बनना पडेगा, इसकी तो काम-सूत्रकार सभवत कल्पना भी नही कर सकते थे ।

वस्तुत 'काम-सूत्र' मे मौर्य युग की उस सस्कृति और सभ्यता का प्रतिबिम्ब है जिसमे भारतीय नारी का ऐसा पतन नही हुआ था कि वह पुरुष की भोग सामग्री मात्र रह जाय । हिन्दी कवि यदि अपने युग प्रभाव से ऊँचे उठकर काम-सूत्र से ही प्रेम तत्त्व ग्रहण करना चाहते तो कर सकते थे, किन्तु उन्होने ऐसा नही किया ।

(ग) **जयदेव और हिन्दी कवि**—अब तक जिस प्रभाव की चर्चा की गई है वह हिन्दी कवियो के नायिका-भेद के सैद्धान्तिक पक्ष से ही सम्बन्धित है, उसके व्यावहारिक पक्ष या काव्यमय उदाहरणो से नही । इस दूसरे पक्ष पर प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप मे जयदेव का बहुत अधिक प्रभाव है । जयदेव की ये प्रवृत्तियाँ हिन्दी नायिका-भेद मे मिलती है—

१—धार्मिकता के वातावरण मे रसिकता की तुष्टि ।

२—राधाकृष्ण को नायिका और नायक के रूप मे उपस्थित करना ।

३—शास्त्रीय लक्षणो का उल्लेख करना ।

४—काम-शास्त्र और काव्य-शास्त्र के नियमो का पालन ।

५—मुक्तक-शैली ।

गीत गोविन्द से हिन्दी कवियो का थोडा वैपम्य भी है । गीत गोविन्द मे नायिका भेद का निरूपण एक ऐसे क्रम से किया गया है जिससे सारा काव्य कथावस्तु के सूक्ष्म तन्तु मे आबद्ध रहता है । दूसरे जयदेव ने गीत शैली को अपनाया, जबकि रीतिबद्ध

कवियो ने कवित्त और सवैयो मे काव्य रचना की । स्थूल शारीरिकता एव अश्लीलता की दृष्टि से हिन्दी कवि जयदेव की अपेक्षा अधिक सयत हैं ।

(घ) **अमरुक शतक और हिन्दी कवि**—केशव, मतिराम, पद्माकर, दास बिहारी आदि कवियो की रचनाओ मे अनेक ऐसे छन्द मिलते है जो 'अमरुक शतक' के आधार पर रचित है । 'अमरुक शतक' के श्लोको की टीका के साथ-साथ उद्धृत किए है (देखिए बम्बई सस्करण) । अत इसमे कोई सन्देह नही इस युग के कवियो पर अमरुक शतक का पर्याप्त प्रभाव पडा होगा । प्रेम सम्बन्धी दृष्टिकोण मे अति रसिकता का समावेश है । दूसरे, सस्कृत साहित्य मे अमरुक सम्भवत पहला कवि है जिसने शृगार सम्बन्धी दृश्यो की आयोजना के लिए देवी-देवताओ, राजाओ और विदूषको को भूलकर सामान्य जीवन मे होनेवाली रात-दिन की घटनाओ से सामग्री ढूँढी । यद्यपि अमरुक अपने काव्य मे एक व्यभिचारी नायक के रूप मे उपस्थित होता है । तथा सदैव ही अपनी पत्नी से छल-कपट करता है, वह अपने कृत्यो को पाठक के सम्मुख निस्सकोच रूप मे खोलकर रख देता है । हिन्दी कवियो के शृगार का नायक अमरुक की ही कोटि का है । इसमे कोई सन्देह नही कि इन कवियो को गार्हस्थ्य जीवन के दृश्यो से ही काव्य-सामग्री ढूँढने की प्रेरणा बहुत कुछ अमरुक से ही मिली होगी । हाँ, इतना अवश्य है कि इनमे अमरुक का सा साहस न होने के कारण वे अपनी अनुभूतियो को भी किसी अन्य नायक से सम्बन्धित बताकर चित्रित करते है । वस्तुत हिन्दी के रीतिबद्ध कवियो के शृगार वर्णन मे जयदेव और अमरुक की विशेषताओ का अद्भुत सम्मिश्रण मिलता है ।

इस प्रकार हम देखते है कि रीरिबद्ध कवियो ने अपनी काव्य सामग्री जुटाने के लिए सस्कृत के 'काम-शास्त्रो','काव्य-शास्त्रो' और 'काव्य ग्रन्थो' से बहुत-कुछ ऋण लिया, फिर भी यह न समझना चाहिए कि कि हिन्दी कवियो ने जो कुछ लिखा है वह सस्कृत साहित्य का ही पिष्टपेषण मात्र है । यह ठीक है कि ईट, चूना, गारा, लकडी आदि सब कुछ हिन्दी कवियो ने सस्कृत से उधार लिया है, किन्तु उसमे अपनी कलाकारिता का योग देकर जैसा काव्य-भवन इन्होने तैयार किया वह अपूर्व है । यह तथ्य इस बात का भी द्योतक है कि रीतिबद्ध कवि काव्य-रचना करने से पूर्व प्राचीन काव्य का व्यापक अध्ययन करते थे । यह बात उनके महत्त्व को बढाने वाली सिद्ध होती है । सस्कृत के प्रबन्ध नाटक, गद्य मुक्तक आदि अनेक प्रकार के काव्य रूप सुप्राप्य थे किन्तु इन कवियो ने केवल एक मुक्तक को ही चुना । सस्कृत मे आचार्यत्व और काव्य रचना के क्षेत्र भिन्न-भिन्न थे, पर इन्होने दोनो को मिलाकर एक कर दिया । अमरुक की रसिकता को हिन्दी कवियो ने आत्मसात कर लिया, फिर भी उन्होने अमरुक की भाँति धार्मिकता एव देवी-देवताओ का स्पष्ट विरोध नही किया, प्रत्युत राधा-कृष्ण की भक्ति के आवरण को स्वीकार किया है । जयदेव की सब विशेषताओ को ग्रहण करते हुए भी उनकी मधुर गीति शैली को इन्होने ठुकरा दिया । ये तथ्य इस बात के प्रमाण है कि हिन्दी कवियो ने जो कुछ भी लिखा वह सस्कृत के काव्य का अन्धानुकरण मात्र नही है । उसमे उनकी रुचि, प्रतिभा और अनुभूति तथा उनके युग की प्रवृत्तियो का पूरा योग है ।

रीति-काव्य में शृंगारिकता

डॉ० नगेन्द्र

शृंगारिकता के कारण—रीति-काव्य की दूसरी प्रधान प्रवृत्ति है शृंगारिकता। उसे तो वास्तव मे रीति-काव्य की स्नायुयो मे वहने वाली रक्त-धारा कहना चाहिए, क्योकि इस वृहद् युग की कविता का नवदशाश से भी अधिक शृंगार प्रधान है। शृंगार की इस अतिशयता को तात्कालिक सामाजिक परिस्थिति और परम्परागत साहित्यिक प्रभावो के प्रकाश मे अत्यन्त सरलता से समझा भी जा सकता है। भारतीय इतिहास मे यह घोर अध पतन का युग था—मुसलमानो का जीवन तो ऐहिक शक्ति और सुख के अतिचार के कारण जर्जर हो गया था और हिन्दू-जीवन पराभव से जीर्ण था। भक्ति-युग मे हिन्दुओ को केवल राजनीतिक पराभव ही सहना पडा था, आर्थिक स्थिति अधिक चिन्ताजनक नही थी। इसके अतिरिक्त उस समय के लोक-नायक महात्माओ ने आध्यात्मक विश्वासो को ऐसा मागलिक प्रकाश विकीर्ण कर दिया था कि हिन्दुओ ने सब कुछ खोकर भी जीवन का उत्साह नही खोया था। परन्तु रीति-काल तक आते-आते आर्थिक स्थिति भी सर्वथा भ्रष्ट हो गई थी, और वह आध्यात्मिक प्रकाश भी विलुप्त हो चुका था। अब जीवन को न तो स्वस्थ वाह्य अभिव्यक्ति का ही अवसर था और न सूक्ष्म आन्तरिक आध्यात्मिक अभिव्यक्ति का ही। उसकी समस्त प्रवृत्तियाँ घर की चहार-दीवारी मे ही सीमित रह गई। घर मे जो कुछ कृत्रिम अथवा अकृत्रिम उपकरण सम्भव थे, उनको जुटाकर लोग जीवन का निर्वाह कर रहे थे। निदान विलास की सरिता दोनो कूलो को तोडकर वह रही थी। विलास का केन्द्र-विन्दु थी नारी जिसके चारो ओर अनेक कृत्रिम उपकरण एकत्र थे। इन सबके विस्तृत विवरण के लिए रीति-काल की सामाजिक पृष्ठभूमि मे उद्धृत वर्नियर का उद्धरण पर्याप्त होगा। आखिर जीवन को आत्मरक्षण के लिए अभिव्यक्ति चाहिए। इस युग मे वह अभिव्यक्ति केवल घर के भीतर ही सम्भव थी जहाँ उसकी समस्त आकाक्षाएँ नारी के शरीर के चारो ओर ही मँडरा सकती थी। पराभव के और भी युग भारतीय जीवन मे आए, पर उन सभी मे काम की ऐसी सार्वभौम उपासना नही हुई। कारण यह था कि उन युगो मे नैतिक आदर्श

दृढ और कठोर थे, जो इस प्रवृत्ति के प्रतिकूल पडते थे। परन्तु रीति-काल मे कृष्ण-भक्ति की परम्परा से नैतिक अनुमति भी एक प्रकार से इसे प्राप्त हो गई थी। अतएव अब किसी प्रकार के अप्राकृतिक सकोच अथवा दमन की आवश्यकता भी नही पडी। काम की उपासना जीवन के स्वीकृत सत्य के रूप मे होती थी। वातावरण के अतिरिक्त साहित्यिक परम्पराएँ और प्रभाव भी इसके अनुकूल थे। फारसी सस्कृति और साहित्य की शृगारिकता अब तक भारतीय सस्कृति मे घुल-मिलकर उसका एक अग बन गई थी। वह नागरिकता का एक प्रधान अलकार थी, अतएव इसका प्रभाव चेतन और अचेतन दोनो रूपो मे हिन्दी कविता पर पड रहा था। तीसरे, सस्कृत और प्राकृत-काव्य की जो परम्परा रीति-काव्य को उत्तराधिकार मे मिली वह भी एकान्त शृगारिक ही थी। ऐसे सामाजिक वातावरण और साहित्यिक प्रभावो मे पल्लवित और पुष्पित होने वाली रीति-कविता यदि अतिशय शृगारिकता से अभिभूत है, तो इसमे आश्चर्य ही क्या ?

शृगारिकता का स्वरूप—नैतिक आदर्शो की अनुमति होने के कारण रीति-काल मे काम-वृत्ति को अभिव्यक्ति के लिए पूर्ण स्वच्छन्दता थी। अतएव रीति-काव्य की शृगारिकता मे अप्राकृतिक गोपन अथवा दमन से उत्पन्न ग्रन्थियाँ नही है। उसमे स्वीकृत रूप से शरीर-सुख की साधना है, जिसमे न आध्यात्मिकता का आरोप है, न वासना के उन्नयन अथवा प्रेम को अतीन्द्रिय रूप देने का उचित-अनुचित प्रयत्न। जीवन की वृत्तियाँ उच्चतर सामाजिक अभिव्यक्ति से चाहे वचित रही हो, परन्तु शृगारिक कुठाओ से मुक्त थी। इसी कारण इस युग की शृगारिकता मे प्रेम की एकनिष्ठता न होकर विलास की रसिकता ही प्राय मिलती है। और उसमे भी सूक्ष्म आन्तरिकता की अपेक्षा स्थूल शारीरिकता का प्राधान्य है। प्रेम भावना-प्रधान एव एकोन्मुखी होता है, विलास या रसिकता उपभोग-प्रधान एव एकोन्मुखी होती है। तभी तो प्रेम मे तीव्रता होती है, रसिकता मे केवल तरलता। रीतिकाल के प्रतिनिधि कवि बिहारी, मतिराम, पद्माकर रसिक ही थे, प्रेमी नही। कहने की आवश्यकता नही कि इनकी रसिकता या सौन्दर्य-भावना भी बहिरग ही थी। इन रसिको की दृष्टि प्राय शरीर पर ही अटकी रहती थी, मन के सूक्ष्म सौन्दर्य तक कम ही पहुँच पाती थी, और आत्मा का सात्त्विक सौन्दर्य तो उसकी परिधि से बाहर था ही। अतएव इनकी सौन्दर्य-भावना के बिलकुल विपरीत-विषयीगत न होकर प्रधानत विषयगत ही थी। परन्तु जहाँ तक रूप, अर्थात् विषयगत सौन्दर्य का सम्बन्ध था वहाँ इन नयनो की प्यास अमिट थी। वास्तव मे, इन कवियो से अधिक रूप पर रीझने की आदत और किसमे हो सकती थी! एक ओर बिहारी जैसे सूक्ष्मदर्शी कवि की निगाह सौन्दर्य के बारीक-से-बारीक सकेत को पकड सकती थी, तो दूसरी ओर मतिराम, देव, घनानन्द पद्माकर जैसे रस-सिद्ध कवियो की तो सम्पूर्ण चेतना ही जैसे रूप के पर्व मे ऐन्द्रिय आनन्द का पान करके उत्सव मनाने लगती थी। नयनोत्सव का ऐसा रग विद्यापति को छोडकर प्राचीन साहित्य मे अन्यत्र दुर्लभ ही है—

मतिराम

होत रहै मन यों मतिराम, कहूँ वन जाय बडो तप कीजै ।
है बनमाल हिये लगिये अरु, ह्वै मुरली अधरा-रस पीजै ।।
(रसराज)

देव—

धार में धाय-धँसी निरधार ह्वै, जाय फँसी उकसीं न उधेरी ।
री ! अगराय गिरीं गहरी, गहि फेरि फिरी न, घिरी नहिं घेरी ।।
देव कछू अपनो बस ना, रस-लालच लाल चितै भई चेरी ।
बेगि ही बूड़ि गई पखियाँ, अखियाँ मधु की मखियाँ भई मेरी ।।
(प्रेमचन्द्रिका)

घनानन्द—

झलकै अति सुन्दर आनन गौर, छके दृग राजत काननि छ्वै ।
हसि बोलनि में छबि-फूलनि की, बरषा उर ऊपर जात है स्वै ।।
लट लोल कपोल कलोल करै कलकठ बनी जलजावली ह्वै ।
अग-अग तरग उठै दुति की परिहै मनौ रूप अबै धर च्वै ।।
(सुजान-सागर)

पद्माकर—

पैरै जहाँ ही जहाँ वह बाल, तहाँ तहाँ ताल में होत त्रिबैनी ।
(जगद्विनोद)

शृगार का गार्हस्थिक रूप—इस शृगारिकता के विषय मे दूसरी बात यह है कि इसका स्वरूप प्राय सर्वत्र ही गार्हस्थिक है। इसका कारण यह है कि रीति-काव्य भारतीय शृगार-परम्परा का ही स्वाभाविक विकास है। उस पर बाह्य प्रभाव बहुत कुछ पडा जरूर, लेकिन उसके मूल तत्त्व सर्वदा भारतीय ही रहे। भारतीय'शृगार-परम्परा का इतिहास साक्षी है कि वह पूर्वानुराग, सयोग, प्रवास करण, विप्रलम्भ सभी दशाओ मे अपने गार्हस्थ्य-तत्त्व को बनाए रहा है—यहाँ तक कि वन्य जीवन की स्वच्छन्दता मे भी उसकी गार्हस्थिकता नष्ट नही हुई। इसी परम्परा मे होने के कारण रीति-कविता का शृगार दरबारी प्रभाव मे रहते हुए भी अपन सहज स्वरूप बनाए रहा। उसमे नागरिकता तो आई परन्तु दरबारी-वेश्या-विलास अथवा बाजारी हुस्न-परस्ती की बू नही आ पाई—यद्यपि एक-एक राजा या रईस के यहाँ अनेक वेश्याएँ थी, पातुरे रहती थी। केशव के आश्रयदाता इन्द्रजीत सिह के यहाँ छ वेश्याएँ तो नियमित रूप से थी—अनियमित रूप से आने-जाने वाली तो न जाने कितनी होगी, परन्तु फिर भी उनके आश्रित कवि स्वकीया-प्रेम का ही माहात्म्य-गान करते रहे। उन्होने परकीया के नेह तक को निरुत्साहित किया। गणिका की तो बात ही क्या।

पात्र मुख्य सिंगार को सुद्ध स्वकीया नारि।

पर-रस चाहै परकिया तजै आपु गुन गोत।
आपु औटि खोया मिलै खात दूध-फल होत।।
काची प्रीति कुचालि की बिना नेह रस-रीति।
मार-रग मारू-मही बारू की-सी भीति।।
(देव, प्रेम-चन्द्रिका)

गणिका के प्रेम को उन्होने स्पष्ट रूप से रसाभास माना, और अत्यन्त अरुचि के साथ उसका वर्णन किया। 'प्रेम-हीन त्रिया वेश्या, है श्रृगाराभास'। इसी धर्म-सकट से बचने के लिए बेचारे दास को घर मे रखी हुई परकीयाओ—अथवा गणिकाओ को स्वकीयात्व का फतवा देना पडा। परिणामस्वरूप यह श्रृगार-विलास उच्छृखल होते हुए भी गार्हस्थिक वातावरण से बाहर कभी नही हुआ—कुल और शील की छाया उस पर किसी-न-किसी रूप मे सदैव रही। और इसीलिए तो इसमे अभिसारिका के एक-आध रूप को छोडकर रोमानी साहसिकता का भी प्राय सर्वत्र ही अभाव मिलता है। परकीया की प्राप्ति भी यहाँ दूती दासी आदि की सहायता से सर्वथा घरेलू रीति से ही होती है। न यहाँ किसी अर्जुन को मत्स्य भेदकर अपने शौर्य का परिचय देना पडता है, न किसी पृथ्वीराज को युद्ध मे विजय प्राप्त करनी पडती है, और न किसी मजनू को सहरा की खाक छाननी पडती है। रोमानी प्रेम की असाधारणता जो एक ओर बलिदान और साहसिकता पर आश्रित होती है, दूसरी ओर एक अलौकिक आदर्शवादिता पर, रीतिकाल के श्रृगार मे अप्राप्य है। उपभोग-प्रधान होने से उसमे बलिदान की गभीरता और साहसिकता की शक्ति नही है, और न उसके धरातल को उदात्त करने वाली आदर्शवादिता ही है।

नारी के प्रति दृष्टिकोण—हम कह चुके है कि रीति-कविता शुद्ध सामन्तीय वातावरण की सृष्टि है—स्वभावत रीतिकालीन कवियो का नारी के प्रति दृष्टिकोण भी सर्वथा सामन्तीय है जिसके अनुसार वह समाज की एक चेतन इकाई न होकर बहुत-कुछ जीवन का एक उपकरण-मात्र है।

सुधा-कामवश गत युग ने पशु-बल से कर जन-शासित,
जीवन के उपकरण-सदृश नारी भी कर ली अधिकृत।
(पन्त)

यह श्रृगार, एक चेतन व्यक्ति का दूसरे चेतन व्यक्ति के प्रति सक्रिय आकर्षण, वास्तव मे कम है—व्यक्ति का एक सुन्दर उपभोग्य वस्तु के प्रति निष्क्रिय आकर्षण अधिक है। यह ठीक है कि रस-प्रसगो मे नारी भी कम सक्रिय नही दिखाई गई। एक प्रकार से वह पुरुष की अपेक्षा अधिक सक्रिय है—पुरुष को हम प्राय उसके चरणो पर सिर रखते हुए देखते है, परन्तु इस सबका अर्थ फिर भी यह नही होता कि रीति-युग की नारी का कोई स्वतन्त्र प्रेरक अस्तित्व है। उसकी समस्त सक्रियता—सभी चेष्टाएँ वास्तव मे उसकी उपभोग्यता मे श्री-वृद्धि करने के ही निमित्त प्रदर्शित की गई है—उनको इसीलिए तो नायिका के अलकार के अन्तर्गत परिगणित किया गया है। नारी के व्यक्तित्व—उसके प्रेम-विरह, सुख-दु ख, हाव-भाव, लीला विलास का एक ही उद्देश्य

है, उसके आकर्षण को समृद्ध करते हुए उसको अधिक-से-अधिक उपभोग्य बना देना। इसीलिए तो उसमे व्यक्ति की व्यक्ति के प्रति एकनिष्ठता नही है। नायिका-भेद का विस्तार नारी के भोग्य रूपो का विस्तार ही तो है--रीतिकाल के पुरुष को नारी-विशेष की वैयक्तिक सत्ता से प्रेम नही था--उसके नारीत्व से ही प्रेम था। देव ने निस्सकोच रूप से स्वीकृत किया है।

काम अन्धकारी जगत, लखै न रूप कुरूप।
हाथ लिए डोलत फिरै, कामिनि छरी अनूप।।
तातें कामिनि एक ही, कहन सुनन को भेद।
राचै पागै प्रेम रस, मेटे मन के खेद।।
रची राम संग भीलनी, जदुपति सग अहीरि।
प्रबल सदा बनवासिनी, नवल नागरिन पीरि।।
कौन गनै पुर, बन, नगर, कामिनि एकै रीति।
देखत हरै विवेक कौं, चित्त हरै करि प्रीति।।
(रस-विलास)

उपर्युक्त उद्धरण ही यह कहने का अवकाश नही देता कि रीतिकाल के कवि के मन मे नारी के प्रति कितना आदर-भाव था। उसके व्यक्तित्व का गौरव पुरुष के सुख-भोग के साधन से अधिक और क्या था ! इसीलिए परिस्थिति बदलते ही ये लोग दूसरी ही साँस मे उसकी छवि को छाया ग्राहिणी अथवा विवेक को हरने वाली कहने से नही चूकते थे। नारी का सामाजिक अस्तित्व तो इनकी दृष्टि मे कुछ था ही नही। गृहस्थ-जीवन के अन्तर्गत भी सुख-दु खो की समभोक्ता सहचरी, माता, बहन, पुत्री, मित्र, सचिव आदि उसके अन्य महत्त्वपूर्ण रूप हो सकते थे--परन्तु उनकी स्वीकृति भी इनमे नही है। उसकी सात्त्विकता स्वकीया की 'कुल-कानि' से, उसका आत्माभिमान खडिता की मान-दशा से, और उसकी बौद्धिक शक्तियाँ विदग्धा की चातुरी से आगे नही जा सकती थीं।

रीति-काव्य की शृगारिकता का स्वरूप-विश्लेषण करने पर ये निष्कर्ष निकलते हैं—

१ उसका मूलाधार रसिकता है, प्रेम नही। यह रसिकता शुद्ध ऐन्द्रिय, अतएव उपभोग-प्रधान है। उसमे पार्थिव एव ऐन्द्रिय सौन्दर्य के आकर्षण की स्पष्ट स्वीकृति है—किसी प्रकार के अपार्थिव अथवा अतीन्द्रिय सौन्दर्य के रहस्य-सकेत नही।

२ इसीलिए वासना को उसमे अपने प्राकृतिक रूप मे ग्रहण करते हुए उसी की तुष्टि को निश्छल रीति से प्रेम-रूप मे स्वीकार किया गया है—उसको न आध्यात्मिक रूप देने का प्रयत्न किया गया है, न उदात्त और परिष्कृत करने का।

३ यह शृगार उपभोग-प्रधान एव गार्हस्थिक है जो एक ओर बाजारी इश्क या दरबारी वेश्या-विलास से भिन्न है, दूसरी ओर रोमानी प्रेम की साहसिकता अथवा आदर्शवादी बलिदान-भावना भी प्राय उसमे नही मिलती।

४ इसीलिए इसमे तरलता व छटा अधिक है, आत्मा की पुकार एव तीव्रता कम।

जीवन-दर्शन : रूढ़िबद्ध एवं अवैयक्तिक दृष्टिकोण

रीति-युग का जीवन-दर्शन स्वस्थ नही था। जिस युग मे राजनीतिक और आर्थिक पराभव अपनी चरमसीमा तक पहुँच गया हो उस युग का दृष्टिकोण स्वस्थ कैसे हो सकता है ! वाँछित अभिव्यक्ति के अभाव मे जीवन की वृत्तियो का वह सतुलन नष्ट हो गया था जो जीवन-दर्शन को स्वस्थ और परिपुष्ट बनाता है। कार्यक्षेत्र की परिधि अत्यन्त सकुचित हो जाने से उनको उचित व्यायाम का अवकाश ही नही मिलता था। जीवन का स्वस्थ सघर्ष, जो मानव-शक्तियो को विकसित और पुष्ट करता है समाप्त ही हो चुका था। एक बँधा हुआ रुग्ण जीवन शेष था—जिसमे अब सामन्तवाद की शक्ति और अहता छाया-शेष हो चुकी थी, काम और अर्थ पर आश्रित केवल स्थूल भोग-वृद्धि ही बच रही थी। इसीलिए तो रीति-कवियो का दृष्टिकोण बद्ध और सकुचित है। भौतिक जीवन के अन्तर्गत भी उनकी गति अत्यन्त सीमित और परिबद्ध थी। एक ओर तो उनमे वह प्रबल अहकार नही था जो भौतिक उच्चाकाक्षाओ को जन्म देता है, दूसरी ओर वह सामाजिक भावना भी नही थी जो भौतिक जीवन को व्यवस्था देती है। रीति-काव्य आध्यात्मिक तो है ही नही, तथापि वस्तु-रूप मे भौतिक भी नही है—अर्थात् उसमे न आत्मा की अतुल जिज्ञासा है, न प्रकृति की दृढ कठोरता। वह तो जैसे जीवन का एक विराम-स्थल है जहाँ सभी प्रकार की दौड-धूप से श्रान्त होकर मानव नारी की मधुर अचल-छाया मे बैठकर अपने दु खो और पराभवो को भूल जाता है। उसका आधार-फलक इतना सीमित है कि जीवन की अनेकरूपता के लिए उसमे स्थान ही नही है। उस पर अकित जीवन-चित्र भी स्वभावत एकागी ही है, परन्तु उसमे एक मधुर रमणीयता—मन को विश्राम देने का गुण अवश्य है। घोर निराशा के उस युग मे जीवन मे किसी-न-किसी प्रकार ये कवि रस-सचार करते रहे मै समझता हूँ कम-से-कम इसके लिए तत्कालीन समाज को उनका कृतज्ञ अवश्य होना चाहिए। व्यापक जीवन के धरातल पर, बस, इससे अधिक श्रेय उनको देना असगत होगा, क्योकि यह तो मानना ही पडेगा कि यह जीवन-दर्शन बहुत-कुछ हल्का पडता है। जीवन के मूलगत गम्भीर प्रश्नो का स्पर्श भी वे नही करते—उनका गहन विवेचन और समाधान करना तो दूर रहा। काममय होते हुए भी रीति-काव्य काम को प्रवृत्ति से अधिक कुछ नही मानता—उसके द्वारा उद्बुद्ध जीवन की गहन मनो-वैज्ञानिक और सामाजिक समस्याओ से वह अनभिज्ञ है। दृष्टिकोण के विस्तार और गाम्भीर्य का यही अभाव तो उसकी रीति-बद्धता एव अलकरणप्रियता के लिए उत्तरदायी है। जो व्यक्ति एक सकुचित दायरे मे जीवन की सतह को ही छूकर रह जाएगा उसकी बाह्य क्रिया-शक्तियाँ स्वभावत अलकरण की ओर ही प्रेरित होगी, क्योकि उनके लिए विस्तार और गहराई मे तो कोई अवकाश है ही नही। यही कारण था कि इन कवियो का अलकारो से इतना अधिक मोह हो गया और वे रीति के बन्धनो से प्रेम करने लग गए। मुख्यत इसीलिए उनका दृष्टिकोण अवैयक्तिक और उनका काव्य अव्यक्तिगत हो गया।

जीवन की वास्तविकताओ से आमने-सामने खडे होकर टक्कर लेने मे व्यक्ति की सम्पूर्ण चेतना—उसकी समस्त शक्तियो—की परीक्षा होती है। तभी व्यक्तित्व का

विकास होता है। वह इस युग मे नही था। घोर अव्यवस्था से क्षत-विक्षत सामान्तवाद के भग्नावशेष की छाया मे त्रस्त और क्षीण जीवन एक बँधी लीक पर पडा हुआ यन्त्र-वत् चल रहा था। क्या राजनीतिक क्षेत्र मे और क्या सामाजिक क्षेत्र मे, सर्वत्र ही वैयक्तिक स्फूर्ति और उत्साह नि.शेष हो चुका था—मौलिक सृजन-क्षमता नष्ट हो चुकी थी, केवल रीतियो की दासता मात्र रह गई थी, जो कि रीति-काव्य मे स्पष्टत प्रति-फलित है। कवियो के सम्मुख तो व्यक्तगत जीवन-सघर्ष का प्रश्न और भी नही था—उनका जीवन-पथ तो सर्वथा सरल एव निश्चित बन गया था। उनकी आजीविका का साधन केवल एक ही था—राज्याश्रय, उनका कर्तव्य-कर्म केवल एक ही था—काव्य-रचना, उनका लक्ष्य केवल एक ही था—रस-प्राप्ति। ऐसे कवियो की कविता भला अवैयक्तिक एव रीतिवद्ध क्यो न होती।

रीतिकालीन धार्मिकता और भक्ति का स्वरूप

रीति-युग की धार्मिकता और भक्ति भी रूढिवद्ध ही थी—वास्तव मे, धर्म इस युग मे आकर धर्माभास-मात्र रह गया था। धर्म के उस स्वस्थ और नैतिक रूप का, जो आत्मबल के द्वारा जीवन को धारण करता है, अभाव हो चुका था, परन्तु विश्वास अभी ज्यो-त्यो वना ही हुआ था। ऐन्द्रिय प्रेम मे आकठ मग्न होकर भी ये कवि हरि-राधिका की तन-द्युति मे अनुराग बनाये हुए थे—

तजि तीरथ हरि-राधिका, तन-द्युति करि अनुरागु।
जेहि ब्रज-केलि निकुज मग, पग-पग होत प्रयागु।।

(बिहारी सतसई)

वास्तव मे यह भक्ति भी उनकी शृगारिकता का ही एक अग थी। जीवन की अतिशय रसिकता से जब ये लोग घबरा उठते होगे तो राधा-कृष्ण का यही अनुराग उनके धर्म-भीरु मन को आश्वासन देता होगा। इस प्रकार रीतिकालीन भक्ति एक ओर सामाजिक कवच और दूसरी ओर मानसिक शरण-भूमि के रूप मे इनकी रक्षा करती थी। तभी तो ये किसी-न-किसी तरह उसका आँचल पकडे हुए थे। रीति-काल का कोई भी कवि भक्ति-भावना से हीन नही है—हो ही नही सकता था, क्योकि भक्ति उसके लिए एक मनोवैज्ञानिक आवश्यकता थी। भौतिक रस की उपासना करते हुए भी उनके विलास-जर्जर मन मे इतना नैतिक बल नही था कि भक्ति-रस मे अनास्था प्रकट करते या उसका सैद्धान्तिक निषेध करते। इसीलिए रीति-काल के सामाजिक जीवन और काव्य मे भक्ति का आभास अनिवार्यत वर्तमान है और नायक-नायिका के लिए बार-बार 'हरि' और 'राधिका' शब्दो का प्रयोग किया गया है।

रीतिकाल में कला की स्थिति

डॉ० सावित्री सिन्हा

चित्रकला—रीतियुगीन काव्य के समान ही उस युग की चित्रकला की विभिन्न शैलियाँ अधिकतर सामंतो और राजाओ के सरक्षण मे विकसित और पल्लवित हुई। डॉ० कुमार स्वामी ने राजपूत तथा मुगल शैली को बिल्कुल पृथक् मानकर प्रथम को जनभावनाओ की प्रतीक तथा दूसरी को दरबारी स्वीकार किया था। परन्तु नई शोधो के आधार पर यह सिद्ध कर दिया गया है कि दोनो शैलियाँ एक-दूसरे से काफी प्रभावित है। पहाडी शैली भी, स्थानीय वातावरण के चित्रण के पार्थक्य के साथ, राजस्थान शैली की ही एक प्रशाखा है।[१]

रीतिकाल की दो शताब्दियो मे प्राप्त चित्रफलको मे प्रतिपाद्य और शैली दोनो मे ही एक परम्परावद्ध दृष्टिकोण दृष्टिगत होता है। जिस प्रकार साहित्य के क्षेत्र मे नूतन मौलिक प्रतिभा के अभाव और शृगार-प्रधान युगदर्शन के कारण रीतिवद्ध नायिका भेदो का चित्रण प्रधान हो गया था उसी प्रकार चित्रकला के विकास मे भी इन तत्त्वो का महत्त्वपूर्ण योग रहा। तत्कालीन चित्रकला के प्रतिपाद्य को प्रधान रूप से चार भागो मे विभाजित किया जा सकता है—

१—नायक तथा नायिका-भेदो के परम्परावद्ध चित्र।

१—पौराणिक उपाख्यानो पर आवृत चित्र।

३—रागरागिनियो के प्रतीक चित्र।

४—व्यक्ति चित्र।

कला जब स्वात सुखाय न होकर व्याख्यान तथा प्रदर्शन वृत्ति की अभिव्यक्ति के लिए प्रयुक्त होती है तव उसका रूप शुद्ध कला का नही होता। मध्यकालीन चित्र-

---

१ मुगल आर्ट इज नो मोर मोहम्मडन।
—सिक्सटीथ एण्ड सेवेनटींथ सेंचरी मैनस्क्रप्ट्स एण्ड ऐलवम्स ऑव् मुगल पेंटिग्ज।

राजपूत आर्ट ककर्ड मुगल आर्ट।—गेट्ज।

कला के उपर्युक्त सभी प्रतिपाद्य रूढ रूप मे ग्रहण किये गए है। उनमे कलाकार का आत्मसवेदन बहुत ही गौण है। उस युग के विलासपरक तथा प्रदर्शनप्रधान जीवनदर्शन को जिन परपरागत मान्यताओ मे अभिव्यक्ति मिली, चित्रकार की तूलिका ने उन्ही को चित्रो मे उतार लिया। चित्रकला का विकास भी सरक्षको की रुचि के अनुसार हुआ, इसलिए उसमे भी शृगारिकता तथा प्रदर्शनवृत्ति का प्राधान्य है। प्रथम श्रेणी के चित्र अधिकतर राजपूत और पहाडी शैली मे मुख्य रूप से प्राप्त होते है। इन चित्रो द्वारा स्त्रियो के नग्न सौन्दर्य के चित्रण मे कलाकार की नूतन कल्पना का आविर्भाव हुआ। फलस्वरूप एक कोमल ऐद्रिय भावना की अभिव्यक्ति हुई जिसमे पूर्व विशदता और गाम्भीर्य का अभाव हो गया और एक नई शृगारिक शैली का प्रादुर्भाव हुआ। उत्कठिता, वासकसज्जा, अभिसारिका इत्यादि सब प्रकार की नायिकाओ का चित्रण परम्पराभुक्त वातावरण मे ही किया गया। प्रगीतमय माधुर्य का स्पष्ट आभास इन चित्रो मे मिलता है। नायिकाओ के चित्र अधिकतर नायिकाभेद काव्य के आधार पर बनाये गए है। सकेतस्थल पर पुष्पशय्या बनाकर प्रियतम से मिलन के लिए उत्कठिता नायिका, विषम प्रकृति की चुनौती स्वीकार करके आगे बढती हुई अभिसारिका इत्यादि शृगार नायिकाओ के परपराबद्ध रूप है। शृगार की विभिन्न परिस्थितियो का चित्रण इन रचनाओ का ध्येय है और शृगार उनकी आत्मा। कृष्ण तो उस युग मे शृगारनायक थे ही, कागडा (पहाडी) तथा राजस्थानी शैली मे पौराणिक उपाख्यानो पर आधृत जो चित्र बनाये गए उनमे शिव और पार्वती के शृगारचित्रण मे भी उस युग के कलाकार की वृत्ति अधिक रमी है। भानुदत्त की 'रसमजरी' मे चित्रित विभिन्न शृगारिक परिस्थितियो का चित्रण हुआ परन्तु भावाभिव्यक्ति के अभाव मे ये प्रयास ऐसे जान पडते है जैसे सहानुभूति से अनभिज्ञ कोई व्यक्ति रूढिगत मान्यताओ के आधार पर रस का विश्लेषण करने का प्रयास कर रहा हो। इसके अतिरिक्त उस युग के शृगारनायक तथा रूपनायिका बाजबहादुर और रूपमती बेगम के भी शृगारपूर्ण चित्र अकित किये गए।

शृगार वातावरण की अभिव्यक्ति प्राय बारहमासा और ऋतु-चित्रण के रूप मे हुई है। वसत और वर्षा को उद्दीपन रूप मे अकित करने वाले अनेक चित्र है। जयदेव के गीतो के चित्रण मे भी उस युग के रसिक कलाकार को नग्न नारीसौन्दर्य और शृगार की अभिव्यक्ति का अवसर मिला। राधा के अनावृत सौन्दर्य का जो अकन उसके स्नान सम्बन्धी चित्रो मे हुआ है वह जयदेव और विद्यापति की सद्य स्नाता का प्रत्यकन है।

मुगल सम्राटो के सरक्षण मे अनेक व्यक्तिचित्रो की रचना हुई। अकबर के समय से ही व्यक्तिचित्रो का निर्माण आरम्भ हो गया था। उधर जहाँगीर की तो यह महत्त्वाकाक्षा थी कि वह अपने जीवन की समस्त प्रमुख घटनाओ को चित्रबद्ध करा ले। इसी इच्छा की पूर्ति के लिए मुगल दरबार तथा शिकार के अनेक दृश्यो के चित्र उसने बनवाए। वास्तव मे इन चित्रो मे मुगल गरिमा अपने मौलिक रूप मे सुरक्षित है परन्तु जहाँगीर की मृत्यु के बाद ही भारतीय चित्रकला की आत्मा मर गई। बाह्य सौदर्य की गरिमा कुछ समय तक बनी रही, आगे चलकर मात्र अलकरण ही चित्रकला का ध्येय बन गया।

उत्तर मध्यकालीन चित्रकला के प्रतिपाद्य पर दृष्टि डालने से यह स्पष्ट हो जाता

है कि एक ओर हिंदी काव्य की शृगार भावना का समानातर रूप शृगारिक चित्रो मे अपने समस्त उपकरणो के साथ थोडे वहुत अतर से विद्यमान है, दूसरी ओर रीतिकालीन काव्य का दूसरा प्रधान स्वर प्रशस्तिगान का रूप भी व्यक्तिचित्रो, दरवारी गरिमा और ऐश्वर्य-चित्रण की प्रवृत्ति मे विद्यमान है। मुगल दरवार के चित्रो के अनुकरण पर अनेक राजपूत राजाओ के दरवार, उनके जीवन की प्रमुख घटनाओ तथा उनके व्यक्तित्व से सम्वन्धित अनेक चित्र खीचे गए। राजकीय सरक्षण के कारण उनमे दरवारी कला की सव विशेषताएँ मिलती है।

तत्कालीन चित्रकला की अभिव्यजना शैली मे भी काव्य मे प्रचलित शैलियो से काफी साम्य है। परपरावद्ध, अलकृत, श्रमसिद्ध और चमत्कारपूर्ण शैली इस युग की चित्रकला की भी प्रधान विशेपता थी। शाहजहाँ के समय से ही चित्रकला मे अलकरण की अतिशयता का आरम्भ हो गया था जिसके कारण कला की आत्मा वुझने लगी थी। चित्रविचित्र फूलपत्तो तितलियो आदि से युक्त सुन्दर अलकृत हाशिए और सुनहले वर्णो की आत्मा का स्पर्श ही चित्रकला के साध्य वन गए थे। प्रतिपाद्य महान् होता है तो शैली भी उसी के अनुरूप होती है। शाहजहाँ के प्रदर्शनप्रिय व्यक्तित्व के फलस्वरूप चित्रकलाविदो का ध्येय उसके दरवार के ऐश्वर्य, विशेप उत्सवो के आयोजन तथा रत्न-जटित पदो इत्यादि का चित्रण करना ही रह गया। आतरिक प्रेरणा के अभाव के कारण उनमे भावाभिव्यक्ति की सजीवता नही रह गई थी क्योकि शाहजहाँ के ऐश्वर्य की अभि-व्यक्ति के लिए कलाकार को सवेदना की नही, सुनहले रगो और आलकारिक दृष्टिकोण की आवश्यकता होती थी। श्री रायकृष्णदास के शब्दो मे—'अव चित्रो मे हद से ज्यादा रिवाज महीनकारी, रगो की खूवी एव अगप्रत्यगो की लिखाई, विशेपत हस्तमुद्राओ मे वडी सफाई है और कलम मे कही कमजोरी न रहने पर भी दरवारी अदवकायदो की जकडवदी और शाही दवदवे के कारण इन चित्रो मे भाव का सर्वथा अभाव, वल्कि एक प्रकार का सन्नाटा पाया जाता है, यहाँ तक कि जी ऊवने लगता है।'

औरगजेब के युग मे अन्य कलाओ की भाँति चित्रकला का भी ह्रास हुआ है। कलाओ के प्रति उसकी उपेक्षा तथा उसके उत्तराधिकारियो की अक्षमता के कारण अनेक कलावतो को राजाओ और सामतो का आश्रय लेना पडा। इसीके फलस्वरूप शाहजहाँ के समय मे अभिव्यजना को साध्य मान लेने की जो प्रवृत्ति आरम्भ हुई थी वह अब राजस्थान तथा कागडा शैली मे दिखाई पडने लगी। नारी सौदर्य के चित्रण मे ऐद्रिय भावनाओ का प्राधान्य तो रहा ही, नारी के अवयवो से मिलती-जुलती रेखाओ के द्वारा प्रकृतिचित्रण करने के प्रयोग भी किए। वृक्षो की पत्रहीन शाखाओ को नारी रूप देकर नाजुकख्याली से उनका चित्रण किया गया। शृगार के उद्दीपन रूप को जितना महत्त्व कविताओ मे प्रदान किया गया उतना ही चित्रकला मे भी। यहाँ भी प्रकृति का चित्रण शृगार के उद्दीपन रूप मे ही किया गया है। प्रकृति कला प्रेरक सवेद्य के रूप मे तो आई ही नही है। उदाहरण के लिए गढवाल शैली मे चित्रित रूपमती और वाजवहादुर की क्रीडा के चित्र मे रूपमती के शरीर की वक्रताओ से होड लेती हुई वृक्षो की टहनियाँ, उसके गौर वर्ण को चुनौती देती हुई विजली की चमक उद्दीपन रूप मे ही चित्रित की

गई है। इसी प्रकार 'अभिसारिका' चित्र का वातावरण मान्य रूढियो के आधार पर ही अकित है। समस्त प्रकृति पर ही मानवीय चेतना के आरोपण मे जिस अभिव्यजना कौशल का परिचय मिलता है उसमे कही मौलिक उद्‌भावना के सहारे रसाभिव्यक्ति की भी क्षमता होती तो ये चित्र छायावादी कला के अनुपम प्रेरणास्रोत वन जाते। परन्तु इन चित्रो मे तो प्रकृति के विविध उपकरणो को रूढिगत प्रतीको के रूप मे ग्रहण किया गया है। अभिसारिका के चित्रण मे विजली की क्षीण रेखा मे नायिका का सौन्दर्य, मूसलाधार वर्षा, सर्प, तूफानी झझा, उसकी विह्वल कामनाओ के प्रतीक रूप मे ही ग्रहण किये गए हैं।'

उधर कृष्णलीला के विभिन्न प्रसगो पर लिखे गीतो के आधार पर कुछ चित्र अकित किये गए जिनकी पृष्ठभूमि विशद है। परन्तु उनमे चित्रित स्त्रीपुरुषो मे भी उचित भावाभिव्यक्ति का अभाव है। कठपुतलियो अथवा गुडियो के समान भावशून्य मुखाकृतियो मे अधिकतर रसाभास की सी स्थिति आ गई है। भानुदत्त की रसमजरी पर आधृत 'एक स्थिति' नामक चित्र मे नायक की गोद मे बैठी हुई दो नारियाँ शृगार रस की अभिव्यक्ति करने के वदले नायक से हाथ छुडाकर भागती-सी जान पडती है। नायक और नायिकाओ की आकृतियाँ वहाँ पूर्ण रूप से भावशून्य है।

अभिव्यजना शैली मे चमत्कारवाद की विकृति के उदाहरण भी इस युग की कला मे विद्यमान है। हयनारी, गजनारी, नवनारीकुजर ऐसे चित्र है जिनमे उस युग के स्थूल शृगार और चमत्कारवादी प्रवृत्ति दोनो की सयुक्त अभिव्यक्ति मिलती है। अनेक नारियो के वहुरगी वस्त्रो तथा उनके विविध अगो के सयोजन द्वारा ये चित्र प्रस्तुत किये गए है। स्त्रियो के अग प्रत्यगो को सुविधानुसार तोड-मरोडकर हाथी और घोडे के चित्र वनाये गए है जिनपर कही कृष्ण आरोहित है तो कही कोई मुगल सम्राट्।

मध्यकालीन चित्रकला के विशेषज्ञ श्री गेट्ज के शब्दो मे, ईसा की १९वी शताब्दी के मध्य से ही भारतीय चित्रकला का अवसान होने लगा था। उस युग के कलाकार को न तो रेखाओ का परिष्कृत ज्ञान था और न रग के सतुलित प्रयोगो का। उनके चित्र भावशून्य तथा निर्जीव प्रतिमाओ के समान होते थे। चरम उत्थान की प्रतिक्रिया अवसान मे होती तो अवश्य है, परन्तु उस युग की कला तो गहन जीवनदृष्टि और आत्मिक शक्ति के अभाव मे पूर्ण रूप से पगु हो गई थी।

स्थापत्य कला—मुगल स्थापत्य कला का सर्वप्रथम उदाहरण है हुमायूँ का मकवरा। इसके निर्माण से भारतीय स्थापत्य कला के इतिहास मे एक नए युग का आरभ हुआ। एक देश की प्रचलित शैली को दूसरे देश की परिस्थितियो के अनुसार ढालने की चेष्टा करने मे कुछ परिवर्तन अवश्यभावी होते है। फारसी वास्तुशैली को भारतीय शिल्पियो ने सगमर्मर और लाल पत्थरो मे काटकर जो परिवर्तन किए उसमे भारत मे नए वास्तु-शिल्प-विधान का प्रादुर्भाव हुआ। मुगल वादशाहो ने इसी शैली के अनुकरण पर अपनी इमारतो का निर्माण कराया। यहाँ तक कि विश्व के चमत्कार 'ताज' के निर्माण मे भी इसी शैली का प्रयोग किया गया है। रीतिकाल के पहले मुगल भवन-निर्माण-शैली मे प्रभावोत्पादक और विशद सिद्धान्तो का आधार ग्रहण किया गया था।

अकबर द्वारा निर्मित आगरा और लाहौर के किलो की लाल पत्थर की दीवारो की जोर्ड मे से एक बाल निकलने का भी अवकाश नही था। हाथीपोल की कुशल निर्माण-कला के द्वारा भी यह सिद्ध होता है कि उसके शिल्पी अपनी कृतियो मे कलात्मक तथा प्रभावात्मक गरिमा का समन्वय करने के लिए कितने जागरूक थे। इस स्थापत्य मे कला का एक समन्वित और सतुलित रूप पाया जाता है। बुलद दरवाजे के विराट् गभीर स्वरूप मे एक सपूर्ण और व्यापक जीवनदृष्टि व्याप्त है,पर इस गभीर व्यापकता के साथ ही अकबर के समय की कुछ इमारतो मे अलकरण और चमत्कार की प्रवृत्ति भी धीरे-धीरे आरम्भ हो गई थी। मरियम बेगम और राजा बीरबल के प्रासादो तथा शेख सलीम चिश्ती के मकबरे की पच्चीकारी कलाशिल्प के उत्कृष्ट उदाहरण है। राजा बीरबल के महल की अलकृत पच्चीकारी तो आश्चर्यजनक है। अकबर द्वारा निर्मित दीवानेखास मे भी एक चमत्कारपूर्ण प्रभावोत्पादन की चेष्टा भी दिखाई पडती है। प्रस्तर के अर्धचद्रो पर आवृत अलिद तथा मध्य स्तभ के साथ उनका सयोजन देखकर चित्त चमत्कृत हो उठता है। लेकिन इतनी बोझिल आकृति के होते हुए भी उसमे गाभीर्य का अभाव नही है। 'ज्योतिषी मच' तथा स्तूपाकार पचमहल के विन्यास और श्रमसिद्ध पच्चीकारी मे यही प्रवृत्ति प्रधान है। परन्तु तद्युगीन वास्तुकारो ने चमत्कार तथा अलकरण को साध्य रूप मे नही स्वीकार किया, यही कारण है कि उनकी इमारतो का प्रभाव आकर्षक होने के साथ-साथ विशद, गभीर तथा व्यापक भी है।

मुगल बादशाहो के सरक्षण मे विकसित होती हुई मुगल इमारतो की शैली के अनुकरण पर अनेक मदिरो तथा प्रासादो का निर्माण हुआ। जोधपुर, ओरछा, दतिया इत्यादि के राजभवनो की शैली मे मुगल शैली का अनुकरण किया गया है। लेकिन अन-करण उनका अपना है। अलकरण-विधान के अतिरिक्त उनके विन्यास मे मौलिक सृजनप्रतिभा का भी परिचय मिलता है। मुगल शैली के साथ हिन्दू वास्तुशिल्प के अल-करण के सामजस्य के ज्वलत उदाहरण अबेर तथा जोधपुर के राजभवन है।

जहाँगीर के समय से वास्तुकला के क्षेत्र मे हमे उन सभी प्रवृत्तियो का आभास मिलने लगता है जो विलासप्रधान और ऐश्वर्यपरक जीवनदृष्टि के लिए अनिवार्य होती है। जहागीर के समय मे जहाँ एक ओर वास्तुशिल्प का आदर्श अलकरण मान लिया गया, वही विशद, व्यापक तथा गभीर प्रभावोत्पादन के स्थान पर पाषाण के माध्यम से ललित और कोमल अभिव्यक्ति ही शिल्पी का प्रधान लक्ष्य बन गई। जहाँगीर चित्रकला का प्रेमी था, वास्तुकला का नही, अत उसकी रुचि के प्रभाव के कारण 'बुलन्द दरवाजा' के निर्माता अकबर का मकबराउसके व्यक्तित्व के अनुरूप गम्भीर नही बन पाया। अकबर के मकबरे की आखिरी मजिल, जो जहाँगीर के आदेश से ढहाकर फिर से बनाई गई, अलकरण तथा लालित्य मे अनुपमेय है परन्तु उसमे गाम्भीर्य का अभाव है। जहाँगीर के पश्चात् वास्तुकला मे अलकरण के उपकरण अनुदिन बढते गए तथा उसकी निर्माणशैली मे एक स्त्रैण सस्पर्श आता गया। जहाँगीर के मकबरे मे गाभीर्य का अभाव है। सगमर्मर का अपव्यय और भित्तिचित्रो मे अलकरण के होते हुए भी उसकी गरिमा कृत्रिम जान पडती है। इसके अतिरिक्त जहाँगीर ने भारतीय और फारसी निर्माणशैलियो

के समन्वय के स्थान पर परपराबद्ध फारसी निर्माणशैली को ही प्रोत्साहन दिया। अब्दुर्रहीम खानखाना का मकबरा हुमायूँ के मकबरे के अनुकरण पर बना। इस इमारत के निर्माण द्वारा जहाँ एक ओर नई मौलिक प्रतिभा के अभाव का प्रमाण मिलता है, वहाँ दूसरी ओर एतमादउद्दौला के मकबरे मे वास्तुकला ने पूर्ण स्त्रैण रूप धारण कर लिया है। इसकी निर्माणयोजना साम्राज्ञी नूरजहाँ ने की थी। श्वेत सगमर्मर मे झिलमिल पच्चीकारी तथा मूल्यवान पत्थरो के अलकरण के कारण ऐसा जान पडता है मानो कोई बहुमूल्य आभूषण भवन के रूप मे खडा कर दिया गया है।

शाहजहाँ के शासनकाल मे स्थापत्य कला का चरम विकास हुआ। निर्माणशैली तथा अलकरण दोनो ही क्षेत्रो मे नए प्रयोग किये गए। अकबर द्वारा निर्मित लाल पत्थर के अनेक भवनो को ढहाकर उनके स्थान पर सगमर्मर के मडपो का निर्माण किया गया। सगमर्मर के कटावदार महराब, मूल्यवान पत्थरो की जडाई, परिष्कृत सज्जा तथा सूक्ष्म अलकरण शाहजहाँ द्वारा निर्मित भवनो की मुख्य विशेषताएँ हैं। दीवाने आम, दीवाने खास, खासमहल, शीशमहल, मुसम्मन बुर्ज तथा मच्छीभवन शाहजहाँ द्वारा बनाई गई मुख्य इमारतें है। इन सभी की आत्मा शृगारिक है। सूक्ष्म पच्चीकारी, चित्रलिखित सी सजीवता, सुनहले तथा रगीन स्तभ, इन सभी मे एक विलासपरक, ऐश्वर्यप्रधान जीवनदृष्टि का परिचय मिलता है। मोती महल, हीरा महल, नहरेबहिश्त तथा शाहबुर्ज नाम ही इस तथ्य की पुष्टि के लिए यथेष्ट है।

निर्माण-योजना की दृष्टि से शाहजहाँ की प्रमुख इमारतो मे भी मौलिकता का अभाव है। जामामस्जिद तथा ताजमहल दोनो की योजना हुमायूँ के मकबरे के अनुकरण पर हुई है जो मुगल-स्थापत्य-परपरा की प्रथम इमारत है। ताज की गरिमा तथा वैभव उसकी सज्जा तथा अलकरण पर अधिक निर्भर है। रगीन प्रस्तरखडो द्वारा निर्मित नमूने, प्रवेश द्वारो पर खचित सुन्दर हाशिए विलक्षण कलासौष्ठव के उदाहरण है। वास्तव मे शाहजहाँ के शिल्पी ने अपनी कला के द्वारा पुष्पवदना मुमताज की प्रस्तर समाधि मे भी फूल की सी कोमलता ला दी है। सफेद सगमर्मर की आत्मा मे शाहजहाँ का ऐश्वर्य तथा उसके कोमल प्रभाव मे उसका प्रेम सदा के लिए अमर हो गया है।

शाहजहाँ काल मे स्थापत्यकला का चरम विकास हुआ। औरगजेब के समय मे मानो उसकी प्रतिक्रिया हुई और उसमे पतन के चिह्न दृष्टिगत होने लगे। शाहजहाँ कालीन मच्छीभवन के लालित्य मे ही मुगल स्थापत्य के पतन का सकेत मिल जाता है। औरगज़ेब कला से घृणा करता था, परन्तु फिर भी उसके सरक्षण मे कुछ मस्जिदो और मकबरो का निर्माण हुआ। शिल्पी अताउद्दौला ने रजिया बेगम के मकबरे का निर्माण ताजमहल की शैली पर किया परन्तु इस मकबरे को देखने से ही उसकी हीन रुचि तथा अल्प ज्ञान का परिचय मिल जाता है। निष्प्राण अलकरण के अतिचार तथा रुचिविहीन निर्माण योजना के कारण यह इमारत बिल्कुल ही साधारण बनकर रह गई है। बनारस की मस्जिद भी तद्युगीन कला की अस्थिर तथा दुर्बल प्रकृति का परिचय देने के लिए काफी है। इन सभी इमारतो का निर्माण फारस की परपराबद्ध शैली के अनुकरण पर हुआ है। सफदरजग के मकबरे की योजना हुमायूँ के मकबरे की शैली के ढग पर हुई है।

परन्तु दोनो के प्रभाव मे आकाश-पाताल का अन्तर है।[1]

१९वी शताब्दी मे लखनऊ के एक मकबरे मे ताज की आकृति बनाने की चेष्टा की गई जो हीन तथा अपरिष्कृत रुचि का साकार उदाहरण है। यह समझना कठिन हो जाता है कि वाह्य रूप मे इतना साम्य होते हुए भी दोनो का प्रभाव इतना भिन्न कैसे है ? ताजमहल तथा ताजमहल की इस अनुकृति के द्वारा मुगल स्थापत्य कला के चरम विकास और उसके अवसान का मूल्याकन किया जा सकता है। औरगजेब के मकबरे मे न मार्दव है, न गाम्भीर्य और न ऐश्वर्य। अनेक सामतो के मकबरे भी इससे उत्कृष्ट हैं। न जाने कैसे काफिरो के भयकर शत्रु औरगजेब की समाधि पर तुलसी का एक पौधा अपने आप निकल आया हे।

इस युग मे निर्मित लखनऊ की इमारतो की हीन रुचि तथा अपरिष्कृति को देखकर भी युगप्रतिभा के ह्रास का परिचय मिलता है। लखनऊ की प्राय सभी इमारतो मे ऐसा जान पडता है मानो शिल्पी ने उस लिपि का अनुकरण करने का प्रयास किया हो जिसका न तो वह अर्थ समझता है और न जिसकी वर्णमाला से ही उसका परिचय है।

इस प्रकार रीतियुगीन स्थापत्य कला के विकास पर दृष्टि डालने से यह बात पूर्णतया स्पष्ट हो जाती है कि रीति-साहित्य की समानातर प्रवृत्तियाँ ही इस क्षेत्र मे भी चलती रही है। परम्पराबद्ध शैली, अलकरण की अतिशयता, चमत्कारवृत्ति तथा अनुदिन शृगारी और रोमानी वातावरण की सृष्टि का प्रयास, ये सभी प्रवृत्तियाँ रीतियुगीन साहित्य मे भी थोडे बहुत अन्तर के साथ विद्यमान है।

सगीत-शास्त्र तथा कला—रीतियुग मे सगीत कला की स्थिति भी अत्यन्त शोचनीय हो गई थी। मुगल साम्राज्य की स्थापना के पहले भारतवर्ष मे सगीत की एक सबल शास्त्रीय पृष्ठभूमि का निर्माण हो चुका था। ग्वालियर नरेश मानसिंह के सरक्षण मे भारतीय सगीत उत्थान की चरम सीमा पर पहुँच चुका था। सगीत की सबसे विशद और गम्भीर शैली 'ध्रुपद' का आविष्कारक इन्ही को माना जाता है। सगीत कला और शास्त्र दोनो को ही विदेशियो के आक्रमण द्वारा बहुत आघात पहुँचा। सगीत कला तो अनेक व्यवधानो से टक्कर लेती हुई तथा विदेशी प्रभावो को आत्मसात् करती हुई पनपती रही, परन्तु, शास्त्र के क्षेत्र मे मौलिकता का पूर्ण अभाव हो गया।

---

१ हुमायूज टूब एक्स्प्रेसेज इन एव्री लाइन इट्स पावर ऐंड एक्जल्टेंट वाइटैलिटी-देट "ड्यूआव् मार्निग" ह्विच मार्क्स द बिगिनिग आव् एव्री न्यू मूवमेंट। टूब आव् सफदरजग सीम्स टु बी स्ट्राइविग बाई आर्टिफिशेल मीन्स टु रिप्रोड्यूस दि औरिजिनल विगर, ह्वाइल इन रियालिटी इट इज डिकेडेंट। देयर इज नो बैलेंस्ड प्रोपोर्शन ऐंड ब्राड सिंपुल प्लैन। इट वाज ए फाइन एफर्ट टु रीकेप्चर दि ओल्ड स्पिरिट आव् मुगल स्टाइल, बट बाई दिस टाइम दि आर्ट हैड गॉन बियाड एनी होप आव् रिकाल।

—पर्सी ब्राउन, मान्युमेंट्स ऑव् द मुगल्स, कैंब्रिज हिस्ट्री ऑव् इडिया।

सिद्धान्त अथवा शास्त्र कला के व्यावहारिक रूप के आधारस्तभ होते है । एक के ध्वस के साथ दूसरे का पतन अनिवार्य हो जाता है । मुगल दरबार मे अधिकाशत मुसलमान कलाकारो को सरक्षण प्राप्त हुआ । आईने अकबरी मे उल्लिखित ३६ सगीतज्ञो मे से केवल ४ हिन्दू है, परन्तु अकबरकालीन सगीत का इतिहास पूर्णत अधकारमय नही है । जहाँ तानसेन आज भी सर्वश्रेष्ठ कलावत के पद पर आसीन है, वही शास्त्र के क्षेत्र मे पुडरीक विट्ठल का स्थान भी उतना ही महत्त्वपूर्ण है । जहाँगीर के समय मे पडित दामोदर ने सगीतदर्पण की रचना की जो सगीत शास्त्र का अमर ग्रथ है ।

शाहजहाँ के समय मे सगीत के क्षेत्र मे भी वही प्रदर्शनप्रियता और अलकरण की प्रवृत्ति दिखाई देती है । अहोबल का प्रसिद्ध शास्त्रग्रथ सगीत-पारिजात इसी समय का माना जाता है। इसमे मान्य २९ विकृत स्वरो के नाम ही तत्कालीन सगीत की अलकरण प्रवृत्ति का परिचय देने के लिए यथेष्ट हैं ।[1] व्यावहारिक रूप मे यद्यपि उनका प्रयोग इतने रूपो मे नही हुआ[2] तथापि सिद्धान्त रूप मे इन सूक्ष्मताओ की स्वीकृति से भी उसकी आलकारिक प्रवृत्ति का परिचय तो मिलता ही है । शाहजहाँ के दरबार मे अनेक गायक हुए जो तानसेन की गभीर शैली मे आलकारिक गिटकिरियाँ जोडकर उन्हे अपने युग की प्रवृत्तियो मे रजित कर रहे थे ।

औरगज़ेब अपने दरबार से सगीत कला का चिह्न तक मिटा देना चाहता था । उसका युग सगीत के अपकर्ष का युग था । उस युग के सगीतज्ञो का जीवन औरगज़ेब की धार्मिक सकीर्णता और कट्टर गाम्भीर्य के बिल्कुल विपरीत था, अतएव वे केवल दिल्ली दरबार से ही बहिष्कृत नही किये गए बल्कि साधारण सगीतगोष्ठियो पर भी राजकीय प्रतिबन्धो के कारण उनका जीवन-निर्वाह दूभर हो गया । फलस्वरूप सगीतज्ञ शाही सरक्षण छोडकर नवाबो और राजाओ की शरण मे जाने के लिए विवश हो गए । इस काल के केवल एक ही सगीताचार्य भावभट्ट का उल्लेख मिलता है । वे बीकानेर नरेश अनूपसिह के आश्रय मे थे । अनूप-सगीत-रत्नाकर, अनूपविलास तथा अनूपाकुश उनके मुख्य ग्रथ हे, परन्तु इन सभी रचनाओ मे मौलिकता का पूर्ण अभाव है ।

इस युग के सिद्धात सम्बन्धी ग्रथो मे मौलिकता का पूर्ण अभाव है । अहोबल ने नए स्वरनामो का उल्लेख अवश्य किया है परन्तु ये स्वर अनेक पुराने स्वरो के नए नाम मात्र है । अहोबल ने इस तथ्य को स्वय स्वीकार किया है ।[3] इसके अतिरिक्त आध्र-निवासी प० सोमनाथ तथा प० व्यकटमखी का नाम इस प्रसग मे उल्लेखनीय है । तथापि इन दोनो सगीताचार्यो का सम्बन्ध दक्षिण की सगीतपद्धति से ही रहा है, तथापि उत्तर भारतीय सगीतपद्धतियो का प्रभाव उनकी रचनाओ पर स्पष्ट दिखाई देता है । इस काल मे लिखी हुई कुछ ऐसी रचनाएँ भी उपलब्ध होती है जिनकी रचना हिंदी के प्रसिद्ध कवियो ने की थी । इन रचनाओ का उद्देश्य तत्वान्वेषण की अपेक्षा मनोरजन

---

१ संगीतपारिजात, श्लोक ४९३-४९७

२ वही, श्लोक ३२४-३२६

३ वही, (रागाध्याय, श्लोकसंख्या ४९४-४९७)

ही अधिक जान पडता है। उदाहरण के लिए देव कवि कृत राग-रत्नाकर को लिया जा सकता है। इस रचना पर दामोदर पडित कृत सगीतदर्पण का प्रभाव सर्वत्र दिखाई पडता है।

औरगजेब के उत्तराधिकारियो के दरबार मे सगीत को प्रोत्साहन मिला। परन्तु तब तक सगीत की आत्मा बहुत कुछ मर चुकी थी। मुहम्मदशाह रगीले के दरबार मे उच्च श्रेणी के प्रतिष्ठित सगीतज्ञ रहते थे। परन्तु इस पुनरुत्थान मे अनुरजन, अलकरण तथा चामत्कारिक प्रयोगो का ही प्राधान्य है। ध्रुपद का स्थान ख्याल, ठुमरी, टप्पा और दादरा ने ले लिया। अदारग और सदरग के ख्यालो से दिल्ली दरबार की विलासयुक्त रगीनी मे योग मिला। शोरी के टप्पो के अलकारिक स्वर बहुत लोकप्रिय हुए। तराना, रेखता, कव्वाली इत्यादि प्रणालियो का प्रचार इसी युग मे अधिक हुआ। इनमे से अधिकाश श्रृगारिक है।

रीतियुग मे सगीत कला तथा सगीत शास्त्र की गतिविधि पर दृष्टि डालने से यह बात स्पष्ट प्रमाणित हो जाती है कि सगीत के प्रतिपाद्य तथा शैली का भी वही रूप था जो तत्कालीन हिन्दी काव्य का था। अकबर के समय मे ही लोचन की राजतरगिणी, पुडरीक विट्ठल के सद्रागचद्रोदय, रागमजरी रागमाला तथा नर्तननिर्णय लिखे जा चुके थे। रीतियुग मे तथा उसके कुछ समय बाद भावभट्ट, हृदयनारायणदेव, मुहम्मद रजा, महाराजा प्रतापसिंह तथा कृष्णानन्द व्यास द्वारा प्रणीत सगीत शास्त्र सम्बन्धी अन्य ग्रथ भी निर्मित हुए, जिनमे रीतियुगीन लक्षणग्रथो की प्रवृत्तियो का ही प्राधान्य रहा। काव्य और चित्रकला मे जिस प्रकार नायिकाभेद का चित्रण अबाध गति से होने लगा उसी प्रकार विविध रागरागिनियो को उनके गुण तथा प्रभाव के आधार पर नायक तथा नायिकाओ के रूप मे बद्ध कर उनकी व्याख्या की गई। परन्तु इन सब विवेचनाओ मे नूतन मौलिकता का प्राय अभाव ही रहा। हिन्दी काव्य-शास्त्र के समान ही तत्कालीन सगीत शास्त्र का आधार भी सस्कृत ही है। उस समय के सगीतशास्त्र का भी सामान्य टीकाकार मात्र थे।

तत्कालीन सगीत की शैली तथा प्रतिपाद्य मे चमत्कारसृष्टि की प्रवृत्ति स्पष्ट दिखाई देती है। अनेक स्थलो पर रागो के देवरूप चित्रण मे श्लेप द्वारा आधार तथा आधेय मे धर्मसाध्य और गुणसाम्य की स्थापना की गई है। यही नही, विविध गायन-शैलियो को एक ही गीत मे गुफित करते हुए चमत्कारसृष्टि करना उस युग की सगीत कला की चरम सिद्धि समझी जाती थी। तराना, दादरा, ठुमरी इत्यादि का एक ही गीत के अतर्गत समावेश इसी चमत्कारवादी प्रवृत्ति का द्योतक है।

सगीत के द्वारा श्रृगारिक भावनाओ का उद्दीपन करना ही सगीतज्ञो का मुख्य उद्देश्य रह गया था। फलस्वरूप उनकी शब्दयोजना भी अधिकतर श्रृगारपरक ही होती थी। चमत्कारप्रदर्शन की प्रवृत्ति भी तत्कालीन सगीत मे प्रधान रूप मे प्रमाणित हो जाती है। ख्याल शैली की तानो, खटको, मुरकियो तथा अन्य आलकारिक प्रयोगो मे चमत्कार तत्त्व ही अधिक रहता था। ख्याल के गीत अधिकतर श्रृगारिक होते है और उनमे अधिकतर किसी स्त्री की ओर से प्रणय अथवा विरह की अभिव्यक्ति की जाती है।

वास्तव मे रीतिकालीन कवि और सगीतज्ञ दोनो की एक ही दशा थी, दोनो ही आश्रयदाता की रुचि पर पल रहे थे, अतएव उनकी प्रसन्नता के लिए दोनो को ही शृगारपरक प्रतिपाद्य और कलाप्रधान चमत्कारवादिता को अपनाना पडा। रीतिकालीन चमत्कार-प्रदर्शन की वृत्ति चतुरग शैली मे भी दिखाई पडती है जिसमे ख्याल, तराना, सरगम और त्रिवट (मृदग के बोल) सबके मिश्रण से सगीत की वैचित्र्यपूर्ण रचना की जाती है। तरानो मे भी लय का चमत्कार और द्रुत तानो का प्रयोग उस युग की चमत्कारिक वृत्ति का ही परिचय देते है। शब्दयोजना के बिना 'ताना', 'दे', 'देना', 'दानी' तथा 'तोम' इत्यादि अर्थहीन शब्दो के द्वारा सगीतयोजना मे चमत्कारप्रदर्शन का ही बाहुल्य रहता है। टप्पा भी अपनी शैली के हल्केपन के लिए प्रसिद्ध है। इसकी गति क्षुद्र और चपल होती है। ये केवल उन्ही रागो मे गाए जाते है जिनका विस्तार अपेक्षाकृत सक्षिप्त होता है। रीतिकालीन सगीत मे गभीर और विशद तत्त्वो के अभाव का यह भी एक ज्वलत प्रमाण है। टप्पा पहले पजाब मे ऊँट हाँकनेवाले गाया करते थे। पहले कहा जा चुका है कि मुहम्मदशाह ने उसकी सगीतयोजना मे आलकारिक गिटकिरियो का योग देकर उसे रीतिकालीन वातावरण के अनुकूल बना दिया। नवाब वाजिदअलीशाह के सरक्षण मे ठुमरी शैली का प्रचलन हुआ जो अतिशय चपल, स्त्रैण और शृगारप्रधान थी। डा० श्यामसुन्दरदास ने उसका वर्णन इस प्रकार किया है—'अवध के अधीश्वर वाजिदअली शाह ने ठुमरी नामक गान शैली की परिपाटी चलाई। यह सगीतप्रणाली का अन्यतम स्त्रैण और शृगारिक रूप है। इस समय अकबर के समय के ध्रुपद की गभीर परिपाटी, मुहम्मद शाह द्वारा अनुमोदित ख्याल की चपल शैली तथा उन्ही के समय मे आविष्कृत टप्पे की रसमय और कोमल गायकी ओर वाजिदअली शाह के समय की रगीली रसीली ठुमरी अपने-अपने आश्रयदाताओ की मनोवृत्ति की ही परिचायक नही, लोक की प्रौढ रुचि मे जिस क्रम से पतन हुआ उसका इतिहास भी है।"[1]

रीतिकाल की अन्य मुख्य शैलियाँ है गजल और त्रिवट। इनमे भी चमत्कार और स्थूल शृगारिकता का प्राधान्य था। त्रिवट मे मृदग इत्यादि के बोलो को रागबद्ध करके चमत्कार उत्पन्न किया जाता था और गजल शृगारपरक प्रवृत्ति तो प्रसिद्ध ही है।

सगीत, कला तथा साहित्य की ये समानातर प्रवृत्तियाँ तथा उसमे व्याप्त ऐक्य उस युग के जीवनदर्शन का प्रमाण बनने के लिए यथेष्ट है। स्वार्थ परायण राजनीतिक व्यवस्था, सामतीय वातावरण, राजनीतिक विकेद्रीकरण और सामाजिक अव्यवस्था तथा विलासमूलक, वैभवजन्य प्रदर्शनप्रधान अलकरण प्रवृत्ति का तत्कालीन साहित्य एव विविध ललित कलाओ की गतिविधि पर बडा गहरा प्रभाव रहा है। तद्युगीन कलाकार की आत्मा पर ये बाह्य परिस्थितियाँ एक प्रकार से हावी हो गई थी। चेतन के सूक्ष्म, सार्वभौम और नित्य तत्त्व बाह्य जीवन की स्थूल साधना मे लुप्त हो गए थे। स्थूल की सूक्ष्म पर इस विजय के कारण ही इस युग मे 'रीतिकाव्य' लिखा गया।

---

१ डा० श्यामसुन्दरदास हिंदी भाषा और साहित्य, पृ० २६१

कतिपय सन्दर्भ-ग्रन्थ

परिशिष्ट १

१ कविवर बिहारी—श्री जगन्नाथ दास 'रत्नाकर'

२ बिहारी—प० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र

३ बिहारी और उनका साहित्य—डॉ० हरबशलाल शर्मा

४ बिहारी की वाग्विभूति—प० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र

५ बिहारी-विभव—श्री हरदयालु सिंह

६ बिहारी एक अध्ययन—डॉ० रामरतन भटनागर

७ बिहारी का नया मूल्याकन—डॉ० बच्चनसिंह

८ मुक्तक काव्य परम्परा और बिहारी—डॉ० रामसागर त्रिपाठी

९ हिन्दी-काव्य मे शृगार-परम्परा और महाकवि बिहारी—
डॉ० गणपतिचन्द्र गुप्त

१० कविवर बिहारीलाल और उनका युग—डॉ० रणधीर सिन्हा

११ बिहारी सजीवनी भूमिका और भाष्य—श्री पद्मसिह शर्मा

१२ बिहारी और देव—ला० भगवानदीन

१३ बिहारी-बोधिनी—ला० भगवानदीन

१४ बिहारी रत्नाकर—श्री जगन्नाथदास 'रत्नाकर'

१५ बिहारी सतसई मे भारतीय इतिहास का दर्शन—श्री कालीप्रसाद खेतान

१६ हिन्दी नवरत्न—मिश्रबन्धु

१७ देव और बिहारी—श्री कृष्णबिहारी मिश्र

१८, बिहारी विहार—श्री अम्बिकादत्त व्यास

१९ हिन्दी-साहित्य का इतिहास—प० रामचन्द्र शुक्ल (स० २००८,उत्तर मध्य काल, प्रकरण २, पृ० २४६ से २५१ तक)

२० हिन्दी भाषा और साहित्य का विकास—प०.अयोध्यासिह उपाध्याय 'हरिऔध' (स० १९९१, द्वितीयखड, चौथा प्रकरण, पृ० ३४१ से ३५६ तक)

२१ हिन्दी-साहित्य—आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी (१६५२ ई०, रीतिकाल के लोकप्रिय कवियो की विशेषता, विहारी, पृ० ३२४ से ३३७ तक)

२२ हिन्दी-साहित्य का वृहत् इतिहास—स० डॉ० नगेन्द्र (स० २०१५, षष्ठ भाग, चतुर्थ खड, द्वितीय अध्याय, पृ० ५०८ से ५२८ तक)

२३ हिन्दी-साहित्य—बाबू श्यामसुन्दरदास

२४ हिन्दी-साहित्य का अतीत—प० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र (स० २०१७, द्वितीय खड, शृगार काल, विहारी, पृ० ५४८ से ५८२ तक)

२५ हिन्दी-काव्य और उसका सौन्दर्य—डॉ० ओम्प्रकाश (१६६४ ई०, शृगार काव्य, विहारीलाल, पृ० २२८ से २६२ तक)

इस संकलन के लेखक

परिशिष्ट २

१ स्व० पण्डित पद्मसिह शर्मा
२. स्व० श्री जगन्नाथ दास 'रत्नाकर'
३ श्री हरदयालु सिंह,—महमूदाबाद, सीतापुर (उत्तर प्रदेश)।
४ प० विश्वनाथप्रसाद मिश्र—प्रोफेसर तथा अध्यक्ष हिन्दी-विभाग, मगध विश्वविद्यालय, गया (विहार)।
५ डॉ० नगेन्द्र—प्रोफेसर तथा अध्यक्ष, हिन्दी-विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली।
६ डॉ० हरवशलाल शर्मा—प्रोफेसर तथा अध्यक्ष हिन्दी-विभाग, मुस्लिम विश्व-विद्यालय, अलीगढ (उ० प्र०)
७ डॉ० भगीरथ मिश्र—प्रोफेसर तथा अध्यक्ष हिन्दी-विभाग, सागर विश्व-विद्यालय, सागर (मध्यप्रदेश)।
८ डॉ० सावित्री सिन्हा—रीडर हिन्दी-विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली।
९ डॉ० विजयेन्द्र स्नातक—रीडर हिन्दी-विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली।
१० डॉ० सु० शकरराजू नायडू—रीडर तथा अध्यक्ष हिन्दी-विभाग, मद्रास विश्वविद्यालय, मद्रास।
११ डॉ० भगवत्स्वरूप मिश्र—अध्यक्ष हिन्दी-विभाग, आगरा कालेज, आगरा।
१२ डॉ० गणपतिचन्द्र गुप्त—प्राध्यापक हिन्दी-विभाग, पजाब विश्वविद्यालय, चडीगढ।
१३ डॉ० रामरतन भटनागर—प्राध्यापक हिन्दी-विभाग, सागर विश्वविद्यालय, सागर (म० प्र०)।
१४ डॉ० बच्चनसिह—प्राध्यापक हिन्दी-विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी (उ० प्र०)।
१५ डॉ० रामसागर त्रिपाठी—अध्यक्ष हिन्दी-विभाग, श्यामलाल कालेज, शाहदरा, दिल्ली।

१६ डॉ० किरण कुमारी गुप्ता—प्राध्यापिका हिन्दी-विभाग, आगरा कालेज, आगरा।

१७ श्री विश्वम्भर 'मानव'—८८८, कल्याणीदेवी, इलाहाबाद-३ ।

१८ डॉ० रणधीर सिन्हा—प्राध्यापक हिन्दी-विभाग, डिग्री कालेज, मोतीबाग, नई दिल्ली।

१६. डॉ० रमेशचन्द्र मिश्र—प्राध्यापक हिन्दी-विभाग, रामलाल आनन्द कालेज, ग्रीन पार्क एक्सटेन्शन, नई दिल्ली।

२० डॉ० ओम्प्रकाश—रीडर हिन्दी-विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली।